आलोचना : प्रकृति और परिवेश

डॉ० तारकनाथ बाली

आलोचना : प्रकृति और परिवेश

डा० तारकनाथ बाली

आलोचना : प्रकृति और परिवेश

प्रिय टुन्नू,

वह शाम
जब तुम्हारा प्रिय गुलाब अन्तिम बार
मुसकराया था
ज़िन्दगी पर छा गयी है
तब से
धरती माँ ने वे फूल नहीं उपजाये
जो तुम्हारे प्रिय हों !

दो शब्द

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में तथ्य-संकलन का कार्य विशेष मात्रा में हो चुका है। पुराने तथ्यों की कुछ नयी व्याख्याएँ भी हुई हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि नयी विचार-भूमियों की खोज की जाय। इसी दिशा में यह एक विनम्र प्रयास है।

अनुक्रम

परिप्रेक्ष्य

साहित्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है जो विशिष्ट रूप में सम्पन्न होता है। साहित्य, सामाजिकता और रूप तीनों का प्रत्यक्ष केन्द्र व्यक्तित्व प्रतीत होता है। इसलिए बुनियादी सवाल है व्यक्तित्व क्या है ?

व्यक्तित्व सामाजिकता का विरोधी तत्त्व नहीं है। वह सामाजिकता का पूरक भी नहीं है। वह तो सामाजिकता का अंश है। समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

समाज जीता है, मगर उसके जीने का कोई सीधा-सरल रूप नहीं होता। समाज बोलता है, मगर उसकी बोली आसानी से समझ में नहीं आती। कारण यह है कि उसकी आवाज़ प्रधान रूप से कर्मों की आवाज़ है, घटनाओं की आवाज़ है। और इस आवाज़ को हर कोई समझ नहीं सकता। वही व्यक्ति उसकी आवाज़ को समझ सकता है जो अपने-आपको उससे मिला देता है, जो अपने व्यक्तित्व को समाज के प्रति समर्पित कर देता है। इसलिए हर समाज-कर्मी का व्यक्तित्व समर्पित व्यक्तित्व होता है। समाज-कर्मी होने के नाते कलाकार का व्यक्तित्व भी समर्पित व्यक्तित्व होता है।

समाज एक जटिल और विराट संस्था है। उसमें अनेक विचार-दृष्टियाँ और जीवन-रीतियाँ होती हैं। जीवन की इन दृष्टियों और रीतियों में भिन्नता भी दिखायी देती है और विरोध भी। इसलिए प्रायः एक व्यक्ति पूरे समाज के प्रति व्यक्तित्व का समर्पण नहीं करता। उसके एक अंश के प्रति ही उसका व्यक्तित्व समर्पित होता है। और फिर समाज का वह अंश उसके व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता है, रूप धारण करता है। जो व्यक्ति जितनी व्यापक सामाजिकता को रूप प्रदान करता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही गौरवशाली और स्थायी होता है।

मानव-स्वभाव के दो अंश हैं। एक प्राकृतिक और निजी अंश है, दूसरा सामाजिक अंश है। सेक्स आदि प्राकृतिक भूखों की समष्टि ही निजी अंश है। सामाजिक अंश में व्यक्ति का सारा सामाजिक व्यवहार—वह व्यवहार जो वह समाज के प्रति करता है तथा वह व्यवहार जिसके साथ सामाजिक दायित्व

जुड़ा हुआ है, सम्मिलित है। यहाँ देखना यह है कि मानव-स्वभाव के निजी अंश और सामाजिक अंश का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

वास्तव में व्यक्तित्व का निजी अंश और सामाजिक अंश दो स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं। दोनों सम्बद्ध हैं। दोनों की सम्बद्धता की व्यवस्था में ही व्यक्तित्व स्थित होता है। यह विश्लेषण व्यावहारिक सुविधा के लिए वैचारिक धरातल पर किया गया है।

सेक्स आदि प्राकृतिक भूखें निजी अंश के अन्तर्गत मानी गयी हैं। लेकिन क्या आज की जटिल सामाजिक व्यवस्था में रहने वाला व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि सेक्स की तृप्ति उसका बिलकुल निजी व्यापार है जो समाज से अछूता है ? यह स्पष्ट है कि एक नॉर्मल व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता। सेक्स की तृप्ति चाहे उन्मुक्त प्रणय सम्बन्ध द्वारा हो, चाहे विवाह द्वारा, दोनों ही परिस्थितियों में उसका एक सामाजिक पक्ष होता है। उन्मुक्त प्रेम के उदय के मूल में भी कुछ सामाजिक कारण होते हैं, उसके कुछ सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं और इस प्रकार यथार्थ में वह प्रेम उन्मुक्त नहीं हुआ करता। जहाँ तक विवाह का सवाल है, वह तो एक सामाजिक संस्था है जिसके कई पक्ष और आयाम हैं और इस प्रकार विवाह सेक्स की तृप्ति करता हुआ भी एक सामाजिक कर्म है।

पेट भरने की समस्या को ही लीजिए। भूख एक प्राकृतिक वृत्ति है। लेकिन भूख को दूर करने के लिए आज का मनुष्य जो कार्य करता है वह सामाजिक कार्य है। वह चोरी के द्वारा भी पेट भर सकता है और किसी काम-धन्धे के द्वारा भी। ये दोनों ही कर्म भूख को तृप्त करते हैं मगर उनका अपना एक सामाजिक रूप है। चोरी या नौकरी दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले व्यापार हैं और फिर प्रत्येक व्यापार के अपने सम्बन्ध हैं जो उसको अन्य सामाजिक संस्थाओं, आवश्यकताओं या सीमाओं के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार एक मूल प्राकृतिक भूख—पेट की भूख को तृप्त करने के लिए जो कर्म किया जाता है वह समस्त सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है, उसे रूप देता है और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

उसी प्रकार व्यक्ति के छोटे से छोटे कार्य की मीमांसा करके यह देखा जा सकता है कि उसके वे सभी कर्म जो निजी प्राकृतिक भूखों या आवश्यकताओं की तृप्ति या पूर्ति करते हैं, वास्तव में व्यक्त रूप में सामाजिक कर्म बन जाते हैं।

व्यक्ति के स्वभाव का सामाजिक अंश दरअसल उसके निजी अंश का ही विकसित रूप है। यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि निजी अंश से सामाजिक अंश का जो विकास होता है, उसका स्वरूप क्या है, उसका आधार क्या है ?

इस विकास की कहानी वास्तव में मानव-सभ्यता के विकास की ही

कहानी है। आदिम युग में जब मनुष्य पशुओं के समान रहता होगा तो वह केवल निजी-प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करता रहा होगा। जैसे-जैसे मनुष्य में विवेक का उदय हुआ, संगठन का विकास हुआ, उत्पादन के नये साधनों का ज्ञान और उनकी व्यवस्था हुई, वैसे ही वैसे उसके निजी अंश का सामाजीकरण होता चला गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस विकास का रूप मानव सभ्यता की अवस्था के अनुरूप ही होगा।

साहित्य और कला का उदय तब हुआ जब मानव सभ्यता काफ़ी विकास कर चुकी थी। इसीलिए कला का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जीवन की मूल भूखों के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। कला का जन्म उस समय हुआ जब मूल मानव-वृत्तियों के ऊपर विवेक का उदय हो चुका था। इतना ही नहीं, विवेक के माध्यम में विविध वृत्तियों का संयोग हो रहा था और मानव पशुजीवन के स्तर से ऊपर उठ चुका था। जिन्हें हम साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं, आज उनका मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया जा रहा है और यह माना जा रहा है कि स्थायी भाव वास्तव में कोई इकाई नहीं है वरन् अनेक मूल मानव-वृत्तियों की संसृष्टि है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि चेतना के विकास की प्रक्रिया का एक आयाम है विविध वृत्तियों के सम्मिलित रूप का उद्भव जिन्हें रति आदि भाव के रूप में स्वीकार किया गया। यही वह अवस्था है जब काव्य आदि कलाओं के आरम्भिक—आदिम नहीं—रूप का विकास हुआ होगा।

पहले यह दिखाने की कोशिश की जा चुकी है कि मानव के उन कर्मों का भी सामाजिक आयाम होता है जिनका उद्देश्य सेक्स आदि मूल वृत्तियों की तुष्टि है। यह भी स्पष्ट है कि जब मानव सभ्यता के उस स्तर तक पहुँचा होगा जबकि स्थायी भावों की सजगता उत्पन्न हुई होगी तो स्थायी भावों की तृप्ति का मार्ग भी सामाजिकता के बीच ही अग्रसर होता रहा होगा। आज तक रति आदि स्थायी भावों की तृप्ति निजी होते हुए भी सामाजिकता की व्यवस्था या अव्यवस्था को छूती है। उसका समाज पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। कहीं वह हल्का होता है, कहीं गहरा। यह बात तृप्ति के कर्म के विविध आयामों और सन्दर्भों पर निर्भर करती है।

अब देखना यह है कि जब स्थायी भावों आदि की अभिव्यक्ति साहित्य के रूप में होती है तो उसके सन्दर्भ का स्वरूप क्या होता है। आज की आलोचना की स्थिति देखते हुए स्पष्ट है कि एक धारा इस सन्दर्भ की सामाजिकता को स्वीकार करती है, और दूसरी धारा उस सामाजिकता को बिलकुल अस्वीकार करती है। बात सिर्फ़ यहीं तक नहीं है। नयी विचारधारा का एक रूप तो साहित्य के प्रसंग में स्थायी भाव, आनन्द, रस आदि की सत्ता को ही अस्वीकार करता है। इसलिए इस प्रश्न पर सावधानी से विचार होना चाहिए।

पहले यह कहा जा चुका है कि व्यक्ति के वे सब कर्म जो निजी कहे या समझे जाते हैं वास्तव में सामाजिकता से अछूते नहीं होते । सच तो यह है कि निजीपन कर्म की प्रक्रिया में पड़कर सामाजिकता की लपेट में आ जाता है । इसलिए निजीपन और सामाजिकता को जोड़ने वाली कड़ी है कर्म । कर्म ही वह माध्यम है जिसमें निजता और सामाजिकता का मिलन-बिन्दु स्थित है । सामाजिकता कर्म के अवगुंठन में लिपटा हुआ स्वार्थ ही है । दोनों में कोई विरोध नहीं हैं । जो स्वार्थ और सामाजिकता दोनों से तटस्थ हो जाता है, या जो दोनों में से किसी एक के चक्कर में पड़कर घूमने लगता है, उसे दोनों अलग-अलग दिखायी देते हैं, या दोनों में विरोध दिखायी देता है, या दोनों में से सिर्फ़ एक ही दिखायी देता है ।

इस सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति का भी प्रचार हो रहा है । भाव और विचार दोनों को दो विरोधी तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया जाता है । इनका अलगाव तात्त्विक तथा विरोध स्वाभाविक समझा जाता है । इसलिए या तो रचना भाववादी मानी जाती है या विचारवादी या बौद्धिक । आज के बौद्धिक युग में भाववादी काव्यधारा का कोई महत्त्व नहीं माना जाता और उसे मरा हुआ मान लिया जाता है । लेकिन यह भी एक भ्रान्त धारणा है । यह भ्रान्ति केवल काव्य या आलोचना के क्षेत्र की नहीं है वरन् और भी गहरी है । उस गहराई तक जाने की कोशिश नहीं की जाती । नतीजा यह होता है कि न तो समस्या को ठीक से समझा जाता है और न ही समाधान को ठोस आधार पर रखा जा सकता है । और आलोचना एक संगत व्यवस्था न बनकर उक्तियों तथा वक्तव्यों का जमघट बन जाती है । आज की अधिकांश आलोचना वक्तव्यों का जमघट ही है । और उसका एक मुख्य कारण यह है कि आलोचना को जीवन से अलग करके रखा जाता है ।

पश्चिम में आधुनिक काल में जो दर्शन का विकास हुआ उसमें पहली धारा बुद्धिवादी धारा थी और उस धारा के दार्शनिक बुद्धिवादी माने जाते हैं । उसकी प्रतिक्रिया हुई और बर्गसां आदि ने बुद्धिवाद का विरोध किया और भाववाद की प्रतिष्ठा की । इस ऐतिहासिक सन्दर्भ के क्रम में पड़कर बुद्धि और हृदय, विचार और भाव में द्वैत तथा विरोध माना जाने लगा ।

सचाई तो यह है कि भाव और विचार दो अलग-अलग तत्त्व हैं ही नहीं । वे कोई हवाई सताएँ नहीं हैं । वे तो एक समग्र परिस्थिति के लक्षण हैं, किसी व्यापार या घटना के अविभाज्य अंग हैं । बिना उस समग्र परिस्थिति के न तो भाव की कोई सत्ता है और न ही विचार की । दोनो संयुक्त रूप से परिस्थिति को विशिष्ट करते हैं । यह तो हो सकता है कि कोई परिस्थिति भाव-प्रधान हो और कोई विचार-प्रधान । लेकिन ऐसा तो सम्भव ही नहीं

है कि किसी परिस्थिति में विशुद्ध भाव हो और किसी में विशुद्ध विचार। या कोई परिस्थिति पूर्णतः भावशून्य हो और कोई पूर्णतः विचारशून्य। बिना विचार के भाव अन्धा है। बिना भाव के विचार अपाहिज है। दोनों ही स्थितियाँ आकाश-कुसुम के समान हैं और नॉर्मल जीवन में दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

मूल बात तो यह है कि चाहे भाव हो चाहे विचार दोनों का आधार परिस्थिति होती है। वे परिस्थिति से भिन्न कोई तथ्य नहीं हैं। इसलिए भाव तथा विचार पक्ष के सम्बन्ध पर विचार करने के लिए हमें उनके आधार के सन्दर्भ का ध्यान रखना चाहिए। इसी सन्दर्भ में उन पर विचार हो सकता है। अगर सन्दर्भ से कटकर विचार किया जायेगा तो भ्रान्त समस्याएँ तथा और भी भ्रान्त समाधान सामने आने लगेंगे। इसलिए भाव और विचार के स्वरूप तथा आयामों पर विचार करने के लिए गहरे विवेचन की आवश्यकता है। और इस सूक्ष्म विवेचन का संगत आधार है परिस्थिति जो कि भाव या विचार को रूप देती है।

इस विवेचन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि दर्शन में तो तर्क की प्रधानता होती है। वहाँ भाव के लिए कहाँ अवकाश है? जो व्यक्ति भारतीय दार्शनिक परम्परा को समझता है उसके लिए इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन नहीं होगा। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

यह तो सभी जानते हैं कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद दर्शन का वह रूप है जिसमें ज्ञान ही प्रमुख है। यहाँ तक कि उसमें भक्ति को भी माया ही माना गया है। सवाल उठता है कि क्या अद्वैतवाद सचमुच भावशून्य है? वास्तव में ऐसा नहीं है। भाव का होना ज़रूरी है। बिना भाव के अद्वैत का ज्ञानमात्र व्यर्थ है। यह तो वाक्य-ज्ञान है और वाक्य-ज्ञान हर कोई प्राप्त कर सकता है। "वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।" इसीलिए शंकराचार्य ने भी कहा है कि जब ब्रह्म ज्ञान का अनुभव में अवसान होगा, तभी मोक्ष की सिद्धि होगी—अनुभवावसानंत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य। अब विचार कीजिए कि यह अनुभव क्या है? यह अनुभव तभी होगा जब कि विचार का ध्यान किया जायेगा, उस पर निष्ठा होगी, उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध होगा, जब उसे अनुभूति का या भाव का विषय बनाया जायेगा। बिना अनुभूति के अद्वैत ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए विचार अपने अत्यन्त शुष्क और नीरस रूप में भी तभी सार्थक हो सकता है जब उसके प्रति रागात्मक समर्पण होगा। बिना इस राग बन्ध के विचार व्यर्थ है। इसलिए विचार तभी सिद्ध होगा जब उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जायेगा। यही विचार का भावात्मक सम्बन्ध है।

सभी भाव या तो आसक्तिमूलक होते हैं या विरक्तिमूलक। जहाँ आसक्ति

या विरक्ति का सम्बन्ध होगा, वहाँ भाव की स्थिति मानी जायेगी। एक बात तो स्पष्ट है। आसक्ति या विरक्ति कोई विचार तो है नहीं। वे तो विचार के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएँ जो उसकी वृत्तियों को जगाती हैं और जैसी वृत्तियाँ होती हैं, उनके अनुरूप ही विचार में आसक्ति या विचार से विरक्ति होती है। आसक्ति या विरक्ति ही विचार के भावात्मक सम्बन्ध हैं जो उसे व्यक्ति की चेतना के दायरे से बाँधते हैं।

एक ऐसी स्थिति की सत्ता भी मानी जाती है जो आसक्ति और विरक्ति के स्तर से ऊँची है। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की स्थिति ऐसी स्थिति कही जा सकती है जहाँ दुःख में मन उद्विग्न नहीं होता, सुख में स्पृहा नहीं होती और जो स्थिति राग, भय और क्रोध से अतीत है। लेकिन यह स्थिति भी अनुभूति-शून्य नहीं है। यहाँ भी आसक्ति है। यह आसक्ति उस उच्च स्थिति के प्रति है जो स्थितप्रज्ञ की अवस्था है और जहाँ ईश्वर के प्रति निष्ठा और श्रद्धा है। विचार तभी सार्थक हो सकता है जब कि उसके प्रति कोई रागात्मक सम्बन्ध हो।

पश्चिम का दर्शन प्रायः बौद्धिक खिलवाड़ के रूप में रहा। वह प्रायः साधना से शून्य हुआ करता था। इसलिए साधना के अभाव ने विचार और भाव के द्वैत और संघर्ष के लिए अनुकूल भूमि उपस्थित कर दी।

इसी प्रकार विशुद्ध भाव की भी कोई स्थिति नहीं हो सकती। भाव किसी परिस्थिति में उदित होता है और भाव की सत्ता परिस्थिति की संगति पर आधारित होती है। परिस्थिति का एक रूप होता है, एक योजना होती है, एक व्यवस्था होती है जिसमें संगति होती है, जो विचार के अनुकूल होती है, जो बुद्धि के लिए अन्वित होती है। रति, क्रोध आदि भाव वहीं उदित होते हैं जहाँ एक क्रमबद्ध संगत परिस्थिति है। यदि इस परिस्थिति में संगति नहीं है यदि वह विचार को अखरती है तो वहाँ भाव की स्थिति सम्भव नहीं है। जब काव्यशास्त्र में भाव को या इसको परिस्थिति से शून्य करके देखने की प्रवृत्ति हुई वहीं से वह भ्रान्ति आरम्भ हुई जो आज भाव और विचार के संघर्ष के रूप में दिखायी देती है। एक बार जब परिस्थिति का धरातल हटा दिया गया, तो भाव बेपेंदे का हो गया। इस बेपेंदे के भाव पर आक्षेपों का होना स्वाभाविक था, उसका विरोध भी स्वाभाविक था और उसकी अस्वीकृति भी अनिवार्य थी।

बेपेंदे के भाव की एक दूसरी प्रतिक्रिया भी हुई जो पश्चिम में दिखायी देती है। विशुद्ध भाव की कविता का आधार ऐसा ही भाव है जिसका अपना तला गायब है।

कवि के व्यक्तितत्व में भी भाव और विचार इसी संपृक्त रूप में उदित होते हैं। वे एक ओर तो परिस्थिति से संपृक्त होते हैं, दूसरी ओर परस्पर

सम्बद्ध होते हैं। न उन्हें परिस्थिति से अलग करके देखा जा सकता है और न ही उन्हें एक-दूसरे से बिलकुल अलग करके देखा जा सकता है।

एक दृष्टि से कवि का व्यक्तित्व ही काव्य का आधार प्रतीत होता है। इसलिए काव्य में भाव और विचार दोनों संपृक्त रूप से ही आते हैं। काव्य वास्तव में विशुद्ध भाव या विशुद्ध विचार का वर्णन नहीं करता। वह तो एक परिस्थिति को रूपायित करता है। भाव और विचार इसी परिस्थिति से संपृक्त रहते हैं। इसलिए काव्य का आधार परिस्थिति है, भाव या विचार नहीं। भाव या विचार दोनों में से किसी एक पर बल देने का मतलब यह होगा कि काव्य में परिस्थिति के महत्त्व की अवहेलना होगी। मगर यह तो एक तथ्य है कि काव्य का आधार परिस्थिति है। यह एक सत्य और मूल्य भी है। क्योंकि विना इसकी सिद्धि के काव्य का रूप ही नहीं बनता। जब-जब काव्य में परिस्थिति के स्थान पर भाव या विचार को महत्त्व दिया गया, तब-तब भ्रान्तियाँ पैदा हुईं और चिन्तन पथभ्रष्ट हुआ। विचार और भाव का मूल परिस्थिति है और इसलिए जैसे ही हम काव्य के सन्दर्भ में भाव या विचार की चर्चा करते हैं, हम उस परिस्थिति को भी स्वीकार करते हैं जो उनका आधार है। आवश्यकता इस बात की है कि इस परिस्थिति को पूरी सजगता और गहराई के साथ स्वीकार किया जाए, उसे समझा जाए और इस स्वीकृति तथा समझ के धरातल पर रखकर काव्य को देखा और परखा जाए।

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो 'काव्य का आधार व्यक्तित्व है' और काव्य का आधार परिस्थिति है। इन दोनों उक्तियों का अर्थ एक ही है। इनमें जो भेद दिखायी देता है उसका कारण यह है कि हम काव्य को दो दृष्टियों से देख रहे हैं। एक कवि के व्यक्तित्व की दृष्टि से, द्वितीय प्रकृति की सत्ता की दृष्टि से। कवि की साधना के माध्यम में व्यक्तित्व और प्रकृति दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि कवि कर्म के प्रवाह में दोनों एक ही होते हैं।

मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण दो तत्त्वों से होता है—एक दाय, द्वितीय वातावरण। दाय के बारे में बुनियादी विरोध भी है क्योंकि कुछ विचारक इस बात को बिलकुल स्वीकार नहीं करते कि व्यक्ति को जन्म से ही माता-पिता के कुछ संस्कार प्राप्त होते हैं। मगर एक बात स्पष्ट है। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ के लिए यह बात बुनियादी महत्त्व की है। क्योंकि उससे यह सिद्ध है कि व्यक्तित्व वातावरण—या जिसका दूसरा नाम सामाजिकता भी है—की एक कृति है। मगर व्यक्तित्व एक जड़ कृति नहीं है। वह तो एक चेतन, संवेदनशील, गत्यात्मक कृति है। इस चेतनता, संवेदनशीलता और गत्यात्मकता में ही

कृतिरूप उस व्यक्तित्व का कृतित्व रूपायित होता है। कला व्यक्तित्व का ही कृतित्व है। व्यक्तित्व वातावरण की कृति है और कला व्यक्तित्व की कृति है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कला कृति की कृति है। एक स्तर पर वातावरण कृतिकार है और व्यक्तित्व कृति है, दूसरे स्तर पर व्यक्तित्व कृतिकार है और कला कृति है।

इस प्रकार कृतित्व के भी दो रूप हुए।

कृतित्व का एक रूप तो वह है जो वातावरण या सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच का व्यापार है और दूसरा रूप वह है जो व्यक्तित्व और कला के बीच का व्यापार है। एक का धरातल सामाजिकता है और फल व्यक्तित्व है, दूसरे का धरातल व्यक्तित्व है और फल कला है।

अब सवाल उठता है व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों की प्रकृति का। क्या इन दोनों रूपों की प्रकृति समान है ?

आज तक चिन्तन के क्षेत्र में जो विकास हुआ है उसे देखते हुए इस प्रश्न का पूरा-पूरा उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

पहली बात तो यह है कि कृतित्व के इन दोनों रूपों के आरम्भ और अन्त, आधार और फल का अन्तर है। इसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

दूसरी बात यह है कि सामाजिकता, व्यक्तित्व और कला तीनों ही चेतन सत्ताएँ हैं। वह व्यापार जो सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच संचरण करता है वह भी दो चेतन सत्ताओं को मिलाता है और वह व्यापार जो व्यक्तित्व और कला के छोरों को जोड़ता है वह भी दो चेतन निर्मितियों के बीच कार्यशील होता है। इसलिए कवित्व के ये दोनों ही रूप चेतन व्यापार हैं।

यह समझ लेना चाहिए कि चेतन से क्या अभिप्राय है। जो गत्यात्मक है, जो संवेदनशील और प्रभावशाली है, वह चेतन है। चेतन सिर्फ़ अपने भीतर ही केन्द्रित नहीं रहता। वह स्थाणु नहीं है। जो प्रभाव डालने की शक्ति रखता है वह चेतन कहा जाएगा। जिसकी सत्ता अपने भीतर ही सीमित है, जो बाहर की ओर अग्रसर नहीं होता, जो किसी दूसरे का स्पर्श नहीं करता, वह चेतन नहीं है। इस दृष्टि से सारे प्राकृतिक रूप और व्यापार भी चेतन हैं क्योंकि वे गत्यात्मक हैं और प्रभावशाली हैं। इसी दृष्टि से वातावरण या सामाजिकता को भी चेतन कहा गया है क्योंकि कला के क्षेत्र में वह गत्यात्मक है, प्रभावशाली है और संवेदनशील है।

पुराने चिन्तन में जड़ और चेतन का जो भेद है वह इस प्रसंग में मान्य नहीं है। क्योंकि व्यवहार में व्यक्ति की चेतना पदार्थ को भी, जो पुरानी शब्दावली में जड़ कहा जाता था, चेतन बना देता है। इसलिए कलाकार

अपनी कृति में जिन परिस्थितियों या तथ्यों का चित्रण करता है, वे जड़ नहीं होते। कलाकार वास्तव में तथ्य का नहीं, तथ्य की भावना या प्रतीति का चित्रण करता है। यहाँ बुनियादी तत्त्व है 'प्रतीति'। प्रतीति तथ्य का चेतन रूप है, तथ्य का वह रूप है जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व का अंश समाहित है। व्यक्ति के चेतन अंश और तथ्य के सम्मिलित सन्तुलन का नाम ही 'प्रतीति' है। इस सम्मिलित सन्तुलन में द्वैत नहीं है। प्रतीति तो एक इकाई है। तथ्य की वस्तुपरक सत्ता का ज्ञान और उस ज्ञान की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया, दोनों मिलकर जिस इकाई की निर्मिति करते हैं वही तथ्य की प्रतीति है।

उदाहरण के लिए 'बीती विभावरी जाग री' में प्रसाद जी ने ऊषा का चित्रण नहीं किया। यह गीत जो ऊषा की प्रतीति की अभिव्यक्ति करता है, कवि ने ऊषा को एक विशिष्ट रूप में देखा है। ऊषा वैसे तो एक तथ्य है। एक परिस्थिति है। लेकिन कवि में इस तथ्य ने विशिष्ट प्रतिक्रिया जगायी। वह प्रतिक्रिया ऊषा तथ्य से सम्मिलित होकर एक विशिष्ट रूप या प्रतीति को जन्म देती है। यह प्रतीति 'ऊषा' नहीं वरन् 'ऊषा-नागरी' है जिसके साथ कवि की अनुभूतियाँ संपृक्त हैं। इसलिए इस गीत में हमें जो विद्यमान दिखायी देता है वह ऊषा नहीं, ऊषा की प्रतीति है, ऊषा की वह भावना है जो कवि की कृति है। इसीलिए यह भावना या प्रतीति एक अखण्ड, अविभाज्य सत्ता है और इसीलिए अलंकार काव्य का बहिरंग तत्त्व नहीं है। अलंकार्य और अलंकार का भेद काव्य की भ्रान्त धारणा पर आधारित है।

काव्य तथा कला में वर्णित प्रत्येक तथ्य या परिस्थिति का यथार्थ स्वरूप ऐसा ही होता है। वह तथ्य या परिस्थिति न होकर तथ्य या परिस्थिति की प्रतीति होती है। यह प्रतीति परिस्थिति और व्यक्तित्व की अखण्ड संसृष्टि है, अविभाज्य अटूट सत्ता है। इसलिए एक दृष्टि से जिसे परिस्थिति कहा जाता है, वही दूसरी दृष्टि से व्यक्तित्व है। यही काव्य का स्वभाव है।

काव्य के स्वभाव की दृष्टि से देखते हुए यह स्पष्ट है कि कवि-कर्म मूल में एक सामाजिक कर्म है। यदि केवल व्यक्तित्व के बिन्दु से चिन्तन आरम्भ किया जाये तो काव्य कवि की कृति है। प्रथम कृति व्यक्तित्व है। और यह एक सामाजिक कृति है यह मनोविज्ञान से सिद्ध है। इसलिए काव्य एक ऐसी कृति है जो सामाजिक कृति की सर्जना है। इसलिए उसमें सामाजिकता संस्कार रूप में ही विद्यमान होती है।

प्रत्येक व्यक्तित्व में सामाजिकता का तत्त्व होता है। इस सामाजिकता के तत्त्व के स्वरूप में भेद हो सकता है, विरोध भी हो सकता है, लेकिन किसी भी व्यक्तित्व में सामाजिकता का अभाव नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा कहता है, और आजकल कुछ कवि और लेखक भी ऐसा कहते हैं, तो वह काव्य

के स्वभाव को उसके मूल रूप में नहीं समझता, या समझने की कोशिश नहीं करता। जब तक काव्य और कलाएँ व्यक्तित्व पर आधारित हैं, तब तक उनमें सामाजिकता स्वाभाविक विशेषता के रूप में विद्यमान होगी।

यदि काव्य पर व्यक्तित्व और परिस्थिति के माध्यम से देखा जाये तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। काव्य में परिस्थिति का जड़ प्रतिपादन नहीं होता। उसमें तो परिस्थिति की भावना प्रतिपादित होती है और यह भावना व्यक्तित्व और सामाजिकता की संतुलित एकान्विति है। यह स्थिति ऐसी है जो काव्य में न तो सामाजिकता का निषेध करती है और न व्यक्तित्व का। जिस प्रकार सामाजिकता काव्य का स्वभाव है, उसी प्रकार निजता भी काव्य का स्वभाव है। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि काव्य का स्वभाव द्विविध है। काव्य का स्वभाव तो 'प्रतीति' है। और 'प्रतीति' इकाई है। इसलिए सामाजिकता और निजता दोनों का अटूट सम्मिलन या अविच्छिन्न सन्तुलन, यही काव्य का स्वभाव है।

काव्य के विवेचन के प्रसंग में हमें दो विरोधी-सी उक्तियाँ दिखायी देती हैं। पहली है 'काव्य में सामाजिकता होनी चाहिए', दूसरी है 'काव्य में व्यक्तित्व ही प्रधान तत्त्व होना चाहिए'। पहली उक्ति के अनुसार सामाजिकता काव्य का मूल्य है, दूसरी उक्ति के अनुसार व्यक्तित्व—समाज निरपेक्ष रूप में भी—काव्य का मूल्य है। वास्तव में ये दोनों ही पंक्तियाँ गलत हैं। दोनों ही मूल्य त्याज्य हैं।

असली और बुनियादी बात तो यह है कि सामाजिकता और व्यक्तित्व दोनों ही काव्य के तथ्य हैं, काव्य की स्वभावगत विशेषताएँ हैं। जो यह कहता है कि काव्य में सामाजिकता मूल्य है, या समाज-निरपेक्ष व्यक्तित्व मूल्य है, वह काव्य के स्वभाव को नहीं समझता। क्योंकि काव्य के स्वभाव को समझ लेने के बाद तो इन मूल्यों की चर्चा ही बेकार हो जाती है। यहाँ तो जो स्वभाव है, जो विद्यमान है, वही मूल्य भी है। काव्य के स्वभाव के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है। उसमें व्यक्तित्व और सामाजिकता दोनों का अभिन्न सामरस्य जन्म से ही सिद्ध रहता है।

जब से टी० एस० इलियट ने यह कहा है कि काव्य व्यक्तित्व से पलायन है, तब से इस सिद्धान्त की चर्चा हिन्दी में भी सुनायी पड़ने लगी है। विदेशों से प्रभाव ग्रहण करना गर्हित नहीं होता। लेकिन प्रभावित होने से पहले यह तो देख लेना चाहिए कि जो बात किसी विदेशी ने कही है वह संगत भी है या नहीं। यदि इस भावना से उक्त सिद्धान्त पर विचार किया जाता तो मालूम हो जाता कि यह असंगत है, सिर्फ़ शब्दों का खिलवाड़ है। आलोचना के नाम पर शब्दों का इस प्रकार का खिलवाड़ अकसर दिखायी देता है और सम्भवतः

सभी भाषाओं में होगा। जिस वाक्य में इलियट ने व्यक्तित्व से पलायन की बात कही है वहीं यह भी कहा है कि कविता "अनुभव और संवेदनों की अभिव्यक्ति का माध्यम है।" यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि काव्य किसके अनुभव और संवेदनों की अभिव्यक्ति का माध्यम है? वे अनुभव और संवेदन किसके हैं? यदि वे कवि के हैं तो फिर काव्य के माध्यम में व्यक्तित्व से पलायन तो नहीं हुआ! यह तो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहलाती है। और अगर वे अनुभव आदि कवि के नहीं हैं तो फिर किस के हो सकते हैं? आलोचक के? पाठक के? किसी के भी नहीं?

यह तो स्पष्ट है कि काव्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है। यह एक तथ्य का कथन है, किसी आदर्श की स्थापना नहीं। यह तो काव्य का स्वभाव भी है, और मूल्य भी। अब सवाल आता है काव्य के रूप का।

काव्य का एक विशिष्ट रूप है। जिस प्रकार व्यक्ति के अन्य सामाजिक कर्मों का अपना-अपना खास रूप हुआ करता है, उसी प्रकार काव्य का भी अपना विशेष रूप है। अकसर यह कहा जाता है कि यदि काव्य का उद्देश्य सामाजिक उन्नति है, तो फिर वह उपदेश बन जाता है। यह बात बिलकुल गलत है। अपने-अपने ढंग से सभी ज्ञान-साधनाएँ सामाजिक उन्नति में सहायक होती हैं। वनस्पतिशास्त्र भी यही करता है, भौतिक विज्ञान का भी यही उद्देश्य है और अर्थशास्त्र का भी यही आदर्श है। मगर क्या सामाजिक उन्नति का साधन होने के कारण ये सब विषय उपदेश बन जाते हैं?

इसी प्रकार अगर यह कहा जाये कि साहित्य से सामाजिक उन्नति होती है, या हो सकती है तो इससे साहित्य उपदेश नहीं बन जाता। जिस प्रकार अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि का अपना विशिष्ट रूप है, विशिष्ट पद्धति और व्यवस्था है उसी प्रकार काव्य की भी अपनी रीति है, अपनी पद्धति, व्यवस्था और रचना-प्रक्रिया है। जिस प्रकार व्यक्तित्व और सामाजिकता काव्य के स्वभाव की विशेषताएँ हैं उसी प्रकार उसका एक विशिष्ट रूप भी होता है। यह भी काव्य का सहज, स्वाभाविक लक्षण है। इससे किसी सूरत में इन्कार नहीं किया जा सकता। नाटक, कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी का अपना-अपना रूप है, अपना-अपना शिल्प है। इन सबके अपने-अपने नियम हैं जिनका सम्बन्ध पद-रचना, वस्तु-योजना, चरित्र, लय, छन्द, उद्देश्य आदि से है। ये बातें तो इतनी स्पष्ट हैं कि इन पर अधिक विचार करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार यह निर्णय किया जा सकता है कि कोई रचना अर्थशास्त्र की है या नहीं, उसी प्रकार यह भी निश्चय किया जा सकता है कि कोई रचना काव्य है या अकाव्य। इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी कठिनाई यह है कि काव्य की कई कोटियाँ मानी जाती हैं और

इसलिए यह निर्णय करना कठिन हो सकता है कि, कोई रचना उत्कृष्ट कोटि में आती है या नहीं। इस सम्बन्ध में पाठक या पाठक-आलोचक की रुचि का विशेष महत्त्व रहता है। रुचियों में बहुत अन्तर हो सकता है और होता है। यही कारण है कि कुछ लोग निर्णयात्मक आलोचना को कोई महत्त्व नहीं देते।

रूप के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात समझ लेनी चाहिए। आजकल यह दिखायी देता है कि रूप को सामग्री से अलग और उसके समकक्ष रखकर देखने की कोशिश की जाती है। रूप और सामग्री दोनों को अलग-अलग दो तत्त्व मान लिया जाता है और फिर यह कहा जाता है कि रूप ही सब कुछ है। यदि कोई इस कथन पर विचार करना चाहे तो संगत तथा वैज्ञानिक रीति तो यही है कि इसके आधार की परीक्षा की जाये। इसका आधार है रूप और सामग्री का द्वैत। इसलिए बुनियादी सवाल यह है : क्या रूप और सामग्री का द्वैत यथार्थ है ?

रूप और सामग्री के सम्बन्ध की समस्या बड़ी जटिल और विवादास्पद रही है। विविध दार्शनिकों ने इस पर विचार किया है और विविध उत्तर दिये हैं। यहाँ उन सभी मतों के परीक्षण का तो अवकाश नहीं है। इसलिए सिर्फ़ उतना विवेचन अपेक्षित है जितना प्रस्तुत प्रसंग के लिए उपयोगी है।

जब कभी काव्य के प्रसंग में रूप और सामग्री की समस्या उठायी जाती है तो प्रायः यह बिना विचारे स्वीकार कर लिया जाता है कि ये दोनों तत्त्व बिलकुल अलग-अलग और परस्पर निरपेक्ष हैं। इसीलिए काव्य में रूप और सामग्री के सम्बन्ध में जो सवाल और विवेचन किया जाता है वह प्रायः संगति के धरातल पर नहीं होता। जहाँ तक काव्य का सवाल है रूप और सामग्री दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं।

वास्तुकला या मूर्तिकला में रूप और सामग्री दोनों की सत्ता अलग-अलग रहती है। रूप एक परिकल्पना है, एक नक्शा है जो कलाकार के मस्तिष्क में पहले से विद्यमान रहता है और वह सामग्री को उस परिकल्पना या नक्शे के अनुरूप ढालता है। क्या यह बात काव्य के प्रसंग में स्वीकार की जा सकती है ?

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। प्रसाद के प्रसिद्ध गीत 'बीती विभावरी जाग री' पर विचार कीजिये। यह एक छन्द का गीत है और इसमें एक ही कल्पना है जिसमें कवि ने ऊषा को नागरी के रूप में देखा है। सामग्री की दृष्टि से यहाँ तीन तत्त्व माने जा सकते हैं—एक भाषा, दूसरा ऊषा का रूप, तीसरा नागरी का रूप। इसके अतिरिक्त इन तीनों की एक समन्वित अखण्ड योजना है जो एक विशिष्ट लय-यति आदि से युक्त एक छन्द गीत का रूप है। पहले सामग्री के सम्बन्ध पर विचार कीजिए। वैसे तो व्यवहार में भाषा, ऊषा और नागरी तीनों की स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं और अगर यहाँ

से विचार शुरू किया जायेगा तो सारी बात ही बिगड़ जायेगी। क्योंकि यह आरम्भ ही गलत होगा। बुनियादी बात यह है कि इन तीनों पर प्रस्तुत गीत के प्रसंग में ही विचार होना चाहिए। क्या इस गीत में ये तीनों अलग-अलग हैं ? स्पष्ट है ऐसा नहीं है। तीनों का अविच्छिन्न भाव से संपृक्त रूप ही गीत है। व्यवहार में, विश्लेषण में हम इन्हें अलग-अलग करके देख सकते हैं। मगर गीत के रूप में ये तीनों अटूट रूप से सम्बद्ध हैं। बिना सामग्री के इस अटूट सम्बन्ध के गीत का रूप ही नहीं बन सकता था। गीत का रूप वास्तव में सामग्री का यह अटूट सम्बन्ध ही है। इसलिए रूप का अर्थ हुआ अटूट सम्बन्ध। सामग्री कोई भी हो सकती है। मगर जब उसके रूप की बात की जायेगी तो इसका विषय वास्तव में सामग्री का सम्बन्ध ही होगा। रूप की सत्ता सामग्री के सम्बन्ध में ही है। सामग्री के पारस्परिक सम्बन्ध का परिणाम ही रूप है। सम्बन्ध के अतिरिक्त रूप की कोई सत्ता ही नहीं। इसलिए जब भी रूप पर विचार किया जायेगा तो वह वास्तव में दो बातों का ही विचार होगा—एक सामग्री का, द्वितीय सामग्री के पारस्परिक सम्बन्ध का। रूप सामग्री की ही एक योजना है, विषय की ही एक परिकल्पना है। इसलिए जब भी रूप की विशेषताओं का, उसके आस्वाद, प्रभाव या उसकी प्रतिक्रिया का विवेचन किया जायेगा तो वह सामग्री और उसके पारस्परिक सम्बन्धों का ही विवेचन होगा। सामग्री और सम्बन्धों के विवेचन के उपरान्त कुछ शेष रहता ही नहीं, कुछ बचता ही नहीं। इसलिए जो रूप को सामग्री से विच्छिन्न करके देखते हैं, वे इस विषय को उसकी सूक्ष्मता में समझने का प्रयास नहीं करते।

बच्चों का जो ब्लाक बनाने का खेल है, उससे भी यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है। विविध ब्लाक अगर एक तरह से सम्बद्ध करके देखे जायें तो एक रूप बनता है, उन्हीं ब्लाकों को भिन्न प्रकार के सम्बन्ध में रखा जाये तो दूसरा रूप बनता है। दोनों ही स्थितियों में सामग्री तो कुछ ब्लाक ही हैं। उनकी योजना से, उनको विविध प्रकार के सम्बन्धों में जोड़ने से विविध रूप बन जाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण स्थूल सामग्री का है जिसे तोड़कर अलग किया जा सकता है और फिर दोबारा जोड़ा जा सकता है। कवि-कर्म एक सूक्ष्म मानसिक क्रिया है। इसलिए इसमें यह सुविधा नहीं हो सकती कि एक रचना की सामग्री को तोड़कर उसे नये सम्बन्धों में बाँध दिया जाये। इसलिए रूप को समझाने के लिए जो स्थूल उदाहरण दिये जाते हैं उनकी आंशिक उपयोगिता ही समझनी चाहिए। मगर यह आंशिक उपयोगिता भी बहुत काम की है।

ऊपर जो सामग्री का विवेचन किया गया है उसके बारे में एक अन्य सवाल पैदा हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि कविता के प्रसंग में भाषा

को सामग्री में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पर विचार करने से एक अन्य समस्या पर भी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि कवि का दायित्व सिर्फ़ शब्द के प्रति है और बस। यह जो शब्दवादी सिद्धान्त है, उसे भी संगत रूप में समझना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि शब्द केवल अक्षरों की संसृष्टि ही नहीं है, वरन् उसका अर्थ भी होता है। काव्य में केवल शब्दों का ही व्यवहार नहीं होता, वरन् सार्थक शब्दों का व्यवहार होता है। यदि कोई अर्थ को शब्द में ही समाहित करके देखता है और शब्द का प्रयोग समाहित अर्थ के लिए भी करता है, तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। चाहे कोई शब्द कहे, चाहे सार्थक शब्द कहे, चाहे शब्द और अर्थ कहे, बात एक ही है। लेकिन अगर कोई अर्थ-निरपेक्ष शब्द की बात करता है या शब्द और अर्थ दोनों को अलग-अलग मानता है तो ये दोनों ही मान्यताएँ भ्रान्त हैं। क्योंकि अर्थ-निरपेक्ष शब्द तो हो ही नहीं सकता और न ही शब्द और अर्थ दो अलग-अलग तत्त्व हैं। जो ध्वनियों के समूह को ही शब्द मानता है, उसके लिए पशुओं और मनुष्यों के शब्दों या भाषाओं में अन्तर करने का कोई आधार या कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शब्द ध्वनियों का ऐसा समूह है जो सार्थक है। इसलिए शब्द का अर्थ यहाँ सार्थक शब्द ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि कवि का दायित्व केवल शब्द के प्रति है, वह इससे इन्कार नहीं करता कि, कवि का दायित्व अर्थ के प्रति भी है। क्योंकि बिना अर्थ के शब्द की कोई सत्ता ही नहीं। अर्थ के प्रति कवि का दायित्व स्वीकार करने से अनेक ऐसी समस्याएँ निराधार हो जाती हैं जो एक अजीब असंगत गम्भीरता का विषय बनी हुई हैं।

शब्द के महत्त्व वाली बात कोई नयी बात नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है—"एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति।" एक सुप्रयुक्त और सम्यग्ज्ञात शब्द स्वर्ग तथा लोक में कामधेनु ही है। शब्द निरपेक्ष भाव से कोई मानी नहीं रखता। जब उसका सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग होता है तभी सिद्धि मिलती है। इसलिए केवल शब्द-साधना निरर्थक है। वास्तविक शब्द-साधना का अर्थ है शब्द के सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग की साधना। ज्ञान और प्रयोग के सम्बन्धों से हटाकर शब्द को देखना बिलकुल असंगत है।

इसलिए जब यह कहा जाता है कि कवि-कर्म का रूप शब्द-साधना है, तो उसका सही और स्वीकार्य भाव यही है कि कवि-कर्म के दो आयाम हैं—एक शब्द का सम्यक् ज्ञान, दूसरा उसका सम्यक् प्रयोग। ज्ञान के महत्त्व का अर्थ, अर्थ का महत्त्व ही है क्योंकि शब्द का सम्यक् ज्ञान उसकी अर्थ-शक्ति का ही ज्ञान है। यहाँ मूल सवाल है 'सम्यक्' का क्या अर्थ है?

जहाँ तक ज्ञान का सवाल है, 'सम्यक्' का अर्थ समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। क्योंकि व्याकरण, कोष आदि के आधार पर शब्द का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कवि-कर्म के अन्तर्गत सम्यक् का अर्थ बहुत विस्तृत हो जाता है क्योंकि यहाँ अभिधा ही नहीं, लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग भी होता है। इसलिए कवि-कर्म की दृष्टि से सम्यक् ज्ञान पूर्णतः वस्तु-परक नहीं है, वह व्यक्तिपरक भी है। व्यक्तिपरक होने का अर्थ यह है कि कवि की भावना और शक्ति के स्पर्श से शब्द अर्थ का साक्षात संकेत ही नहीं कराता, अर्थ को ध्वनित भी करता है। यहाँ हम शब्द के दूसरे आयाम-सम्यक् प्रयोग पर आ जाते हैं। सम्यक् प्रयोग को समझने के लिए एक ओर कवि की शक्ति के धरातल को स्वीकार करना आवश्यक है और दूसरी ओर पाठक की प्रतिक्रिया पर ध्यान देना भी ज़रूरी है। कुछ तो प्रयोग के शास्त्रीय नियम हैं। लेकिन कवि और पाठक की सभाओं की मर्यादा की स्वीकृति से सम्यक् प्रयोग के अर्थ को समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि उसका दायित्व केवल शब्द के प्रति है। सच तो यह है कि लेखक का दायित्व शब्द और अर्थ दोनों के प्रति है, और तुल्य रूप से है। जो दोनों में से किसी एक को प्रधान मानता है वह इस भ्रम का शिकार है कि शब्द और अर्थ दो सत्ताएँ हैं।

भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य माना है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों सहित रूप में, तुल्य रूप में आते हैं। इसलिए भामह का काव्य-लक्षण एकमात्र आदर्श और ग्राह्य काव्य-लक्षण है। पंडितराज ने जो शब्द और अर्थ दोनों की स्वीकृति का खण्डन किया है वह संगत नहीं है। इस असंगति का कारण यह है कि वे शब्द और अर्थ को तात्त्विक रूप से भिन्न सत्ताएँ मानकर चलते हैं। यह स्थिति तर्क-सम्मत नहीं है। उनके तर्कों का आधार भी शब्दों का प्रयोग है, शब्दों का सम्यक् प्रयोग नहीं। इसलिए सामान्य व्यक्ति की सामान्य उक्तियों के आधार पर उन्होंने अपने विशिष्ट मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। सामान्य शब्द-प्रयोग के आधार पर भी तर्कशास्त्र का एक रूप आधारित है। उसकी मूल असंगति भी यही है कि वह अपना दायित्व केवल शब्द के प्रति मानता है।

जब कवियों ने यह कहा कि उनका दायित्व शब्द के प्रति है तो कुछ कवियों ने जो काव्य के बारे में टिप्पणियाँ लिखी हैं उन्हें और तथाकथित आलोचकों के लेखों को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि वे भी अपना दायित्व केवल शब्द के प्रति, अर्थ-निरपेक्ष शब्द के प्रति मानते हैं।

शब्दों के प्रयोग में असावधानी एक ऐसा दोष है जो आज के हिन्दी के लेखों में व्यापक रूप से पाया जाता है। सुन्दर, श्रेष्ठ, संवेदनशील, उत्कृष्ट,

महान, गौरवशाली, अर्थ की लय आदि ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग प्रायः बड़ी असावधानी के साथ किया जाता है, बिना सोचे-समझे किया जाता है। उदाहरण के लिए 'श्रेष्ठ' शब्द को ही लीजिए। 'रामचरितमानस' भी 'श्रेष्ठ' काव्य है, 'सूरसागर' भी 'श्रेष्ठ' काव्य है और 'कामायनी' भी 'श्रेष्ठ' काव्य है। लेकिन क्या तीनों का श्रेष्ठ एक ही है ? क्या तीनों में कोई अन्तर नहीं ? स्पष्ट है कि तीनों के 'श्रेष्ठ' में बहुत अन्तर है। यही बात सभी 'मूल्यवाची' शब्दों के प्रयोग के बारे में है। इसलिए उचित यही है कि लेखक मूल्यवाची शब्दों की व्याख्या करने के उपरान्त उनका प्रयोग करे, अथवा उनका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। भाषा के प्रयोग में बहुत अधिक सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता है।

आलोचना की भाषा का प्रधान आधार अभिधा है। उसमें लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग वर्जित नहीं है। प्रसंगानुसार अनुकूल ध्वनि या प्रभाव के लिए इन शक्तियों का उपयोग भी किया जा सकता है। मगर उनका प्रयोग सीमित और विशिष्ट ही है। प्रधान रूप से आलोचना वाचक शब्दों के आधार पर चलनी चाहिए। इसीलिए आलोचना का रचना के धरातल तक ले जाना बहुत कठिन है।

दूसरी बात यह है कि आलोचना की शब्दावली में कुछ मूल शब्द होते हैं जिनका सम्बन्ध मूल्यों या प्रत्ययों से होता है। आलोचक का पहला कार्य यह है कि वह इन शब्दों को शब्द-रूप में ही ग्रहण न करे वरन् इनके अर्थों को समझे और समझाये। बिना मूल शब्दों के अर्थ को पूरी तरह से समझे हुए जो कुछ लिखा जायेगा वह आलोचना के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा।

जब आलोचक इन मूल शब्दों के अर्थ को पूरी तरह से समझने का प्रयास करेगा तो उसे यह अनुभव होगा कि इस काम के लिए उसे अन्य विषयों की शरण में जाना पड़ेगा। इस प्रकार दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि के प्रत्ययों को व्यक्त करनेवाले शब्दों को पूरी तरह समझने के लिए इन विषयों की सहायता लेना अनिवार्य है। यदि आलोचक शब्दों का प्रयोग समझदारी के साथ करने लगें तो बहुत-सी समस्याएँ और विवाद अपने-आप निराधार हो जायेंगे।

नयी आलोचना में यह प्रयास किया जाता है कि काव्य को कवि-कर्म और अध्ययन से अलग करके देखा जाये। इसमें यह देखने का प्रयास किया नहीं जाता कि कविता की रचना करते समय कवि के मन की क्या स्थिति थी। रचना का पाठक पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसका भी कोई महत्त्व नहीं है। मुख्य कार्य तो यह है कि जो कृति हमारे सामने है उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया जाये। इस प्रकार यह काव्य का एक विशिष्ट अध्ययन है जो

रचना-प्रक्रिया और पाठक की प्रतिक्रिया दोनों का निषेध करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह अध्ययन एकांगी और अपूर्ण है। यही कारण है कि इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर जिन सिद्धान्तों या निर्णयों की चर्चा की जाती है वे एकांगी, अपूर्ण, अतः अर्द्धसत्य हैं। उनको मूल और समग्र सत्य मान बैठने से भ्रान्तियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

उक्त प्रकार के अध्ययन से एक लाभ तो अवश्य हुआ। काव्यवस्तु की सत्ता को अपेक्षित महत्त्व मिला और काव्य की बारीकियों को समझने का एक प्रयास हुआ। नयी आलोचना का आधार काव्य का वस्तुपरक अध्ययन ही है।

काव्य का वस्तुपरक अध्ययन बिलकुल नयी बात नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापकों---वामन और कुन्तक ने काव्य का शुद्ध वस्तुपरक रीति से अध्ययन किया है। वामन ने जिन शब्द-गुणों और अर्थगुणों की चर्चा की है वे नयी आलोचना की सम्पत्ति भी हैं।

रीति सिद्धान्त के अन्तर्गत दो प्रकार के गुणों की चर्चा की गयी है—शब्द गुण और अर्थ गुण। शब्द गुणों का जो विवेचन है वह आज की भाषा के विवेचन की रीति के अनुरूप ही है। भाषा या शब्द-शिल्प का जैसा विवेचन नयी आलोचना में दिखायी देता है, कुछ वैसा ही विवेचन वामन ने शब्द गुणों के अन्तर्गत किया है। उदाहरण के लिए ओज शब्द गुण का लक्षण है गाढ़ बन्धत्व, समाधि शब्द गुण में आरोह-अवरोह क्रम रहता है, समता शब्द गुण में पद एकरस होते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य के शब्दों के, उनकी योजना तथा नाद-सौन्दर्य आदि के सूक्ष्म विवेचन का प्रयास किया था।

इसी प्रकार कुन्तक ने वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वार्द्ध वक्रता और पद-परार्द्ध वक्रता में वर्णों, उपसर्गों और शब्दों के सौन्दर्य या चमत्कार या वैशिष्ट्य के विवेचन का प्रयास किया है।

अब रहा विषय का सवाल।

आज काव्य के बारे में जितने भी विचार दिखायी देते हैं उन सबका आधार आज की जीवन-व्यवस्था है। यहाँ तक कि जो जीवन और मूल्यों के निषेध की बात भी करते हैं, उनका आधार भी सामाजिक स्थिति ही है। या यों कहिए कि सामाजिक स्थिति और उसकी विशिष्ट प्रतिक्रिया जो सजग मन में होती है, वे ही काव्य-सम्बन्धी विविध मतों के रूप में सामने आती हैं। इसलिए काव्य के बारे में प्रस्तुत किये गये सभी विचारों को, और विशेषकर इधर के नये विचारों को सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध करके ही देखने से सही दिशाएँ सामने आ सकती हैं।

इस प्रकार के विवेचन के मार्ग में एक बड़ी दिक्कत है। कुछ विचारक काव्य को काव्य के रूप में, सिर्फ़ काव्य के रूप में देखने के हामी हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि काव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और यदि उसका विवेचन करते समय काव्यतर विषय की चर्चा की जायेगी तो यह काव्य के साथ अन्याय होगा। उनके विचार में पुराने ज़माने में काव्य के साथ न्याय नहीं हुआ। काव्य-चिन्तकों ने काव्य को अन्य विषयों के साथ सम्बद्ध करके देखा और इसलिए वे काव्य के निजी स्वरूप को समझने में असमर्थ रहे। इसीलिए काव्य तथा काव्य-विचार का सहज विकास बाधित रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि पुराने आचार्यों ने काव्य पर विचार करते समय उसे लोक के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। भरत ने लोकवृत्त के अनुकरण की बात की है और उधर प्लेटो तथा अरस्तू ने काव्य को प्रकृति की अनुकृति माना है। इस प्रकार काव्य पर विचार करते समय सबसे पहली बात जो सामने आती है वह है लोक का महत्त्व, लोकवृत्त या आदर्श गणराज्य की सत्ता। इसलिए यह सम्भावना हो सकती है कि काव्य के निजी रूप के विवेचन की ओर अपेक्षित ध्यान न दिया जा सके।

पश्चिम में तो ऐसा हुआ भी। प्लेटो ने जो कहा कि काव्य प्रकृति की अनुकृति है तो इस बात को कोई अस्वीकार न कर सका। अरस्तू ने भी काव्य को अनुकृति ही माना। अन्तर यह है कि प्लेटो का विवेचन मूल सत्ता या मूल शक्ति से शुरू होता है और अरस्तू का विवेचन दृश्य सृष्टि से। सत्य क्या है? अरस्तू इस पर विचार नहीं करते। वह इस बात को आवश्यक ही नहीं मानते।

लेकिन अगर ध्यान से देखा जाय तो प्लेटो के विवेचन में संगति अधिक है। उनका विवेचन बुनियादी धरातल से आरम्भ होता है। उन्होंने जड़ को पकड़ने की कोशिश की है जबकि अरस्तू उस गहराई तक नहीं जाते, उस गहराई तक जाना ज़रूरी ही नहीं समझते। इतना ही नहीं, उन्होंने बुनियादी सच्चाई की बात ही नहीं की, उसकी चर्चा तक नहीं की। यह बात अजीब-सी लगती है। ख़ास तौर पर जब अरस्तू से पहले काव्य पर बुनियादी दृष्टि से विचार हो चुका था, तो अरस्तू को इस प्रयास के बारे में कुछ कहना चाहिए था। वह उसे स्वीकार न करते, उसका विरोध ही करते मगर काव्य के मूलभूत विवेचन की प्रक्रिया के बारे में कुछ तो कहते। कारण यह है कि अरस्तू सूक्ष्म-प्रिय नहीं थे और यही उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

अरस्तू की इस स्थूलता ने शताब्दियों तक पश्चिम पर राज किया है। लोंगिनुस की सूक्ष्मता भी उपेक्षित ही रही। इसका कारण यह है कि मध्यकाल में पश्चिम का चिन्तन स्थूल धरातल पर ही रहा है। उसमें सूक्ष्मता और गहराई नहीं है। वह ऊपरी धरातल पर ही कार्यशील है। धार्मिक सन्तों की

सूक्ष्मता व्यवहार से, जीवन से कटी रही। यही कारण है कि साहित्य-रचना और साहित्य-चिन्तन में सूक्ष्मता बहुत देर से आयी। पश्चिम में काव्य और आलोचना में गहराई तभी आयी जब उस पर नये सिरे से बुनियादी तौर पर सोचा-विचारा गया। और इस सीमा का श्रेय अरस्तू को है।

अगर अरस्तू की बजाय प्लेटो और लोंगिनुस वाली धारा आगे बढ़ती तो स्थिति दूसरी होती। प्लेटो की दृष्टि अरस्तू की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और उपयोगी है। इसी आधुनिक काल में जब पश्चिम में नये सिरे से सोचने की शक्ति का जन्म हुआ तो वे विचार ही महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली सिद्ध हुए जो उस सूक्ष्म और बुनियादी दृष्टि पर आधारित थे जो प्लेटो में मिलती है।

भारतीय परम्परा में काव्य और शास्त्र के विकास का आधार भिन्न रहा। सबसे पहले तो भरत ने ही यह कहा कि नाट्यशास्त्र का निर्माण चारों वेदों के आधार पर हुआ है। चारों वेद समग्र जीवन के प्रतीक और प्रतिनिधि रहे हैं। इसलिए नाटक समग्र जीवन के साथ सम्बद्ध है, ऐसी मान्यता नाट्यशास्त्र में व्यक्त है। भरत ने लोकवृत्त के अनुकरण पर भी बल दिया है। इसलिए भारतवर्ष में न सिर्फ़ नाटक का जन्म जीवन के बीच हुआ, वरन् नाट्यशास्त्र में नाटक के इस सामाजिक आधार की स्पष्ट स्वीकृति भी दिखायी देती है।

भरत ने लोक के महत्त्व को स्वीकार तो किया, मगर नाटक की सत्ता को, शिल्प के मूल्यों को अस्वीकार नहीं किया। नाट्य-शिल्प पर भी उन्होंने पूरा-पूरा ध्यान दिया और विस्तार से नाटक के विविध अंगों-उपांगों का विवेचन किया। लेकिन भरत की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा नाटक की आत्मा—रस की प्रतिष्ठा है। उन्होंने बिना रस के नाटक को निरर्थक माना है। लेकिन असल महत्त्व इस बात का नहीं है। वास्तविक महत्त्व तो इस बात का है कि रस है क्या ?

भरत के इस सिद्धान्त के साथ हिन्दी में अन्याय होता आया है। भरत का रस सहृदय सापेक्ष नहीं है, वह सहृदय के आस्वाद का वस्तुगत मूल्य है। उसकी सत्ता तो नाटक के रूप में है। रस एक निर्मिति है, एक सृष्टि है जो नाट्य में स्थित है। इसलिए रस नाटक का शिल्पगत मूल्य है। इस रूप में भरत के नाटक का महत्त्व लोक पर नहीं, शिल्पगत मूल्य पर, रस पर आश्रित माना है। रस ही नाटक को सार्थक बनाता है।

भामह, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य के शिल्पगत मूल्यों—अलंकारों का विवेचन किया है। उनका ध्यान लोक की अपेक्षा शिल्प पर अधिक केन्द्रित रहा। इसलिए उन्होंने काव्य के रूप और उसके विविध घटक तत्त्वों की व्याख्या का प्रयास किया। अलंकारवादियों का चिन्तन—भामह से कुन्तक

तक का चिन्तन रूपात्मक आलोचना के अन्तर्गत ही आता है। इन सबकी दृष्टि काव्य के रूप पर केन्द्रित है, काव्य के वैशिष्ट्य के उद्घाटन का प्रयास करती है।

लेकिन उनमें लोक की उपेक्षा नहीं हुई। भरत ने तो बाद में धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि मानी थी। भामह एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने मोक्ष को भी इसमें जोड़ दिया। इस प्रकार काव्य समग्र जीवन का ही प्रतीक बन गया। जो जीवन के पुरुषार्थ थे वे ही काव्य में भी स्वीकार कर लिये गये। इस धारा के एक छोर पर भामह हैं तो दूसरे छोर पर विश्वनाथ। बीच के रसवादी आचार्यों ने रस पर अधिक बल दिया। लेकिन विश्वनाथ ने रस के साथ-साथ चतुर्वर्ग को भी स्वीकार किया और इस प्रकार रस को आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए भी काव्य को समग्र जीवन के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया।

इन सभी आचार्यों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-शिल्प और जीवन को व्यापक सम्बद्ध सन्तुलित रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया गया। एक तरफ़ तो वर्ण से लेकर महाकाव्य तक, काव्य के सूक्ष्मतम अंग से लेकर स्थूलतम अंग की विशेषताओं की मीमांसा की गयी और दूसरी ओर चतुर्वर्ग और रस के रूप में समस्त जीवन को लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रयास अपनी सूक्ष्मता में अनन्य और व्यापकता में अप्रतिम होने के कारण कितना चमत्कारपूर्ण है, इसे वही समझ सकता है, जिसने भारतीय काव्यशास्त्र को पढ़ने और समझने की कोशिश की हो।

आज हिन्दी में एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति दिखायी देती है। बहुत-से लोगों ने प्राचीन को पढ़ने की कोशिश ही नहीं की लेकिन प्राचीन के खण्डन में वे सब से आगे हैं। मैं यह नहीं मानता कि प्राचीन का खण्डन नहीं करना चाहिए। लेकिन बिना पढ़े, बिना समझे खण्डन करने में क्या तुक है, यह समझ में नहीं आता। अगर उसे कोई समझता हो तो बताने की कृपा करे।

रस का विरोध करते हुए लोग उसके आत्मवादी आधार को चुनौती देते हैं। ठीक है। मगर रस के बारे में अन्य मत भी तो हैं। इसको नाटक का, काव्य का एक शिल्पगत मूल्य भी तो माना गया है। इस बात से चौंकने की ज़रूरत नहीं। ज़रूरत है कुछ पढ़ने की।

भट्टनायक और अभिनव ने रस की आत्मवादी व्याख्या की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया। हिन्दी-आलोचना का परिचय रस की इसी धारा से रहा। लेकिन रस की एक

पूर्ववर्ती धारा भी है जिसमें रस को शिल्पगत एक तत्त्व या अलंकार माना गया है।

एक सवाल सामने आता है। क्या रस और चतुर्वर्ग दोनों को एक साथ स्वीकार किया जा सकता है?

आचार्यों ने दोनों को एक साथ स्वीकार तो किया है मगर दोनों को तुल्य महत्त्व का नहीं माना। विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। मम्मट और पंडितराज ने चतुर्वर्ग का उल्लेख ही नहीं किया। इसलिए इस समस्या पर सावधानी से विचार करना चाहिए।

भट्टनायक आदि आचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर माना और उसके भोग-पक्ष को ही विवेचन का केन्द्र बनाया। उनकी दृष्टि सहृदय में केन्द्रित रही। इसलिए उन्होंने रस के आस्वाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया और उसी को मूलभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया।

लेकिन उसी आत्मवादी रस पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। रस एक सृष्टि भी है और आत्मिक रस की सृष्टि करनेवाली भी आत्मा है—कवि की आत्मा। इसलिए रस आत्मा की पुनर्सृष्टि है। इस प्रकार रस आत्मा की वह पुनर्सृष्टि है जो काव्य के माध्यम से सहृदय में व्यक्त होती है। काव्य आत्मा की मूल एकता को व्यक्त करने का साधन है। वर्ड्सवर्थ ने तो काव्य को मानव-स्वभाव की मूल एकता का व्यंजक माना था। लेकिन उनका मानव-स्वभाव मन के धरातल तक ही पहुँचता है। अभिनव ने आत्मा को मानव-स्वभाव के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा मूल रूप से एक और अखण्ड है। काव्य मानव के आत्मभाव को व्यक्त करता है। इस सिद्धि के लिए पहली आवश्यकता को यह है कि कवि आत्मभाव में स्थित हो। जब तक वह इस धरातल का साक्षात् अनुभव नहीं करेगा तब तक वह उसे व्यक्त करने में भी सफल नहीं हो सकता। सहृदय के रत्यादि आवरणों के भग्न करने की शक्ति से सम्पन्न काव्य की रचना करने से पहले कवि को रत्यादि के अतिरिक्त अन्य सभी आवरणों को उच्छिन्न करना होगा। कवि के आत्मभाव की सिद्धि आत्मवादियों के रस-विवेचन में अन्तर्भूत ही समझनी चाहिए।

रस रत्यादि के माध्यम से व्यक्त ब्रह्मानन्द है। इस बात को स्वीकार करने के साथ-साथ रस को ब्रह्मानन्द के तुल्य रूप में स्वीकार करने का लोभ भी दिखायी देता है। अगर ध्यान से देखा जाय तो यह सचमुच लोभ ही है। कारण यह है कि जहाँ रत्यादि स्थायी भाव हैं, जहाँ सत्त्वगुण के बन्धन को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, जहाँ रजस तथा तमस को उच्छिन्न नहीं तिरोभूत माना जाता है, ऐसी अवस्था ब्रह्मानन्द के तुल्य कैसे मानी जा सकती है? स्पष्ट है आत्मवादियों की यह मान्यता संगत और अस्वीकार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि चतुर्वर्ग और रस को एक साथ स्वीकार करने का आधार क्या है। जब यह मान लिया गया कि रस आत्मानन्द ही है, तो मोक्ष की सिद्धि से इसका साम्य स्पष्ट है। इसलिए रस की स्वीकृति में मोक्ष की स्वीकृति का आभास मिलता है। रहा धर्म, अर्थ और काम, तो उसकी सिद्धि की चर्चा काव्यशास्त्रियों ने की ही है। काव्य द्वारा मोक्ष की सिद्धि ही कठिन थी। सो रस द्वारा सहज हो गयी। अब समस्या तो यह उठती है कि भामह ने किस आधार पर मोक्ष को स्वीकार किया था ?

रस-सिद्धान्त का व्यापक यथार्थ दृष्टि से परीक्षण करने से दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं।

पहली तो यह कि प्राचीन भारत में काव्य-चिन्तन जीवन तथा संस्कृति की समग्रता के बीच ही विकसित हुआ था। जब धर्म आदि प्रधान मूल्य थे तो काव्य में उनकी प्रतिष्ठा हुई। जब आत्मा या ब्रह्म को परममूल्य के रूप में स्वीकार किया गया तो यह प्रयास हुआ कि काव्य को भी उससे सम्बद्ध किया जाय। आठवीं शती में शंकराचार्य ने ब्रह्म को परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और फिर उसके प्रभाव से शैवों ने दर्शन के साथ-साथ काव्य में भी ब्रह्मास्वाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। वह काव्य जो भरत के युग में लौकिक रचना के रूप में स्वीकृत था—क्योंकि तब युग-चेतना इसी धरातल पर आसीन थी—भट्टनायक और अभिनव आदि को लोकोत्तर कला के रूप में स्वीकृत हुआ, यह तत्कालीन युग-चेतना के अनुरूप ही था। भरत ने नाटक को लोक से सम्बद्ध किया, भट्टनायक आदि ने आत्मा तथा ब्रह्म से। जो पहले लौकिक था, वही अलौकिक माना जाने लगा। काव्य वही था। उसकी व्याख्या और मूल्यों में अन्तर आ गया। इसलिए जो लोक का था वह कुछ विशिष्ट लोगों की सम्पति बन गया। जो लोकगत सत्ता थी, वह वर्गगत सत्ता बन गयी।

सैद्धान्तिक रूप से यह बात सत्य है मगर इसका व्यावहारिक परिणाम भिन्न हुआ, भिन्न नहीं विपरीत हुआ।

निवृत्ति और ज्ञानवाद के प्रभाव से सामान्य जनता लोक से विरक्त हो रही थी। लौकिकता पर विश्वास हटता जा रहा था। क्षणिकवाद, दुःखवाद, शून्यवाद, अद्वैतवाद आदि के प्रभाव से यथार्थ लौकिक जीवन और उसके मूल्यों पर अनास्था हो रही थी। लोक को गाथा कहकर वह सभी कुछ हीन माना जाने लगा जो लौकिक था। सामान्य समाज में यह हीनता व्याप्त हो रही थी।

आत्मवादी आचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जीवन का जो परम मूल्य है उसकी प्रगति काव्य के द्वारा भी हो सकती है। सिद्धान्त की दृष्टि से भट्टनायक आदि लोक की सत्यता पर विश्वास करते थे। एक प्रकार से उनका

यह विश्वास भी विरक्ति और उदासीनता की प्रतिक्रिया की उपज था। यह प्रतिक्रिया केवल दर्शन के क्षेत्र में ही सीमित नहीं रही। काव्य के क्षेत्र में भी व्यक्त हुई और यही कारण है कि काव्य जनता की हतबुद्धि आस्था को फिर से सँवारने में समर्थ हुआ। काव्य एक लौकिक सृष्टि है जिसका आस्वाद सहृदय मात्र कर सकता है। इसलिए सहृदय मात्र के लिए जीवन में, जीवन के मूल्यों में आस्था का आधार सुलभ हो गया।

रस के लोक-पक्ष का पहला आधार तो यह है कि वह मूल रूप में ऐसी दर्शन-धारा पर आश्रित था जो सृष्टि को सत्य मानती थी और इसलिए रस की कल्पना ने एक ओर तो जीवन के परम मूल्य को सहृदयों के लिए सुलभ बनाया, दूसरी ओर लोक-पक्ष के प्रति यथार्थ-बुद्धि को जगाने का प्रयास किया। वे दोनों ही कार्य भारतीय चेतना के विकास और प्रगति के महत्त्वपूर्ण लक्षण थे।

सहृदय की परिकल्पना ज्ञान या साधना के अधिकारी से कहीं अधिक व्यापक है। ज्ञान या संन्यास का अधिकारी तो कोई विरला व्यक्ति ही होता है, मगर काव्य का अधिकारी तो कोई भी सहृदय हो सकता है। सहृदय की संख्या ज्ञान के अधिकारियों की संख्या से कहीं अधिक होती है, यह स्पष्ट ही है।

बात केवल यहीं तक नहीं रुकी। एक ओर ज्ञानी ने कहा—काव्य और आलाप का वर्जन करना चाहिए—काव्यालापाश्च वर्जयेत्। दूसरी ओर काव्य-शास्त्री ने कहा—वेदाभ्यास जड़ मुनि काव्य का अधिकारी ही नहीं है। ज्ञानी ने कवि और सहृदय को अपने क्षेत्र से निष्कासित किया, तो काव्यशास्त्री ने ज्ञानी को अपनी सीमा से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार ब्रह्मानन्द और रस का जो मूलभूत अन्तर आरम्भ से ही चला आ रहा था, वह इस उग्र विरोध के रूप में व्यक्त हुआ।

रस का व्यक्तित्व द्विविध है। एक ओर तो वह ब्रह्मानन्द की शब्दावली में निरूपित होता है, दूसरी ओर वह सहृदय के माध्यम से समस्त लोक में व्याप्त होता हुआ लौकिक जीवन की आस्था और आस्वाद को पुष्ट करता है। रस ब्रह्मानन्द-सहोदर भी है और लोक-हृदय का व्यंजक भी। उसका एक रूप ब्रह्म की छाया है, तो दूसरा लोक का पोषक। पुराने आचार्यों ने पहले रूप पर बल दिया है तो आचार्य शुक्ल ने दूसरे रूप पर। अब तक दोनों स्थितियों को एक साथ स्वीकार किया जाता रहा है।

अब देखना यह है कि रस के दोनों रूप संगत भाव से स्वीकार किये जा सकते हैं? यदि नहीं तो उन दोनों में से कौन-सा मौलिक और प्रधान है?

यह तो स्पष्ट ही है कि रस के दो रूप हैं। एक सैद्धान्तिक रस है, दूसरा

काव्य रस है। दोनों मूलतः भिन्न हैं और विरोधी भी हैं।[१] रस सैद्धान्तिक रूप में तो वैद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मानन्द-सहोदर है, और लौकिक रूप में काव्य की एक मानसिक अनुभूति। सैद्धान्तिक रस तो इस मानसिक अनुभूति की व्याख्या भर है। उसे अस्वीकार कर देने से इस अनुभूति में ज़रा भी फ़र्क नहीं पड़ता। यह अनुभूति एक लौकिक धरातल की एक मानसिक अनुभूति है जिसे भट्टनायक आदि ने अपने दार्शनिक पूर्वाग्रहों के कारण अपनी विशिष्ट शब्दावली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह सारा विवेचन मूल दृष्टि के भाव से प्लेटो के काव्य-विवेचन के समकक्ष समझना चाहिए जिसमें एक दार्शनिक की दृष्टि से काव्य और उसके मूल्यों पर विचार किया गया है। यदि कोई आत्मवादियों की दार्शनिक दृष्टि से सहमत है तो वह रस के सैद्धान्तिक रूप को भी स्वीकार कर सकता है। मगर जो व्यक्ति उस आत्मवादी दृष्टि से सहमत नहीं है उसके लिए रस का निषेध नहीं हो जाता। क्योंकि रस या तो एक निर्मिति है (भरत) या सामाजिक की अनुभूति है। रस निर्मिति या अनुभूति की सत्ता तो अक्षुण्ण है। उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। हाँ, उसकी आत्मवादी व्याख्या को अस्वीकार किया जा सकता है। जो लोग सैद्धान्तिक रस नहीं मानते, न मानें। लेकिन सैद्धान्तिक रस को न मानने से रस असिद्ध नहीं हो जाता। रस तो एक प्रत्यक्ष सत्ता है।

आजकल जो रस का विरोध होता है वह प्रायः सैद्धान्तिक रस का ही विरोध है। और उसका कारण है आत्मा और आत्मवाद पर अविश्वास। लेकिन काव्य रस तो हमेशा से सैद्धान्तिक रस से पृथक् जीता रहा है, विकसित होता रहा है।

अभी तक रस के इस दुहरे व्यक्तित्व की ओर ध्यान नहीं दिया गया। प्राचीनों ने भी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में कहीं कोई विरोध ही नहीं था। जब शक्तिवादी विषयानन्द को भी ब्रह्मानन्द ही मानते हैं तो फिर यदि वे रस को भी ब्रह्मानन्द मानें तो क्या एतराज़ या हानि है! रस को चाहे जो भी मानें, मूल बात तो यह है कि सहृदय उसे क्या समझता है, किस रूप में उसका आस्वाद करता है और उसके सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

कालिदास, जयदेव, विद्यापति, तुलसीदास, घनानन्द और प्रसाद सभी में काव्य रस है। इस काव्य रस को कोई ब्रह्मानन्द-सहोदर कहता है तो कहे, इससे रस पर क्या असर पड़ता है। जिसे आत्मवाद पर निष्ठा है, वह इस

---

[१] अपने शोध-प्रबन्ध 'रस सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' में इसकी व्याख्या की गयी है।

बात को मान भी सकता है। लेकिन देखना तो यह है कि सहृदय उसे किस रूप में देखता है ? और स्पष्ट है कि सहृदय ने उसे हमेशा से ही या तो निर्मिति के रूप में देखा है या काव्यजनित एक मानसिक अनुभूति के रूप में जिसका धरातल पूर्ण रूप से लौकिक है।

आधुनिक युग में रस की जो नयी व्याख्या का प्रयास आचार्य शुक्ल से आरम्भ हुआ, वह वास्तव में काव्य रस की व्याख्या है, सैद्धान्तिक रस या आत्म रस की नहीं। शुक्ल जी ने तो भावयोग को ज्ञानयोग आदि के समकक्ष माना ही है और यह भी स्पष्ट है कि यदि आज की काव्य-चेतना रस को कुछ सीमा तक स्वीकार कर सकती है तो वह काव्य रस ही होगा, आत्म रस नहीं।

दार्शनिक चिन्तन के दो रूप दिखायी देते हैं। एक तो वह जो लोकभाव का निषेध करता हुआ आत्मभाव को स्वीकार करता है, और दूसरा वह जो आत्मभाव को प्रधान मानता हुआ भी लोकभाव को साथ लेकर चलता है। भट्टनायक और अभिनव आदि दूसरी प्रकार की दर्शन-धारा के प्रतिनिधि हैं। यही कारण है कि रस में आत्मभाव तो प्रधान है लेकिन कुछ अंशों तक उसमें लोकभाव को भी स्वीकार किया गया है जो सत्त्वोद्रेक आदि के लक्षणों से स्पष्ट है। लेकिन यह बात विशेष महत्त्व की है कि भरत का नाटक और रस पूर्ण रूप से लोकभाव पर ही आश्रित हैं। इस प्रकार भारतीय काव्य-चिन्तन की दो धाराएँ स्पष्ट हैं—एक वह जो लोकभाव पर आधारित है और दूसरी वह जो आत्मभाव पर आधारित है।

आज के युग की चेतना को देखते हुए यह ज़रूरी हो जाता है कि काव्य पर नये सिरे से विचार किया जाये। इस प्रयास में प्राचीन की अपेक्षा या उपेक्षा का सवाल कोई बुनियादी सवाल नहीं है। इसलिए यह जो नये और पुराने का संघर्ष चल रहा है यह काव्य पर प्रत्यक्ष रूप से विचार करने में सहयोगी नहीं हो रहा है। यह तो स्पष्ट है कि इस संघर्ष से इस आवश्यकता की ओर ध्यान जाता है कि काव्य पर नये सिरे से विचार होना चाहिए और यह विचार तभी किया जा सकता है जबकि विचारक सभी पुराने पूर्वाग्रहों से मुक्त हो। लेकिन पुराने पूर्वाग्रहों से सावधान रहने की जितनी आवश्यकता है उतनी ही ज़रूरत इस बात की भी है कि नये पूर्वाग्रहों की शक्ति और सीमा के प्रति भी सतर्क रहा जाये। लेकिन ऐसा नहीं हो पा रहा है और इसका कारण यही है कि समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास नहीं किया जाता।

आज की चेतना को देखते हुए यह स्पष्ट है कि आज का व्यक्ति जीवन या काव्य में आत्मभाव को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि आत्मभाव पूरी तरह उपेक्षित है। आधुनिक युग में भी ऐसे विचारक और कलाकार नज़र आते हैं जो आत्मभाव को आधार बनाते

हैं। लेकिन बात है ज़माने की। सो आज की हवा में आत्मभाव के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

जहाँ तक लोकभाव का सवाल है, उसे पर्याप्त बल मिला है। मार्क्सवादी विचारधारा ने इसे पुष्ट किया है और इसके प्रति एक व्यापक शक्तिशाली चेतना को सक्रिय बनाया है। लेकिन लोकभाव की भी प्रतिक्रिया हुई और बात व्यक्ति भाव पर आकर टिकने लगी। आत्मभाव अधिकारी साधक या सिद्ध की विशिष्ट चेतना को ही प्रमाण मानता है। इसलिए आत्मभाव में इस दृष्टि से व्यक्तिभाव की स्वीकृति भी है। और आज जब चेतना आत्मभाव से चलकर लोकभाव और व्यक्तिभाव के आधारों की शक्ति जाँच रही है तो यह स्वाभाविक ही है कि आज के व्यक्तिभाव का झुकाव आत्मभाव की ओर हो। और आज के व्यक्तिभाव का एक रूप यह भी है जो इसी आत्मभाव के लंगर से युग-चेतना को बाँध देना चाहता है। अस्तित्ववाद का एक रूप वह भी है जो मसीही धर्म में यात्रा समाप्त करता है।

व्यक्तिभाव का एक दूसरा रूप भी दिखायी देता है। यह रूप लोक-भाव की ओर उन्मुख हुआ है और इस प्रकार व्यक्ति को लोकभाव में ही मर्यादित कर देना चाहता है। अस्तित्ववाद का एक रूप इसी लोकभाव की ओर उन्मुख हुआ है, जैसा कि शास्त्र की नयी विचारधारा से प्रमाणित होता है।

वे कौन-सी ऐतिहासिक शक्तियाँ थीं जिन्होंने व्यक्तिभाव को या तो आत्मभाव की ओर प्रेरित किया या लोकभाव की ओर, उनके विवेचन का यहाँ अवकाश नहीं। लेकिन व्यक्तिभाव की इस परिणति से एक बात अकाट्य रूप से प्रमाणित हो जाती है। वह यह कि व्यक्तिभाव में इतनी शक्ति नहीं कि वह अपने पाँव पर स्थित रह सके। वह युगचेतना में एक उछाल की तरह आता है और फिर किसी व्यापक तत्त्व में समा जाता है। अगर व्यक्तिभाव में अपना दम होता तो वह अपने-आप में स्थित होता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्तिभाव एक सीमित आधार लेकर उठता तो है, मगर अपनी निराधार और निराश्रय सत्ता के कारण अन्य की शरण में लीन हो जाता है। यह अन्य आत्मभाव भी हो सकता है और लोकभाव भी। लेकिन दोनों ही स्थितियों में व्यक्तिभाव की असमर्थता और मरणशीलता असंदिग्ध है।

पश्चिम में जो व्यक्तिभाव का उदय हुआ है उसके पाँच ऐतिहासिक कारण हैं।

सबसे पहला कारण तो है डार्विन का विकासवाद। इसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सृष्टि किसी दैवी शक्ति की रचना नहीं, प्रकृति का सहज विकास है। इसका परिणाम यह हुआ कि दैवी शक्ति के आधार पर जीवन-

साधना और सिद्धि के जो सुनिश्चित और सुस्थिर रूप थे वे एकाएक धराशायी हो गये और इन रूपों के अंचल में पलती आस्था निराश्रय होकर भटकने लगी। विकासवाद ने प्राचीन परम्परा पर पहला प्रबल आघात किया।

दूसरे कारण के रूप में फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त को लिया जा सकता है। फ्रायड ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि नैतिकता के बारे में जो सहज आस्था बची चली आ रही है वह निराधार और निर्मूल है। उपचेतन और अचेतन द्वारा नियन्त्रित मानव-स्वभाव इन नैतिक सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा अपने-आपको भुलावे में रखे हुए है और सच्चाई तो यह है कि जीवन की मूल शक्ति ही वह है जिसे समाज सभी प्रकार से अनैतिक आचरण का कारण मानता है। पिता और पुत्री तथा पुत्र और माता के बीच काम-भावना की सत्ता का आविष्कार करके फ्रायड ने आस्था की परम्परा पर दूसरी करारी चोट की।

तीसरा कारण दार्शनिक सम्प्रदायों और मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया है। मार्क्स ने अन्य दर्शन-धाराओं के समान समग्र जीवन को एक निश्चित व्यवस्था में बाँधने की कोशिश की। जब जीवन के सभी अंगों और व्यापारों को इस प्रकार करीने से सजाकर देखने-दिखाने का प्रयास किया गया तो इसकी प्रतिक्रिया में घोर व्यक्तिभाव का उदय होना स्वाभाविक ही था।

चौथा कारण है विश्वयुद्धों के भयानक परिणाम। युद्धों ने जीवन के सारे क्रम को, जीवन की सारी रीतियों को ध्वस्त कर दिया। सहज पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के बीच विकास करनेवाले मानव को सहसा इस कठोर सत्य का सामना हुआ कि ये सम्बन्ध तो बिलकुल शक्तिहीन हैं। युद्ध की परिस्थिति ने इन सारे सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया, सभी प्रकार के नैतिक सामाजिक आस्थाओं को नष्ट कर दिया और इस अस्तव्यस्त परिस्थिति में मनुष्य ने अपनी बेसहारा स्थिति को जाना और वह अपने भीतर ही सिमट-कर रह गया।

पाँचवाँ कारण है वैज्ञानिक-औद्योगिक व्यवस्था का विकास। यान्त्रिक उन्नति ने जीवन की गति को इतना तेज़ कर दिया कि पुरानी आस्थाएँ और विश्वास उसके साथ न चल सके। पुराने मूल्यों का विघटन हुआ, नये मूल्यों की व्यापक स्वीकृति के अभाव में व्यक्तिवादी मूल्यों को सिर उठाने का मौक़ा मिला और पुराने के विरोध में नये की स्थापना हुई।

इन्हीं पाँच कारणों से आत्मभाव और लोकभाव के विरुद्ध व्यक्तिभाव का उदय हुआ जो अपनी सहज निर्बलता के कारण फिर से आत्मभाव या लोक-भाव में लीन होता दिखायी दे रहा है।

व्यक्तिभाव का उदय आत्मभाव और लोकभाव के प्रति असन्तोष का

व्यंजक है। दूसरी ओर व्यक्तिभाव स्वयं निराश्रित है। उसका परिणाम यह दिखायी देता है कि आज के युग में एक लहर ऐसी भी है जो पूर्ण निरपेक्षता को ही मूल्य समझती है। यह निरपेक्षता यहाँ तक बढ़ी है कि निराधार निराश्रित स्थिति ही मूल्य बन गयी है। इसलिए कोई सिद्धान्त नहीं, कोई मूल्य नहीं। प्रत्येक तथ्य ही मूल्य है और अगर कोई सिद्धान्त की भाषा में कहना चाहे तो प्रत्येक तथ्य को सिद्धान्त भी कहा जा सकता है क्योंकि व्यक्ति के पास कोई कसौटी नहीं है, कोई आलोक नहीं है, उसके पास कुछ भी नहीं है। वह तो इस धरती के शून्य में झोंक दिया गया है। किसने झोंका है, क्यों झोंका है, कुछ पता नहीं। यह जाना भी नहीं जा सकता। इसलिए इसे जानने की कोशिश भी बेकार है। बस व्यक्ति है, इतना ही ज्ञात है। और जीने के लिए यह काफ़ी भी है। और मरने के लिए भी। इससे अधिक कुछ जानकारी होती तो अच्छा था। मगर उससे अधिक न तो कोई जानकारी है और न हो ही सकती है। बस सत्ता है, अस्तित्व है और जीना-मरना है। बात यहीं से शुरू होती है और यहीं खत्म हो जाती है। उससे आगे कुछ भी नहीं। जो है, वही हो सकता है, और इसलिए वही होना भी चाहिए। उससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता, होता ही नहीं। इसीलिए प्रत्येक तथ्य मूल्य है, प्रत्येक विचार सिद्धान्त है, प्रत्येक कर्म रीति है। यही निरपेक्ष व्यक्तिवाद है। इसके विश्लेषण से स्थिति का स्पष्टीकरण सहज हो जायेगा।

आज का युग व्यक्तित्व की खोज का युग है। पुराना व्यक्तित्व जो आत्म-भाव और लोकभाव वाला था आज मर चुका है। ईश्वर और आत्मा दोनों का ही निर्वाण हो चुका है। पुराने भारतीय चिन्तकों ने ईश्वर और आत्मा के माध्यम और आधार से व्यक्ति को मोक्ष का विश्वास दिलाया था। समय की धार ने व्यक्ति को मुक्त तो कर दिया है मगर यह मुक्ति ब्रह्म से मुक्ति नहीं है। यह मुक्ति आत्मा की मुक्ति भी नहीं है। यह ब्रह्म और आत्मा दोनों से मुक्ति है।

विज्ञान के प्रभाव से व्यक्ति को न तो ईश्वर पर विश्वास रहा है और न ही आत्मा पर। भारतवर्ष एक पिछड़ा हुआ देश है। इसलिए ईश्वर और आत्मा से व्यक्ति की यह मुक्ति व्यापक रूप में दिखायी नहीं देती। जनता का अधिकांश ऐसा है जो ईश्वर और आत्मा में मुक्ति खोजता है। मगर आज का भारतीय चिन्तक इस समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकता। ईश्वर और आत्मा, जो अमर्त्य थे, दोनों मर चुके हैं। वे आज के विचार और चिन्तन के आधार नहीं बन सकते। यह एक बड़ी विकट स्थिति है। जो व्यक्ति और समाज के जीवन और सृष्टि के आधार थे वे ही मिट गये। जिनके सहारे जीवन चलता था, वे सहारे नष्ट हो गये। अब क्या हो ?

यह सवाल आज के चिन्तक के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इसके सभी पहलुओं पर विचार होना ही चाहिए। पश्चिम के सामने यह सवाल ज़रा पहले आ गया। इसके कारणों की चर्चा की जा चुकी है। लेकिन अभी इस पर पूरी तरह से विचार नहीं हुआ। पुराने शाश्वत मूल्य लुप्त हो गये। नये मूल्यों का निर्माण कैसे हो ?

आज की समस्या निराधार जीने की समस्या है। अजनबी देश में बिना निर्देशन के जिन्दा रहने की समस्या है। जीवन स्वयं एक समस्या है। इसीलिए आज का जीवन निराधार, मूल्यहीन, व्यक्तित्वहीन जीवन है। एक ऐसा जीवन है जो क्षणभोगी है। जो क्षण से आगे या पीछे विद्यमान नहीं है। आज तक बुद्धि ने, साधना ने असंख्य सिद्धान्तों को जन्म दिया। कोई सिद्धान्त जीवन को सन्तोष न दे सका। सब आये, रहे और चले गये। और तो और अस्तित्ववाद में विघटन हुआ, मार्क्सवाद में विभाजन हुआ। इनसे भी सभी का सन्तोष नहीं हुआ। सब-कुछ बदलता रहा। हरेक ने कहा कि "मैं सत्य हूँ" और उसके पीछे आनेवालों ने सत्य को नहीं सत्य की लाश को देखा, उसी को पूजा और आज ये सब मरे हुए सत्य झूठ की एक दुनिया के रूप में दिखायी देते हैं।

इस स्थिति पर पहुँचकर मालूम हुआ कि जीवन में स्थायी तो कुछ नहीं। न ईश्वर है, न आत्मा है, न नैतिकता है, न सामाजिकता है। जब स्थायी कुछ भी नहीं तो फिर सत्य क्या है ? उत्तर मिला जीवन की एक ही सच्चाई है। और वह सच्चाई है मौत।

आस्थाहीन व्यक्ति ने सब-कुछ खो दिया है। उधर यान्त्रिक समृद्धि ने भोग की लिप्सा को जगाया है। तृष्णा अब तरुण हो गयी है। भोग असंख्य हैं इसलिए अतृप्ति भी असीम है। उधर मौत का भय है क्योंकि मौत ही अकेली सच्चाई नज़र आती है। मध्यमवर्ग, जहाँ से अधिकांश चिन्तक और विचारक पैदा होते हैं, एक अतृप्त कुंठित और पराभूत वर्ग है। उधर मृत्यु का भय, इधर भोगों की अनन्य संमृति, उधर असीम लिप्सा, इधर अभाव की पीड़ा। इन सबने मिलकर व्यक्ति को अपने ही घर में अजनबी बना दिया है, उसके भरे-पूरे जीवन को निराधार बना दिया है। कुछ आश्चर्य नहीं कि ऐसे व्यक्ति को सभी जगह एक डरावना बियाबान नज़र आता है। यह एक शून्यवाद की स्थिति है जहाँ कोई प्रमाण नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई पथ या निर्देशन नहीं। बस इतना आभास ज़रूर है कि सत्ता है। न इससे अधिक कुछ जाना जा सकता है और न इससे कम।

इस दृष्टि से पुराने शून्य और आज के अस्तित्व या सत्ता की तुलना की जा सकती है। भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष शून्यवाद में दिखायी देता है,

जहाँ सत्ता के आभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। और यह सत्ता भी अनिर्वचनीय है। मगर इस शून्य की प्रतिष्ठा वैचारिक धरातल पर हुई थी।

आज की 'सत्ता' या 'अस्तित्व' में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। शून्यवाद ने प्रमाणों को अस्वीकार कर दिया था। इसीलिए शंकराचार्य ने उनके खण्डन का प्रयास ही नहीं किया। आज के अस्तित्ववाद में भी प्रमाण को अस्वीकार किया गया है। इसके मूल में आज की परिस्थितियों की विषमता है। निराधार व्यक्ति का मन विषमता के इस बोझ को सहार न सका। इसलिए कुछ ने तो व्यक्तित्व से पलायन की बात को ही मूल्य मान लिया है।

परिस्थितियों की विषमता से सजग चेतना में तनाव उत्पन्न हुआ। और रचना की शक्ति के माध्यम से यह तनाव व्यक्त भी हुआ। इसलिए आज के काव्य और कला में जो तनाव की अभिव्यक्ति है, बोझा, निराशा और मौन की अभिव्यक्ति है, उसके मूल में यही विषमता है। वैषम्य को सुलझाने में असमर्थ चेतना अपने दंश को सहन न कर सकी। यही दंश आज की कला में दिखायी देता है।

लेकिन यह तनाव की स्थिति वैषम्य से पराभूत होने की स्थिति है। तनाव की एक दूसरी स्थिति भी है, जो वैषम्य पर विजय पाने की प्रक्रिया में व्यक्त होती है। व्यक्तित्व के सन्तुलन को यह वैषम्य खण्डित करना चाहता है। दुर्बल व्यक्ति भरसक संघर्ष करता है, मगर पराजित होता है। इस पराजय-जनक संघर्ष की कहानी नयी रचनाओं में दिखायी देती है। मगर जिसका व्यक्ति बलवान है वह वैषम्य से संघर्ष करता है। संघर्ष में विजित नहीं होता। और इस संघर्ष का इतिहास भी काव्य में मिलता है। एक पराजय का तनाव है, दूसरा विजय का। दोनों में कौन महत्त्वपूर्ण है?

अगर ध्यान से देखा जाये तो दोनों प्रकार की रचनाओं का प्रत्यक्ष प्रधान आधार एक ही है। वह है स्वभाव। इसलिए काव्य की व्याख्या और मूल्यांकन का प्रधान आधार स्वभाव ही है। आत्मभाव, लोकभाव और व्यक्तिभाव तीनों का समाहार मानव-स्वभाव में हो जाता है क्योंकि जैसा कि आज यह सिद्ध है, मानव-स्वभाव सम्पर्क में आये समस्त वातावरण का ही एक विशिष्ट तथ्य है। आत्मभाव, लोकभाव, व्यक्तिभाव ये सब बाहरी धरातल हैं, आन्तरिक नहीं। सामाजिकता इन तीनों धरातलों को अन्तर्भूत कर लेती है और सामाजिकता ही स्वभाव का निर्माण करती है। मानव-स्वभाव इसी सामाजिकता की कृति है। और इस स्वभाव की कृति है काव्य। इसी रूप में काव्य पर विचार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य एक सांस्कृतिक संस्था है जिसका प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय है। काव्य की सामाजिकता और अन्तर्राष्ट्रीयता

दोनों का आधार है मानव-स्वभाव। दरअसल यह सामाजिकता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों ही सहज मानव-स्वभाव के अभिन्न अंग हैं और उससे अलग नहीं किये जा सकते। आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र अपने उत्कृष्ट रूप में मानव-स्वभाव पर ही आधारित हैं और इसलिए उनकी सार्वभौम सांस्कृतिक ख्याति भी असंदिग्ध ही समझनी चाहिए।

लेकिन एक बात से आश्चर्य होता है। ऐसा काव्य तो बहुत है जो अन्तर्राष्ट्रीय चेतना द्वारा स्वीकृत है लेकिन जब आलोचना पर नज़र जाती है तो काफ़ी विवाद दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि आलोचना को काव्य पर आधारित किया जाता है। नतीजा यह होता है कि काव्य का मूल आधार उपेक्षित हो जाता है। इसलिए अगर आलोचना को भी काव्य के मूल आधार के धरातल पर स्थित किया जाये तो ऐसे निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते हैं जो अधिक मान्य हों।

काव्य की अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार मानव-स्वभाव ही है। सामाजिकता के विकासशील माध्यम में मानव-स्वभाव का भी विकास और परिष्कार हुआ है और इसलिए माध्यम के रूप की भिन्नता के अनुरूप मानव-स्वभाव में भी भिन्नता पायी जाती है जो देश और काल की सीमाओं के भीतर व्यक्त होती रहती है। वे विचारक जो मानव-स्वभाव को खण्ड-खण्ड करके देखने के आदी हैं कभी तो विकसित-परिष्कृत मानव-स्वभाव में उलझकर रह जाते हैं और कभी विकास-परिष्कार के रूप के चक्कर में पड़ जाते हैं। नतीजा यह होता है कि वे मूल मानव-स्वभाव की सहज या सजग रूप से उपेक्षा करने लगते हैं। इस उपेक्षा के आधार पर स्थित निष्कर्षों का एकांगी और भ्रान्त होना स्वाभाविक ही है। संगत रूप से सफल चिन्तन के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि मानव-स्वभाव को उसकी समग्रता में देखा और समझा जाये।

मानव-स्वभाव अपने मूल रूप में प्राकृतिक ही है और उसके अत्यन्त विकसित और समृद्ध रूप का आधार भी यही प्राकृतिक अंश ही होता है। इसलिए यह एक स्वाभाविक सत्य है कि मानव-स्वभाव और प्रकृति के बीच एक सहज सामरस्य होता है। इसका यह मतलब नहीं है कि मानव और प्रकृति में कहीं कोई विरोध नहीं होता। मनुष्य को आरम्भ से ही जीने के लिए प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। यह बात केवल मनुष्य के लिए ही नहीं, प्राणी मात्र के लिए सत्य है। प्रकृति में प्रत्येक प्राणी के मित्र भी होते हैं और शत्रु भी, उसके अनुकूल स्थितियाँ भी होती हैं और प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी। और इसलिए प्राणी मात्र को जीने के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है।

यहाँ सोचने की बात यह है कि यह संघर्ष क्यों होता है?

यह संघर्ष वास्तव में जीवन का संघर्ष है, जीवन के लिए संघर्ष है। बिना

इस संघर्ष के जीवन रह ही नहीं सकता। प्राणी की स्थिति के लिए यह संघर्ष स्वाभाविक रूप से अनिवार्य है। इसलिए यह संघर्ष जीवन में अन्तर्भूत है, प्राण का ही एक अंश है, चैतन्य का एक लक्षण है। लेकिन संघर्ष का यह तथ्य मानव-स्वभाव और प्रकृति के बीच के स्वाभाविक सामरस्य को खण्डित नहीं करता। कारण यह है कि यह संघर्ष भी इस स्वाभाविक सामरस्य का ही एक तत्त्व है, वह सामरस्य में अन्तर्निहित है। इसलिए इस सामरस्य के स्वरूप को समझ लेना उपयोगी होगा। यह कोई जड़ स्थिर सम्बन्ध नहीं है। यह तो एक सक्रिय और गत्यात्मक सम्बन्ध है जिसको प्रतिपल प्राप्त करना होता है, जिसकी प्रतिक्षण रक्षा करनी होती है। अनेक तत्त्व और व्यापार उदित होते रहते हैं जो इस सामरस्य को खण्डित करने का प्रयास करते हैं। इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि चेतना उस सामरस्य की रक्षा में प्रवृत्त होती है। और इस प्रकार एक संघर्ष का आरम्भ हो जाता है। यह संघर्ष वास्तव में सामरस्य की रक्षा का संघर्ष है। इस संघर्ष के दो छोर हैं। एक ओर तो वह प्रकृति के प्रतिकूल रूपों और व्यापारों को अनुकूल बनाने का प्रयास करता है, दूसरी ओर मानव-स्वभाव को भी सक्षम बनाने का प्रयास करता है। इस क्षमता को पाने की प्रक्रिया में ही मानव-स्वभाव का विकास और परिष्कार होता है। इस प्रकार यह संघर्ष दुधारी तलवार का काम करता है जो एक ओर प्रवृत्ति के विरोधी अंश को काटती रहती है और दूसरी ओर मानव-स्वभाव के दुर्बल अंश को नष्ट करती रहती है। सामाजिकता, संस्कृति और कला का सारा इतिहास संघर्ष की इसी दुधारी गति पर ही स्थित है।

अगर हम अपने ढंग से सभी तथ्यों का वर्गीकरण करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं। प्रथम प्रकृति के रूप और व्यापार तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध, द्वितीय मानव के रूप और व्यापार तथा पारस्परिक सम्बन्ध, तृतीय मानव के भाव तथा विचार और चतुर्थ यन्त्र आदि मानव-कृतियों के रूप और व्यापार तथा पारस्परिक सम्बन्ध। और इनके अतिरिक्त सृष्टि की सम्बद्धता के रूप में व्यक्त उन सभी तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध हैं। इस प्रकार सारी सृष्टि रूपों, व्यापारों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जटिल-अटूट सत्ता है। कलाएँ और विशेष रूप से काव्य इसी समस्त-जटिल रूप में ही सृष्टि को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। आलोचना का उत्कृष्ट रूप भी वही है जो सृष्टि को इसी रूप में ग्रहण करता हुआ उसके सन्दर्भ में काव्य की प्रकृति का निरूपण और मूल्यांकन करता है।

मानव-स्वभाव और प्रकृति से उसका सहज सामरस्य ये ही वे मूल तथ्य हैं जो सौन्दर्य को नियन्त्रित करते हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सौन्दर्य व्यक्तिसापेक्ष है। असल में यह व्यक्ति-सापेक्षता या व्यक्ति-निरपेक्षता

प-६३
२६६९

की समस्या का आधार एक ग़लत धारणा है जो एकांगी तर्क-पद्धति का परिणाम है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि सौन्दर्य का आधार मानव-स्वभाव और उसका प्रकृति से सहज सामरस्य है, तो इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि सौन्दर्य प्रकृति में स्थित नहीं है। अगर मानव-स्वभाव का सही अर्थ स्पष्ट है तो फिर इस कथन के आधार पर यह मानना संगत ही नहीं अनिवार्य भी होगा कि सौन्दर्य की सत्ता प्रकृति में स्थित है। यह कहना भी संगत होगा कि सौन्दर्य प्रकृति-सापेक्ष होता है। मूल बात तो यह है कि प्रकृति की सत्ता को उसके सभी रूपों, व्यापारों और सम्बन्धों के संश्लिष्ट रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। उससे भिन्न रूप में प्रकृति की न तो कोई सत्ता है और न ही कोई सार्थकता। मानव-स्वभाव मूल रूप में एक प्राकृतिक कृति है, यह प्रकृति का ही एक रूप है और इसलिए जो स्वभाव पर आधारित है वह बुनियादी तौर पर और अनिवार्य रूप में प्रकृति पर ही आधारित है। इस बारे में मतभेद के लिए कोई अवकाश नहीं है।

यह स्पष्ट है कि यदि काव्य मानव-स्वभाव की कृति है और सौन्दर्य मानव-स्वभाव पर आधारित है तो प्रत्येक काव्य अनिवार्य रूप से सुन्दर होगा। यहाँ यह सवाल हो सकता है कि ऐसी स्थिति में क्या यह मानना ज़रूरी नहीं हो जाता है कि सभी काव्य समान रूप से सुन्दर हैं ?

यदि उपर्युक्त विवेचन को ठीक से समझा गया है तो इस प्रश्न का उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं पैदा होती। मूल बात सिर्फ़ मानव-स्वभाव की ही नहीं, उसकी समस्त-सन्तुलित अवस्था की भी है जो समग्र सामाजिकता के संश्लिष्ट माध्यम में विकसित होती हुई कृति में व्यक्त होती है। उस सन्दर्भ में मानव-स्वभाव के बारे में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली, उसकी अवस्था समस्त-सन्तुलित होनी चाहिए। दूसरी, यह अवस्था समग्र सामाजिकता के संश्लिष्ट माध्यम में विकसित होनी चाहिए। तीसरी, वह कृति में व्यक्त होनी चाहिए। कृति के सौन्दर्य की मात्रा अथवा कोटि का नियन्त्रण इन्हीं तीनों बातों की सिद्धि की अवस्था के अनुरूप होगा। यह आवश्यक नहीं कि सभी कृतियों में ये तीनों विशेषताएँ एक-सी हों। यह भी ज़रूरी नहीं है कि एक ही रचनाकार की सभी कृतियों में ये समान रूप में स्थित हों। इसलिए जब कृतियों की कोटि आदि का निर्णय किया जाता है, तो ज्ञात या अज्ञात रूप से उन्हीं तीनों विशेषताओं को आधार बनाया जाता है। इस त्रिविध आधार की चेतना जितनी विकसित होगी, आलोचना उतनी ही समृद्ध और संगत होगी।

ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जहाँ काव्य और कला के क्षेत्र में नयी उपलब्धि सामने आती है, कुछ नयी धाराएँ और नये सिद्धान्त जन्म लेते हैं, लेकिन इसके बावजूद भी उनमें मानव-स्वभाव का समस्त रूप उपलब्ध नहीं

होता । ऐसी स्थिति में या तो कृतियों और धाराओं के अतिमूल्यन की प्रवृत्ति होती है या अवमूल्यन की । उनका सही मूल्यांकन तभी सम्भव हो सकता है जब सही आधार पर आलोचक स्थित हो । जो उनका अतिमूल्यन और अवमूल्यन करते हैं वे मानव-स्वभाव की उपेक्षा करते हैं, प्रकृति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की उपेक्षा करते हैं और इसीलिए उनके मत मान्य नहीं होते ।

इसका मूल कारण यह है कि सामाजिकता के अनेक रूप द्रुत विकास के कारण मानव-स्वभाव में अनेक तनाव पैदा होते हैं । जो व्यक्ति इस बोझ को नहीं सहार सकता उसका सन्तुलन नष्ट हो जाता है । ऐसी स्थिति में शक्ति के अनुरूप मानव-स्वभाव का कोई एक खण्ड अधिक प्रबुद्ध हो सकता है, शेष खण्ड अविकसित या शिथिल हो जाते हैं और स्वभाव की एक ऐसी स्थिति देखने में आती है जो सहज और प्राकृतिक से भिन्न होती है । ऐसा व्यक्ति जब उस क्षेत्र में कार्यशील होता है जिससे सम्बद्ध स्वभाव का अंश अधिक प्रबुद्ध है तो उसके कर्मों का एक रूप सामने आता है जो एकांगी होता हुआ भी विशिष्ट और मूल्यवान हो सकता है । लेकिन वही व्यक्ति जब जीवन के उस क्षेत्र में सक्रिय होता है जिससे सम्बद्ध स्वभाव का अंश अविकसित और निर्बल होता है तो वह निरीह, असफल और हीन सिद्ध होता है । यह असंगति कई महान माने जानेवाले कलाकारों के जीवन में भी नज़र आती है । और कभी-कभी तो यह स्थिति इतनी विषम होती है कि जीवन के एक क्षेत्र में जो रुग्ण, हीन और यहाँ तक कि विक्षिप्त हो जाता है, वही व्यक्ति जीवन के दूसरे क्षेत्र में उन्नत-उदात्त धरातल पर विचरण करता है । जिस प्रकार रुग्णता, हीनता और विक्षिप्तता सहज मानव-स्वभाव के सन्दर्भ में समझी जाती है, उसी प्रकार उन्नत-उदात्त उपलब्धि को भी सहज मानव-स्वभाव से ही सम्बद्ध करके देखना चाहिए । यही रीति स्वाभाविक और संगत है ।

काव्य और कला से सम्बद्ध जितने भी सवाल हैं उन सबको मानव-स्वभाव और उसके सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में ही रखकर देखना चाहिए । प्रतिभा, कल्पना आदि शक्तियों के स्वरूप का आधार भी यही है । कला की शक्ति के स्वरूप को समझने के लिए एक ओर तो उसे मानव-स्वभाव से सम्बद्ध करना होगा तथा दूसरी ओर कला से सम्बद्ध करके देखना होगा । इस द्विविध रीति से शक्ति का जो अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा वही सही और मान्य अध्ययन होगा ।

कार्य के अनुरूप कारण की कल्पना की जाती है । इसलिए शक्ति के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कृति के आधार पर देखा जाए । इस दृष्टि से कृति का महत्त्व स्पष्ट है । मगर साथ ही शक्ति की कोई

ऐसी कल्पना भी मान्य नहीं होगी जो मानव-स्वभाव के प्रतिकूल हो। इसलिए यह स्पष्ट है कि शक्ति के स्वरूप का आधार कृति और स्वभाव का स्वरूप ही है। जब कृति को और कृतिकार के स्वभाव को विलक्षण तथा लोकोत्तर आदि माना जाता था तो शक्ति को भी विलक्षण तथा लोकोत्तर समझा जाता था। लेकिन अब यह स्पष्ट है कि कृति और स्वभाव दोनों की सत्ता प्राकृतिक है और इसलिए शक्ति भी अपने मूल रूप में प्राकृतिक ही है जिसे सामाजिकता की जटिल-संश्लिष्ट प्रक्रिया से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

प्रत्येक कार्य के लिए अनुरूप शक्ति अपेक्षित होती है। वैज्ञानिक आविष्कार के लिए भी शक्ति अपेक्षित होती है और खेती करने के लिए भी, किसी योजना की रूपरेखा बनाने के लिए भी शक्ति अपेक्षित होती है और कला के निर्माण के लिए भी। एक प्रकार की शक्ति से दूसरे प्रकार का काम नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक कार्य की शक्ति एक विशिष्ट शक्ति है। शक्ति की विशिष्टता का प्रत्यक्ष आधार कार्य की विशिष्टता है। कार्यों में जैसा और जितना अन्तर होगा, शक्तियों में भी वैसा और उतना ही अन्तर होगा। इस दृष्टि से प्रत्येक शक्ति विशिष्ट और कुछ हद तक लोकोत्तर कही जा सकती है। लेकिन आज इन विशेषणों की विशेष सार्थकता नहीं रह गयी है। स्वभाव और कृति के स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान की उपलब्धि के बाद शक्ति के स्वरूप को समझने में विशेष कठिनाई नहीं हो सकती।

१ | आलोचना का स्वरूप

अगर पुरानी बात नये शब्दों में कही जाय तो वह नयी नहीं हो जाती। आज का व्यक्ति पुराने और नये के द्वन्द्व से इतना अधिक पीड़ित दिखायी देता है कि वह 'पुराने' और 'नये' शब्दों को उनके व्युत्पत्यर्थ में कम ग्रहण करता है और इस द्वन्द्व की निजी प्रतिक्रिया के अनुरूप उन्हें मूल्य अथवा मूल्य का विघटन मानने लगता है। ऐसी अवस्था स्पष्ट एवं सफल चिन्तन के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है जिसका निराकरण करना आसान नहीं है। एक ओर तो व्यक्ति पुराने के खण्डन में इतना तल्लीन रहता है कि वह यह भूल ही जाता है कि उसे अपना भी कुछ कहना चाहिए। दूसरी ओर प्राचीन मूल्यों पर आस्था रखनेवाला व्यक्ति प्राचीन मूल्यों को ही आदर्श-रूप में स्वीकार करना तथा कराना अपना कर्तव्य समझता है। इस कार्य की सिद्धि के लिए वह दो रास्ते अपनाता है। एक तो यह कि वह नये को सभी रूपों में अस्वीकार कर उसे निराधार तथा व्यक्तिमूलक विलक्षणता की उपज मानता है जो व्यक्तिगत अहम् को भले ही तृप्त कर दे किन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के लिए व्यर्थ एवं त्याज्य है। इस प्रकार का चिन्तन चाहे ग्राह्य हो या न हो, उसकी एक विशेषता होती है जिसे अन्य धाराओं के चिन्तकों को भी अपनाना चाहिए। वह विशेषता उसकी स्पष्टवादिता है। वह समस्या और समाधान को यथाशक्ति निर्भ्रान्ति शब्दों में व्यक्त कर देता है। कारण यह है कि उसका प्रयास आस्थामूलक है और जहाँ आस्था होती है वहाँ स्पष्टता भी किसी हद तक अपने-आप आ जाती है। यहाँ स्पष्टता प्रधानतया आस्था पर निर्भर रहती हुई भी एक अन्य तत्त्व की अपेक्षा करती है। और वह तत्त्व है विवेक।

मात्र आस्था के बल से व्यक्ति को निजी जीवन के क्षेत्र में किसी प्रकार की शंका या सन्देह से त्रस्त होने का अवसर नहीं आता। वह व्यक्ति उस आस्था के बल पर मान्य मत के अतिरिक्त अन्य सभी मतों की ओर से आँखें मूँदे हुए अपने मार्ग पर चलता रहता है। जहाँ कहीं कोई शंका उपस्थित होती है वह उसका समाधान अपनी आस्था में ही कर लेता है। कारण यह है कि आस्था का वह रूप जो तर्क पर आधारित नहीं है, और जिसे हमने मात्र

आस्था कहा है, जीवन का वह भावात्मक तत्त्व है जो कसौटी के समान प्रत्येक स्थिति में उसके खरेपन अथवा खोटेपन को सहज ही स्पष्ट कर दिशा-बोध करा देता है। यदि वह व्यक्ति तर्क का आसरा लेता भी है तो आस्था या आस्था-जन्य आचरण को पुष्ट करने के लिए ही। उसके लिए आस्था प्रधान है और तर्क गौण। आस्था आगे रहती है और तर्क उसका अनुसरण करता है। यहाँ तर्क आस्था-विषयक नहीं होता वरन् आस्था का पोषक होता है। यही कारण है कि आस्था-प्रधान जीवन आस्था द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर निरन्तर चलता रहता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसे जीवन-प्रवाह की गति विज्ञान के नियम के समान अटल रूप से एक ही दिशा की ओर रहेगी। ऐसा नहीं होता और कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी देखने को मिल जाते हैं जहाँ आस्था खण्डित हो जाती है। इसके लिए समर्थ कारण की अपेक्षा होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति अपवादस्वरूप ही समझनी चाहिए। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मात्र आस्था प्राचीन को आलोक-स्तम्भ के रूप में स्वीकार करती है।

प्राचीन मूल्यों पर आस्था रखनेवाला व्यक्ति नवीन को निरस्त करने के लिए कभी-कभी एक दूसरा रास्ता भी अपनाता है जिसमें आस्था के साथ-साथ तर्क का भी पूर्ण योग रहता है। यहाँ आस्था प्रधान नहीं होती, न ही तर्क आस्था का अनुसरण करता है वरन् आस्था और तर्क दोनों एक-दूसरे के पूरक के रूप में अपने मूल्यों की स्थापना करते हैं तथा विरोधी मूल्यों का खण्डन करते हैं। इस प्रयास की मूल विशेषता होती है मान्य मूल्यों की नवीन युग-जीवन के अनुरूप प्रतिष्ठा। इसके लिए हो सकता है कि प्राचीन मूल्यों में किसी हद तक संशोधन की स्वीकृति की जाए किन्तु उनका मूल रूप प्राचीन ही रहता है। ऐसे चिन्तक अपने आदर्शों को किसी-न-किसी रूप में प्राचीन से संपृक्त रखने का प्रयास करते हैं, यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि अपेक्षित परि-मार्जन के उपरान्त प्राचीन मूल्यों को नवीन परिवेश तथा उसके बोध के अनु-रूप प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

इन दोनों प्रयासों के विपरीत वह प्रयास है जो तर्क एवं आस्था के बल पर प्राचीन के सभी रूपों का खण्डन कर सर्वथा नवीन एवं मौलिक की स्थापना का प्रयास करता है। उपर्युक्त प्रयास के समान ही इस प्रयास के भी दो प्रकार होते हैं। एक प्रकार का प्रयास वह है जिसमें आस्था प्रधान और तर्क गौण है तथा द्वितीय प्रकार का प्रयास वह है जिसमें दोनों समन्वित रूप से कार्य-सिद्धि करते हैं। दोनों प्रयासों की अपनी-अपनी सीमाएँ तथा उपलब्धियाँ हैं। इस प्रयास में प्राचीन के खण्डन पर अधिक बल दिया जाता है और उस

खण्डन की सिद्धि में ही नवीन की प्रतिष्ठा की सिद्धि समझी जाती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नवीन की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया जाता। किन्तु कुछ ऐसा समझा जाता है कि प्राचीन का खण्डन अधिक मूलभूत तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

इस प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों में यह संघर्ष चल रहा है तथा इसकी तीव्रता एवं व्यापकता निर्भर करती है उस क्षेत्र के चिन्तकों एवं कार्यकर्ताओं पर। राजनीति, धर्म, दर्शन, नीति, साहित्य एवं चिन्तन के सभी क्षेत्रों में एक मूलभूत एवं तीव्र संघर्ष के दर्शन होते हैं। ऐसी अवस्था में जो प्रयास हो रहे हैं उनके महत्त्व का प्रधान आधार स्पष्टता है। किन्तु दिखायी यह देता है कि स्पष्टता की जितनी अपेक्षा है उतनी ही उसकी उपेक्षा भी हुई है। जैसे-जैसे स्पष्ट रूप से दो टूक बात कही जाएगी वैसे-ही-वैसे संघर्ष का स्वरूप निश्चित होता जाएगा। इस प्रकार संघर्ष के समाधान की पहली शर्त पूरी हो जाएगी। जब तक संघर्षशील विचारधाराएँ अस्पष्ट रहेंगी तब तक संघर्ष का स्वरूप भी अस्पष्ट रहेगा। और संघर्ष के स्वरूप की यह अस्पष्टता समुचित समाधान में सबसे बड़ी बाधा के रूप में उपस्थित होती है।

जब हम आलोचना पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि यहाँ समस्या और भी जटिल है। कारण यह है कि युग-जीवन एवं भाव-बोध के विकास के साथ-साथ आलोचना की विविध दृष्टियों का भी विकास हुआ। किन्तु ये दृष्टियाँ आत्ममुखी न होकर प्रधानतया बहिर्मुखी ही हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि विविध दृष्टियों का स्वरूप तो पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हुआ, किन्तु उनका संघर्ष तीव्र हो उठा है। अतः आलोचना के क्षेत्र में दो बुनियादी आवश्यकताएँ हैं—आलोचना के स्वरूप का स्पष्टीकरण, और आलोचना की विविध दृष्टियों के स्वरूप का स्पष्टीकरण। इसी प्रधान लक्ष्य को सामने रखकर प्रस्तुत प्रयास का प्रवर्त्तन किया गया है। इसी लक्ष्य के स्पष्टीकरण में एक मान्यता अन्तर्निहित-सी प्रतीत हो सकती है। वह यह कि एक ओर तो आलोचना के एक सामान्य रूप की स्वीकृति की गयी है तथा दूसरी ओर आलोचना की विविध दृष्टियों की सत्ता मानी गयी है। किन्तु यह मान्यता पूर्वाग्रह से भिन्न है। कारण यह है कि इस मान्यता को भूमिका के रूप में समझना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि जिस विषय को विवेचन का लक्ष्य बनाया जाए उसके सभी रूपों, पक्षों एवं तत्त्वों को स्पष्ट करने के उपरान्त ही निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाएँ। निष्कर्ष का महत्त्व आधारित है उसके पूर्ववर्ती विवेचन पर और इसलिए पूर्ववर्ती विवेचन की पूर्णता सर्वथा काम्य है।

यह सही है कि उपर्युक्त विवेचन में आलोचना की विविध दृष्टियों की स्वीकृति में प्रत्येक दृष्टि की सीमाओं की स्वीकृति अन्तर्निहित प्रतीत होती

है। कारण यह है कि प्रत्येक दृष्टि अपने सिवाय किसी अन्य दृष्टि की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करती। प्रत्येक प्रकार की आलोचना अपने-आपको आलोचना का प्रकार नहीं मानती, वरन् समग्र आलोचना ही मानती है। किन्तु ये समस्याएँ विस्तृत विवेचन के प्रसंग में स्थान-स्थान पर उदित होंगी और वहीं इनके समाधान का प्रयास किया जाएगा।

आलोचना का जन्म

प्रायः यह कहा जाता है कि लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के बाद लक्षणा-ग्रन्थों का निर्माण होता है। यह बात इतनी जड़ पकड़ गयी है कि इस दृष्टि से ऊपर उठने का प्रयास ही नहीं किया गया। इससे आलोचना के स्वरूप को समझने में बड़ी बाधा हुई है। सम्भवतः जो आज तक आलोचना का स्वरूप पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं किया जा सका इसका प्रधान कारण यह विश्वास ही है कि लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही लक्षणा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है क्योंकि इसके आधार पर यह समझ लिया जाता है कि आलोचना साहित्य पर आश्रित है और उसका कार्य साहित्य की व्याख्या-विवेचन-मूल्यांकन है। यह धारणा कितनी भ्रान्त है और आलोचना के स्वरूप को समझने में कितनी बाधक सिद्ध हुई है इसका ज्ञान इस समग्र विवेचन को पढ़ लेने के बाद ही होगा।

पहले तो हम इस बात पर ही विचार करें कि क्या लक्षणा-ग्रन्थों का निर्माण लक्ष्य-ग्रन्थों के उपरान्त ही हुआ है। इसके लिए हमें भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र से उत्तर प्राप्त हो सकता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना की प्रेरणा को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। अन्य चारों वेदों से उपकरण लेकर ही पाँचवें वेद नाट्यशास्त्र की रचना हुई है। इसमें कहीं भी यह नहीं कहा गया कि नाटकों को देखकर नाट्यशास्त्र की रचना की गयी है। अतः यह मान्यता कि लक्षणा-ग्रन्थ लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही निर्मित हुए, सर्वथा भ्रान्त है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि हमारे यहाँ किस प्रकार एक भ्रान्ति बद्धमूल होकर निरन्तर साधना को ग्रसित किये रहती है। स्पष्ट है कि ऋग्वेद आदि लक्ष्य-ग्रन्थ नहीं हैं। यहाँ लक्ष्य-ग्रन्थ का अभिप्राय काव्य-ग्रन्थ है और जो रचना काव्य के अन्तर्गत समाहित नहीं की जा सकती यदि उसे लक्षणा-ग्रन्थ का आधार बनाया जाए तो स्पष्टतः उपर्युक्त मान्यता खण्डित हो जाती है। जब पाठ, गीत, अभिनय और रस का आधार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद हैं तो फिर स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के निर्माण का प्रेरणा-स्रोत नाटक नहीं है वरन् नाटक का आधार नाट्यशास्त्र है। परवर्ती साहित्यिक विकास से भी इस सत्य की पुष्टि होती है।

उपर्युक्त तथ्य से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। वह यह कि नाट्य-शास्त्र नाट्य-साहित्य से सर्वथा स्वतन्त्र तथा वेदों के आधार पर निर्मित ग्रन्थ

है। नाट्यशास्त्र को पाँचवाँ वेद भी कहा गया है। इससे उसके महत्त्व की अनन्यता भी स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार साहित्य-विषयक चिन्तन का आधार आरम्भ में साहित्य नहीं था वरन् वह एक स्वतन्त्र साधना के रूप में उदित हुआ था। आगे इस बात का विवेचन विस्तार से किया जाएगा कि आलोचना को काव्याश्रित मान लेने से आलोचना के विकास में कितनी अधिक बाधा पड़ी है।

इसी प्रसंग में इस पक्ष पर भी विचार करना अनिवार्य है कि वेदों को आधार मानकर नाट्यशास्त्र की रचना करने में कहाँ तक सामाजिक जीवन की स्वीकृति हुई है। वेद क्या हैं ? वेद वस्तुतः आर्यों के आरम्भिक समग्र जीवन के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। वेदों से उस युग के जीवन का धार्मिक पक्ष ही स्पष्ट नहीं होता वरन् उसका समग्र रूप ही प्रकाशित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र का आधार आर्यों के समग्र जीवन की व्यवस्था ही थी। इस बात की सिद्धि नाट्यशास्त्र के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी की जा सकती है। उसमें स्थान-स्थान पर लोकवृत्त और लोकस्वभाव की चर्चा की गयी है। नाटक की कथावस्तु, घटनाएँ, पात्र, अभिनय आदि सभी की श्रेष्ठता का आधार लोकजीवन को ही माना गया है। कथा के प्रसंग में जो दैवी एवं ऐतिहासिक वृत्तान्तों का समावेश है वे भी लोकजीवन के ही स्थायी अंग हैं। कारण यह है कि किसी भी देश अथवा जाति का समग्र जीवन केवल उसके वर्तमान तक ही सीमित नहीं होता। इतिहास और परम्परा का एक रूप भी वर्तमान का जीवन्त अंग हुआ करता है। इसीलिए प्रायः ऐसा होता है कि युगानुरूप प्राचीन पात्रों की भावना में विकास होता रहता है। राम और कृष्ण के चरित्र को ही लीजिए। उनके आरम्भिक उल्लेख से लेकर आज तक उनको आधार बनाकर जो साहित्य-रचना हुई है यदि उसका विकासात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार देश का प्राचीन देश के वर्तमान का जीवन्त अंश होता है। कई युगों की चेतना को राम और कृष्ण के व्यक्तित्व ने वाणी दी है।

राम और कृष्ण व्यक्ति होते हुए भी व्यक्ति नहीं हैं। वे युगनायक हैं और इस नाते अपने युग के समग्र जीवन को व्यक्त करनेवाले प्रतीक हैं। प्राचीन युग व्यक्तिवादी युग था। इसलिए जब हम प्राचीन साहित्य एवं साधना का अध्ययन करते हैं तो वहाँ हम व्यक्ति के चरित्र को ही प्रधान रूप में चित्रित पाते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में सामाजिक जीवन की, सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा हुई है। यह बात कुछ हद तक ठीक है। मगर कुछ हद तक ही। व्यक्ति का जीवन किसी-न-किसी रूप में तथा किसी-न-किसी अंश तक सामाजिक जीवन के सामान्य सत्य को लिये रहता

है। यह ठीक है कि उसे सामान्य सत्य का सामाजिक यथार्थ नहीं कहा जा सकता। किन्तु साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोकनायक के जीवन के आधार पर लोकजीवन की झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है।

इसलिए जब हम राम और कृष्ण को आज तक के साहित्यिक विकास में वर्तमान पाते हैं तो इसका यह तात्पर्य भी निकलता प्रतीत होता है कि प्राचीन युग किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। इस प्रकार प्राचीन वर्तमान भी हो सकता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर यह बात अन्तर्विरोधी प्रतीत होती है। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन का एक अंश वर्तमान की जीवन्त भूमिका के रूप में सदैव जीवित रहता है। यह सत्य है कि प्राचीन का बहुत-सा भाग ऐसा भी होता है जो कालक्रम में तिरोहित हो जाता है। वह मीनार का पत्थर न होकर नींव का पत्थर बन जाता है। किन्तु प्राचीन प्रतीकों के माध्यम से नवीन जीवन-चेतना अपने को व्यक्त करने का प्रप्रास भी करती रही है और इस प्रयास में इसे सफलता भी मिलती रही है। इस बात से जीवन के विकास के सत्य की अवमानना के अवसर भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, इससे सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता है।

यद्यपि नाट्यशास्त्र में जीवन को आधार बनाकर विवेचन का प्रयास किया गया था किन्तु परवर्ती कालों में यह स्वस्थ परम्परा बहुत-कुछ नष्ट ही हो गयी। जीवन का स्थान साहित्य ने ले लिया और इस प्रकार परवर्ती काव्य-शास्त्र स्वावलम्बी न होकर परजीवी हो गया। काव्यों के अध्ययन के आधार पर अनुगम विधि से सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास किया जाता रहा और सिद्धान्तों का परस्पर खण्डन-मण्डन भी साहित्य के आधार पर ही किया जाता रहा। यह स्थिति आधुनिक काल के तीसरे चरण तक बनी रही और उसके बाद आज तक भी काफ़ी प्रभावशाली है। इसके प्रभाव का अन्दाज़ा इस उक्ति के प्रचार से लगाया जा सकता है कि लक्ष्य-ग्रन्थों के उपरान्त ही लक्षणा-ग्रन्थों का निर्माण होता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के उपरान्त जो काव्यशास्त्र का विकास हुआ है उसका प्रधान केन्द्र रहा काव्य।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए आलोचना के दो आधार रहे हैं—एक जीवन तथा दूसरा साहित्य। इनका विस्तृत विवेचन आज तक नहीं हुआ। इसे हिन्दी-आलोचना की एक बहुत बड़ी सीमा ही समझना चाहिए। यहाँ सैद्धान्तिक धरातल पर इसके विवेचन का प्रयास किया जायेगा।

आलोचना के दो आधार : जीवन तथा साहित्य

आलोचना के स्वरूप का सही-सही स्पष्टीकरण करने के लिए उसके

आधार का निश्चय कर लेना अत्यन्त अनिवार्य है। यह आवश्यकता आज और भी अधिक है क्योंकि प्रायः सभी यह मानते हैं कि आलोचना का आधार साहित्य है। इस मत के अनुसार यह माना जाता है कि काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर तथा उनके विविध पक्षों के मनन के फलस्वरूप ही काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। 'काव्यशास्त्र' नाम का प्रचलन एवं प्रचार भी इसी तथ्य का व्यंजक है कि यह एक ऐसा शास्त्र है जिसका आधार काव्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भरत के बाद के सभी आचार्यों में यही विश्वास प्रचलित था और उनके काव्यशास्त्र के ग्रन्थ चाहे कितने ही गम्भीर एवं प्रौढ़ क्यों न हों, उनकी सबसे बड़ी सीमा यही विश्वास था।

यह पूछा जा सकता है कि क्या मैं आलोचना को या काव्यशास्त्र को काव्य से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र मानने के पक्ष में हूँ? वस्तुतः यह एक ऐसा प्रश्न है जो सरल न होकर जटिल है। इसके कई पक्ष हैं और इसलिए जब तक सभी पक्षों पर पूर्ण रूप से विचार नहीं कर लिया जाता इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि जटिल प्रश्न का सरल-सीधा उत्तर सम्भव ही नहीं है। यदि ऐसा प्रयास किया भी जायेगा तो वह वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट नहीं होगा।

इसमें सन्देह नहीं है कि काव्यशास्त्र के निर्माण में काव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी कही जा सकती है और ऐतिहासिक विकास के आधार पर भी। पूर्व तथा पश्चिम में आदिकाल से ही काव्य-सम्बन्धी चिन्तन काव्य-राशि से प्रेरणा-पोषण प्राप्त करता रहा है। काव्यों के अध्ययन के आधार पर महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना हुई है। अनुकरण एवं विरेचन सिद्धान्त तथा इस सिद्धान्त आदि की स्थापना में काव्यों का योगदान निश्चित एवं स्पष्ट है। किन्तु साथ ही यह मानना भी सही नहीं होगा कि इन सभी सिद्धान्तों का एकमात्र आधार काव्य ही है। काव्य उनका प्रधान आधार हो सकता है किन्तु समय-समय पर इन सिद्धान्तों के विविध पक्षों के स्पष्टीकरण में दर्शनशास्त्र तथा नीतिशास्त्र एवं आजकल समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान आदि का सहारा भी लिया जाता है। वस्तुतः यह समस्या काव्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध की समस्या है जिस पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जायेगा।

आज मानव-जीवन के विकास के सत्य के विषय में किसी को भी शंका नहीं हो सकती। मानव-जीवन का यह विकास जीवन-शक्ति की सभी साधनाओं के विकास का सम्मिलित रूप है। इस प्रकार जब सांस्कृतिक विकास के अन्तर्गत साहित्यिक विकास होता है तो वह समग्र सांस्कृतिक

जीवन से सम्बद्ध रूप से ही होता है। इस सत्य की स्वीकृति हो या न हो, या आंशिक रूप से हो यह दूसरी बात है। और साहित्य के इस विकास के साथ-साथ साहित्यशास्त्र के विकास की भी अपेक्षा होती है और इस प्रकार काव्य तथा काव्यशास्त्र में सामरस्य बना रहता है। इस समस्या पर प्रसंगानुसार विस्तार से विचार किया जायेगा।

आलोचना के उपर्युक्त दो केन्द्रों के आधार पर दो प्रकार की आलोचना की स्थिति सामने आती है। प्रथम प्रकार की आलोचना वह है जिसका प्रधान आधार काव्य है तथा द्वितीय प्रकार की आलोचना ऐसी भी हो सकती है जिसका प्रधान आधार लोक है। इन दो प्रकार की आलोचनाओं में से प्रथम प्रकार की आलोचना का ही विशेष प्रचार हुआ है। द्वितीय प्रकार की आलोचना का व्यावहारिक रूप बहुत अल्प मात्रा में सामाजिक आलोचना में लक्षित होता है किन्तु उसके सैद्धान्तिक रूप की समीक्षा बिलकुल नहीं हुई।

व्यावहारिक सुविधा के लिए उपर्युक्त दो प्रकार की साहित्य-समीक्षा के लिए हम दो नाम प्रस्तुत करते हैं। काव्याश्रित आलोचना को काव्यशास्त्र कहा जा सकता है और लोकाश्रित समीक्षा को आलोचना कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में काव्यशास्त्र और आलोचना शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया जायेगा। परवर्ती अध्यायों में आलोचना के विविध प्रकारों का विश्लेषण किया जायेगा। यदि वहाँ इस मूल बात को ध्यान में रखा जायेगा तो इन प्रयोगों से किसी प्रकार की उलझन उत्पन्न नहीं होगी।

काव्यशास्त्र के दो रूप हैं—एक सैद्धान्तिक, दूसरा व्यावहारिक। प्रायः काव्यशास्त्र से समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष का ही बोध होता है जो उचित ही प्रतीत होता है। व्यावहारिक काव्यशास्त्र के लिए व्यावहारिक आलोचना और सैद्धान्तिक काव्यशास्त्र के लिए सैद्धान्तिक आलोचना का प्रयोग किया जाता है जो व्यावहारिक और सैद्धान्तिक विश्लेषणों के भाव में किसी प्रकार की उलझन उत्पन्न नहीं करते।

काव्यशास्त्र तथा आलोचना के भेद का आधार है काव्य और लोक अथवा संस्कृति। द्वितीय आधार पर आलोचना को सांस्कृतिक आलोचना भी कहा जा सकता है। आगे के अध्याय में यही प्रयोग किया जायेगा। काव्यशास्त्र तथा आलोचना के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम काव्य तथा लोक अथवा संस्कृति के सम्बन्ध को स्पष्ट कर लें। स्थिर दृष्टि से देखते हुए साहित्य अथवा संस्कृति के सम्बन्ध पर विचार किया जा सकता है और विकासशील दृष्टि के आधार पर साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के सम्बन्ध पर विचार किया जा सकता है।

इस प्रयास की प्रथम आवश्यकता यह है कि संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

संस्कृति तथा सम्वद्ध विषयों का विवेचन एक अन्य पुस्तक 'सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य' में किया जा चुका है। यहाँ उसके कुछ अंश उद्धृत करना समीचीन होगा।

सांस्कृतिक परम्परा

संस्कृति शब्द का अर्थ : संस्कृति सामाजिक जीवन का वह व्यापक धर्म है जिसमें समाज की समग्र साधना, आकांक्षा एवं उपलब्धि आ जाती है। वैसे तो संस्कृति शब्द के विशेषण-रूप का प्रयोग व्यक्ति के लिए भी होता है यथा 'अमुक व्यक्ति संस्कृत है'। किन्तु संस्कृति शब्द का यह प्रयोग उसके मूल तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट नहीं करता। यह उसके वास्तविक अर्थ से भिन्न अर्थ देता है। लेकिन जो विशेष बात ध्यान देने की है वह यह है कि उपर्युक्त प्रयोग में 'संस्कृत' शब्द जिस अर्थ को व्यक्त करता है उसे वह संस्कृति शब्द के व्यापक अर्थ से—समाजगत अर्थ से ही ग्रहण करता है। व्यक्तिगत संस्कृति का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब समष्टिगत संस्कृति का ज्ञान हो क्योंकि व्यष्टि तो समष्टि का प्रतिनिधि स्वरूप है और प्रतिनिधि से स्वरूप के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उसका ज्ञान हो जिसका प्रतिनिधित्व वह करता है।

संस्कृति के स्वरूप को समझने में जो बाधाएँ पैदा होती हैं या उसके स्वरूप की सही जानकारी में जो अस्पष्टता पैदा होती है उसका कारण 'संस्कृत' शब्द के ऐसे रूढ़ प्रयोग ही हैं। शिष्टता के अर्थ में भी 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है और संस्कृति विशेष के प्रतिनिधि की विशेषता के लिए भी 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग हो सकता है।

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरण में संस्कृत शब्द के दो पक्ष हैं जिनके अनुरूप वह दो अर्थों का बोध कराता है। एक अर्थ तो यह है कि 'अमुक व्यक्ति संस्कृत है'। यहाँ उसकी शिष्टता दिखाने के लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार जैसे अंग्रेज़ी में शिष्ट व्यक्ति को 'कल्चर्ड' या 'सिविलाइज़्ड' कहा जाता है। यहाँ इन दोनों शब्दों का अर्थ शिष्टता है और इसी अर्थ में उपर्युक्त उदाहरण में संस्कृत शब्द का प्रयोग हुआ है।

और 'संस्कृत' शब्द का दूसरा अर्थ यह है कि अमुक व्यक्ति एक संस्कृति-विशेष का प्रतिनिधि है। लेकिन इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर होता है। इसके विपरीत 'शिष्ट' अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग काफ़ी ज़ोरों पर है।

पहले अर्थ ('शिष्ट') के अनुसार तो सभी व्यक्ति संस्कृत नहीं कहे जा सकते, यद्यपि दूसरे अर्थ के अनुसार वे सभी किसी-न-किसी संस्कृति विशेष के

प्रतिनिधि हैं। दूसरे अर्थ में हम संसार के सभी व्यक्तियों को संस्कृत कह सकते हैं, क्योंकि सभी जातियों की—चाहे वे आदिम जातियाँ ही क्यों न हों—अपनी एक संस्कृति होती है। किन्तु इतने व्यापक अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग नहीं होता। उसका प्रयोग केवल शिष्टता के अर्थ में होता है। इसी से भ्रान्ति का जन्म होता है।

भ्रान्ति

संस्कृत शब्द के इन दो अर्थों के कारण और शिष्टता के अर्थ में उसके प्रचलित प्रयोग के कारण संस्कृति के स्वरूप को समझने में कठिनाई का पैदा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि संस्कृति शब्द और संस्कृत शब्द सम्बद्ध हैं। संस्कृत व्यक्ति का सीधा अर्थ है वह व्यक्ति जिसमें शिष्टता है। इस प्रकार संस्कृति शब्द के सही अर्थ को समझने में जो परेशानी पैदा होती है उसका मूल स्वरूप यही है—'संस्कृति' और 'शिष्टता' शब्दों का अदल-बदल हो जाना। इसलिए सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि संस्कृति और शिष्टता की समानता या भेद का सही-सही विवेचन किया जाए।

पहली बात तो यह है कि संस्कृति और शिष्टता समानार्थक नहीं हैं। प्रश्न हो सकता है कि इतना तो सभी पढ़े-लिखे समझ सकते हैं। यह तो ठीक है लेकिन अगर इस बात को समझने के साथ-साथ यह भी ध्यान में रखें कि आप 'संस्कृत' और 'शिष्ट' शब्दों का प्रयोग समान अर्थों में करते हैं। इस तथ्य से यह भ्रान्ति पैदा हो सकती है कि 'संस्कृति' और 'शिष्टता' का अर्थ भी एक ही है। लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ नहीं है।

लेकिन यह बात इतनी सरल नहीं है और गहराई में उतरकर इन दोनों शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने की आवश्यकता है; और तब शायद संस्कृति का स्वरूप समझने में आसानी हो। क्योंकि यहाँ एक समस्या यह भी उठती है कि यद्यपि संस्कृति और शिष्टता समानार्थक नहीं हैं, तथापि दोनों में विशेष सम्बन्ध है। पहले दोनों के भेद को जानना होगा और फिर दोनों के सम्बन्ध की भी चर्चा करनी होगी।

व्यापक धर्म

संस्कृति शब्द का अर्थ है किसी भी समाज के जीवन का व्यापक धर्म जिसमें उसके सभी पहलू आ जाते हैं। किसी समाज के जीवन के सारे धर्मों की—गुणों एवं अवगुणों दोनों की समष्टि का नाम संस्कृति है। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो उसमें भारतीय समाज के गुण और अवगुण दोनों ही, सारे धर्म ही, आ जाते हैं। संस्कृति की मीमांसा करते समय आपको समाज के सभी गुणों-अवगुणों की मीमांसा करनी होती है।

इस रूप में हरेक जाति या समाज की अपनी एक संस्कृति है । उन्नत एवं विज्ञान के सभी साधनों से सम्पन्न समाज की भी अपनी एक संस्कृति होती है और जंगली अवस्था में रहनेवाली आदिम जातियों की भी अपनी-अपनी संस्कृति होती है ।

अगर यह सवाल पैदा हो कि संस्कृति में क्या-क्या धर्म आते हैं तो कहा जा सकता है कि भौतिक जीवन, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन और दार्शनिक जीवन सभी सांस्कृतिक जीवन के विविध पहलू हैं । इनका विवेचन मैंने 'युगद्रष्टा कबीर' में किया है ।

तो अब तक यह बात स्पष्ट हो गयी कि हरेक जाति की अपनी एक संस्कृति होती है, यह बात दूसरी है कि वह संस्कृति विज्ञान पर आधारित है, या अन्धविश्वास और रूढ़ियों पर । लेकिन हरेक जाति की अपनी एक संस्कृति अवश्य होती है । लेकिन क्या हरेक जाति शिष्ट होती है ? बस इस प्रश्न के साथ ही आप एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर पहुँच गये ।

आज यह मानते हुए भी कि हरेक जाति की अपनी संस्कृति होती है, सभी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि हरेक जाति शिष्ट होती है । इसका कारण यह है कि संस्कृति तो किसी भी जाति का यथार्थ गुण है, लेकिन शिष्टता सापेक्षिक विशेषता है । एक जातिवाले जिसे शिष्ट कहेंगे उसे दूसरी जाति-वाले असभ्य और जंगली कह सकते हैं ।

उदाहरण के लिए आज काले और गोरे रंग के आधार पर शिष्टता को नापनेवाले मदान्ध और मूर्ख राष्ट्रों को लीजिए । काले रंग की जातियाँ अपने सभी व्यक्तियों को शिष्ट मानती हैं और उनका आदर करती हैं, क्योंकि वे उनकी संस्कृति की सभी परम्पराओं का पालन करते हैं । इसके विपरीत गोरी चमड़ीवाले उन काले व्यक्तियों को अशिष्ट और असभ्य समझते हैं क्योंकि वे अपनी जाति की सांस्कृतिक परम्परा का पालन करते हैं । एक ही सांस्कृतिक परम्पराओं के पालन के कारण अपनी जातियों में उन श्याम व्यक्तियों का सम्मान होता है और गोरी चमड़ी वालों द्वारा वे अशिष्ट करार दिये जाते हैं ।

यह बात भी आप से छिपी नहीं होनी चाहिए कि रंगभेद की नीति अपनाने वाले दक्षिण अफ्रीका तथा अन्य राष्ट्रों के गोरों के मन में एक और भी बात है जिसके कारण वे ऐसा करते हैं और वह राजनीतिक भय है । अगर कालों को समान अधिकार दिये जाएँ, उन्हें शिष्ट मान लिया जाए तो गोरों की प्रभुसत्ता समाप्त हो जायगी और वे उनका शोषण न कर सकेंगे । इस 'राज-नीतिक' पक्ष के कारण दक्षिण अफ्रीका सरकार को सभी गोरों का समर्थन प्राप्त है । कोई भी गोरी सरकार उसका सबल विरोध नहीं करती क्योंकि सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं ।

खैर ! इस राजनीतिक वात को छोड़ें। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति और शिष्टता में कितना भेद है। एक जाति के लिए अपनी सांस्कृतिक परम्परा का पालन करनेवाले सभी व्यक्ति शिष्ट हैं और दूसरी जातिवालों के लिए वही व्यक्ति असभ्य हैं। और इसका कारण सांस्कृतिक नहीं, राजनीतिक है।

संस्कृति और शिष्टता के भेद को समझने के वाद अब दोनों के सम्बन्ध को भी देखना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन में शिष्टता-अशिष्टता का आधार क्या है ? संस्कृति ! आदिम-जाति के व्यक्ति को लोग क्यों अशिष्ट या असभ्य कहते हैं ? क्योंकि वह अपनी विशेष संस्कृति का पालन करता है। अगर वह हमारी सांस्कृतिक परम्परा को स्वीकार कर लें तो हम ही उसे शिष्ट कहने लगेंगे। इस शिष्टता का आधार भी हमारी सांस्कृतिक परम्परा ही होगी जिसे उसने ग्रहण कर लिया। स्पष्टतः हम व्यक्ति को शिष्ट कहते हैं उन सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के आधार पर जिनका वह पालन करता है।

संस्कृति और शिष्टता के इस भेद एवं सम्बन्ध को समझने के पश्चात् अब यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति और शिष्ट का एक ही अर्थ में प्रयोग करना कहाँ तक समीचीन है। लेकिन यह भी सोचिए कि एक बार जो प्रयोग चल पड़ा—चाहे वह कितना ही ग़लत क्यों न हो—उसे रोकना कहाँ तक सम्भव है।

अनेकरूपता

पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी समाज की संस्कृति का उल्लेख करते हुए हमें उस समाज की साधना, आकांक्षा और उपलब्धि का उल्लेख करना होता है। समाज की साधना अनेक-रूप होती है, उसकी आकांक्षा विविध होती है और उसकी उपलब्धियाँ भी असंख्य होती हैं। इसलिए संस्कृति—इस एक शब्द में कितनी विविधता और अनेकरूपता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

संश्लिष्ट गुण

संस्कृति समाज का संश्लिष्ट गुण है जिसमें जन-जीवन के विविध गुण आकर मिल जाते हैं। समाज ने राजनीति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के क्षेत्र में कितनी साधना की और क्या-क्या प्राप्त किया यह सब संस्कृति में ही आता है। समाज की अकांक्षाएँ क्या हैं, वे कहाँ तक पूरी हुई और वे कैसे पूरी हों, इत्यादि सभी बातों का विवेचन संस्कृति के विवेचन में करना होता है।

संस्कृति धर्म एक में अनेक या व्यष्टि में समष्टि का उदाहरण है क्योंकि इस धर्म में असंख्य धर्म आकर मिल जाते हैं। राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक विधान, दार्शनिक चिन्तन, कलात्मक सृजन सभी संस्कृति के अंग हैं। ये सब मिलकर जो एक रूप धारण करते हैं वह संस्कृति है।

संस्कृति इन सभी की समष्टि है। किसी एक धर्म को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। इन सबसे अलग संस्कृति कुछ भी नहीं है।

अखण्ड धर्म

लेकिन जो बात सबसे अधिक महत्त्व की है वह यह कि संस्कृति समाज का अखण्ड धर्म है। इसके जितने भी अंग हैं—राजनीति, सामाजिकता, कला, धर्म, दर्शन सभी परस्पर सम्बद्ध हैं, अन्योन्याश्रित हैं, एक ही नदी की विविध धाराएँ हैं जो अलग होने पर भी एक ही नदी का निर्माण करती हैं, उसी से जीवन पाती हैं। संस्कृति की अखण्डता इस तथ्य में है कि उसके सभी अंग या तत्त्व अन्योन्याश्रित हैं, सम्बद्ध हैं। एक का रूप दूसरे के स्वरूप को प्रभावित एवं नियन्त्रित करता है।

राजनीतिक जीवन धार्मिक जीवन को नियन्त्रित एवं प्रभावित करता है और स्वयं भी उससे नियन्त्रित एवं प्रभावित होता है। यही बात सामाजिक और दार्शनिक चेतना के बारे में भी कही जा सकती है। किसी भी समाज की दार्शनिक चेतना उसकी सामाजिक चेतना को नियन्त्रित एवं प्रभावित करती है और स्वयं भी उससे इसी प्रकार प्रभावित एवं नियन्त्रित है। सांस्कृतिक चेतना के सभी स्तरों या सभी धाराओं का—भौतिक चेतना, सामाजिक चेतना, धार्मिक चेतना, दार्शनिक चेतना सभी का विकास प्रायः एक साथ होता है। अपने विकासात्मक रूप में ये सभी पहलू परस्पर अभिन्न रूप से सम्बद्ध रहते हैं, साथ-साथ चलते-फिरते उठते-गिरते हैं।

यदि ऐसा न होता, यदि सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलू पूर्ण रूप से परस्पर सम्बद्ध न होते, यदि उनका विकास अभिन्न रूप से न होता तो संस्कृति नाम की कोई चीज़ ही न होती। सामाजिक जीवन में संगठन न होता, विघटन होता; सम्बद्धता न होती, उच्छृंखलता होती। और विभिन्न संस्कृतियों के विकास में कभी-कभी ऐसा भी होता है।

सांस्कृतिक विशृंखलता

जब तक सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलू सम रूप से, सम्बद्ध रूप से, अभिन्न रूप से विकासमान रहते हैं समाज में संगठनपूर्ण शान्ति रहती है। लेकिन जब सांस्कृतिक जीवन के एक भी पक्ष में विशृंखलता आती है, जब एक भी पक्ष अन्य पक्षों से विमुख होने लगता है, उनसे स्वतन्त्र होना चाहता है, उनका तिरस्कार करता है, तभी समाज में विशृंखलता और विघटन का आरम्भ होता है। समाज के भीतर संघर्ष आँखें खोलने लगता है। रोषपूर्ण हुँकार सुनायी देती है। सांस्कृतिक जीवन के भीतर भीषण अन्तर्द्वन्द्व फूट पड़ता है और यह तब तक रहता है जब तक कि सांस्कृतिक जीवन फिर से सम नहीं होता, उसकी सब धाराओं में फिर से सन्तुलन और संगठन नहीं आ जाता।

उदाहरण

इस तथ्य को प्रमाणित करनेवाले असंख्य उदाहरण हमें मिलते हैं, भारतीय संस्कृति के विकास में ही मिलते हैं। वैदिक युग वैदिक संस्कृति की दृष्टि से सन्तुलन का युग था। उस युग की संस्कृति सम थी। जीवन के सभी पक्ष परस्पर सम्वद्ध थे। बाह्य-संघर्ष थे, भारत के आदि निवासियों से आर्यों का संघर्ष था लेकिन आर्यों की अपनी संस्कृति सम थी, व्यवस्थित थी। और इसीलिए उसकी विजय हुई।

आगे चलिए। ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। वर्णाश्रम व्यवस्था दृढ़ हुई। यज्ञ-विधान का आडम्बर फैला। पशुओं के बलिदान से आर्य-भूमि रक्त-रंजित होने लगी। यह सब धर्म के नाम पर था। उस समय सांस्कृतिक जीवन का धार्मिक पहलू अन्य पहलुओं को दबाकर आगे बढ़ना चाहता था, अन्य पहलुओं पर हावी होना चाहता था। सांस्कृतिक जीवन क्षुब्ध हो उठा, विषमता अंकुरित हुई, विशृंखलता हुंकार भर उठी, सामाजिक जीवन का सहज समत्व या सन्तुलन टूक-टूक हो गया।

सामरस्य

जब भी सामाजिक जीवन का समत्व खंडित होता है, तभी सामाजिक शक्तियाँ नये रूप से जागकर नयी दिशा की ओर बढ़ने लगती हैं। यह मानव-समाज का मूलभूत नियम है। समत्व या सामरस्य समाज का सहज गुण है। और समाज इसका नाश सहन नहीं करता। जब भी यह सामरस्य नष्ट होता है समाज भारी बाधाओं के बावजूद भी स्वयं उसे पुनः स्थापित करने के लिए जाग उठता है, चल पड़ता है। समाज के भीतर स्वयंमेव गूँजने लगता है—"उत्तिष्ठत जाग्रत वरन्नबोधत'—उठो, जागो, श्रेष्ठ को प्राप्त करो। और फिर समाज उठता है, जागता है, श्रेष्ठ को प्राप्त करता है। सांस्कृतिक जीवन में यह श्रेष्ठ उसका सामरस्य ही है।

ब्राह्मण-काल में जब भारत का सांस्कृतिक जीवन विषम हुआ, उसके भीतर अपने-आप, आधारभूत नियम के अनुसार, वे तत्त्व उभरने लगे, जो सांस्कृतिक जीवन को सामरस्य प्रदान कर सकते थे। वे तत्त्व शक्ति पकड़ने लगे। वे तत्त्व शक्तिशाली हो उठे। अब सिर्फ़ उन तत्त्वों को भड़काने की आवश्यकता थी, बारूद जमा हो गया था, आँच दिखाने की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता भी पूरी हुई। शाक्य मुनि ने अपनी एक ललकार से इन तत्त्वों को भड़का दिया। बस एक विराट परिवर्तन का सूत्रपात हुआ और वह पूर्ण हुआ।

बौद्ध-धर्म ने भारत के सांस्कृतिक जीवन को पुनः समरस बनाया। उसका खोया समत्व उसे प्राप्त हुआ। उसके सभी पहलू परस्पर सम्बद्ध होकर चलने लगे।

बौद्ध-धर्म की असफलता

लेकिन बौद्ध-धर्म ने जो सांस्कृतिक-क्रान्ति की वह स्थायी न हो सकी। उसमें भी आगे चलकर बुराइयाँ पैदा होने लगीं। उसमें इहलोक की अपेक्षा परलोक को प्रधानता दी। और जो बौद्ध-धर्म की सबसे बड़ी कमज़ोरी थी, वह यह कि उसने प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं को अस्वीकार कर दिया। वेदों को अस्वीकार किया। उनका विरोध किया। यह उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी। यदि पुरानी परम्पराओं का पूर्ण बहिष्कार न किया गया होता तो शायद आज भी बौद्ध-धर्म विद्यमान रहता। उसके जन्म में ही यह अभाव उसके साथ था। और जैसे-जैसे उसकी उन्नति हुई, वैसे-वैसे उसकी यह कमज़ोरी भीषण रूप धारण करने लगी।

और इस कमज़ोरी के साथ उसमें अन्य कमज़ोरियाँ आयीं। बौद्ध-विहारों में भिक्षुओं और भिक्षुणियों का जीवन अवांछित सीमाओं को छूने लगा। देश के सांस्कृतिक जीवन में फिर एक बार उच्छृंखलता पैदा हुई, उसका सहज सामरस्य नष्ट हुआ।

फिर से समाज का आधारभूत नियम, सामरस्य की स्थापना का सहज नियम, क्रियाशील हुआ। शंकराचार्य और कुमारिल आये। फिर वैष्णव आचार्य आये। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आये। सबके प्रयासों में समाज का यही मूलभूत स्वभाव कार्य कर रहा था—सतुन्लन की प्राप्ति, सामरस्य की प्रतिष्ठा।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं :

(१) सामरस्यपूर्ण सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलू सम्बद्ध-अभिन्न रूप से विकासमान रहते हैं, और

(२) जब किसी एक पहलू के कारण विषमता पैदा होती है समाज अपने आधारभूत नियम के अनुसार—सामरस्य की प्रतिष्ठा के सहज नियम के अनुसार—क्रियाशील होता है और फिर सामरस्य की प्रतिष्ठा होती है।

वर्तमान व्यवस्था

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है और वह है वर्तमान समाज की सांस्कृतिक अवस्था की बात।

आज भी भारतवर्ष में एक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा है। क्योंकि आज का हमारा सांस्कृतिक जीवन भी विश्रृंखल है, उसमें सामरस्य का अभाव है और ऐसी शक्तियाँ भी समाज में दिखायी देती हैं जो फिर से अपने सांस्कृतिक जीवन को समरस बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। वर्तमान अवस्था पर विचार करने से पूर्व हमें फिर उस काल तक जाना होगा जहाँ हमने उपर्युक्त विवेचन छोड़ा था—बौद्ध-धर्म के पश्चात् के सांस्कृतिक प्रयास।

उपर्युक्त विवेचन में यह दिखाया जा चुका है कि बौद्ध-धर्म में जो

कमज़ोरियाँ थीं उनके फलस्वरूप देश का सांस्कृतिक जीवन फिर से विषम हो उठा और समाज की शक्ति फिर से सामरस्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुई। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सामरस्य-स्थापना का यह प्रयास कभी भी पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ और आज तक यह प्रयास असफल होता चला आ रहा है। आज की सांस्कृतिक विषमता या विशृंखलता उसी युग से चली आ रही है। इस तथ्य से चमत्कृत होने की आवश्यकता नहीं। उस पर ध्यान से विचार करने की आवश्यकता है।

एक प्रश्न

प्रश्न होता है कि क्यों हमारा समाज इतने दीर्घकाल में—लगभग ढाई हज़ार वर्षों के भीतर भी—अपने सांस्कृतिक-सामरस्य की स्थापना नहीं कर सका? इस पर बड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है और अपेक्षित गम्भीरता को उत्पन्न करने के लिए प्रश्न को और अधिक विस्तार से स्पष्ट रूप में रखने की कोशिश पहले की जायेगी, क्योंकि शायद कुछ लोगों को इस प्रश्न की सत्यता पर ही विश्वास न हो।

पृष्ठभूमि

बौद्ध-धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ दो थीं—प्रथम अहिंसा, द्वितीय सामाजिक भेद-भाव का अभाव। महात्मा बुद्ध ने मनुष्य-मनुष्य की एकता का नाद किया। ब्राह्मण-धारा ने चार वर्ण माने और उन चारों में ऊँच-नीच की भावना (जो पहले भले ही न रही हो) आगे चलकर बद्धमूल हो गयी। वर्णभेद कहते ही जिस बात का ध्यान आता है वह ऊँच-नीच की भावना है जो मानव-मानव की सहज एकता को खण्डित करने का कृत्रिम आवरण है। यह सत्य है कि समाज ने जो बौद्ध-धर्म को आदर दिया वह मुख्यतः इन्हीं दो बातों के कारण—अहिंसा और सामाजिक समता।

बौद्ध-धर्म के विशृंखल हो जाने के बाद जो प्रयत्न आरम्भ हुआ उसने सामाजिक एकता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वैष्णव-आचार्यों ने अहिंसा को पूर्णतः स्वीकार किया किन्तु वर्णभेद को दृढ़ करने की चेष्टा की। हाँ, इतना अन्तर अवश्य आया कि भक्ति के क्षेत्र में वर्णभेद को त्याज्य माना गया लेकिन लौकिक क्षेत्र में इसे वैसा ही रहने दिया गया। स्पष्टतः इसका परिणाम यह हुआ कि वे आन्दोलन जो सांस्कृतिक जीवन के सामरस्य की स्थापना करना चाहते थे पूर्णतः सफल न हुए। कारण स्पष्ट है, वह यह कि उसने समाज की आकांक्षा को पूर्णतः नहीं पहचाना। वैष्णव आचार्यों और गोस्वामी तुलसीदास के प्रयास इसी श्रेणी के हैं। उन्हें सफलता तो मिली लेकिन आंशिक। इसलिए हम इस सांस्कृतिक आन्दोलन को पूर्ण आन्दोलन नहीं कह सकते, ये अपूर्ण आन्दोलन थे।

यह कहा जा सकता है कि समाज में अपूर्ण आन्दोलन क्यों होते हैं और उन्हें सफलता, चाहे आंशिक ही हो, क्यों मिलती है ?

अपूर्ण आन्दोलन

उत्तर स्पष्ट है। समाज के भीतर ही ये अपूर्ण आन्दोलन भी जन्म लेते हैं, इन्हें जन्म देनेवाला भी समाज है। लेकिन यह कह सकते हैं कि इन आन्दोलनों की जड़ें पूर्ण समाज में नहीं होतीं। केवल उसके एक भाग में होती हैं। और अपूर्ण आन्दोलन का भी समाज पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसे जितना, जो जहाँ से प्राप्त हो वह उसे ग्रहण करता है। लेकिन ये अपूर्ण आन्दोलन सांस्कृतिक जीवन में स्थायी सामरस्य स्थापित नहीं कर सकते। इसके लिए तो पूर्ण आन्दोलन की आवश्यकता होती है।

बौद्ध-धर्म से उत्पन्न विश्रृंखलता को दूर करने के लिए जो सांस्कृतिक आन्दोलन हुआ उसकी दो धाराएँ हैं—एक तो वैष्णव आचार्यों एवं तुलसी वाली; दूसरी सिद्धों, नाथों और सन्तों वाली। तुलसी के सांस्कृतिक प्रयास अपूर्ण थे, क्योंकि उन्होंने समाज के एक भाग की आकांक्षा को, और जो उचित है, अस्वीकार किया। हमारा अभिप्राय सामाजिक एकता की आकांक्षा है जो बौद्धों द्वारा जगायी ही नहीं गयी वरन् पूरी भी हुई।

लेकिन कबीर आदि सन्तों द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन इस सामाजिक आकांक्षा को लेकर चलता है। सभी सन्त एक स्वर से मानव-मानव की एकता का उद्घोष करते हैं। लेकिन उन्हें भी पूर्ण सफलता न मिली। इस पर भी विचार होना चाहिए।

सन्तों की कमज़ोरी

सन्तों की सबसे बड़ी कमज़ोरी वही है जो बौद्धों की थी। सन्त भी उन्हीं के समान नास्तिक थे। उन्होंने भी वेदों को अस्वीकार किया और अधिकांश समाज की आस्था निस्सन्देह आस्तिक धारा में थी। यही कारण है कि उनका प्रभाव सारी जनता पर नहीं पड़ा।

जिस प्रकार तुलसी के प्रयासों को समाज के एक भाग से प्रेरणा मिली थी, उसी प्रकार कबीर के सांस्कृतिक प्रयासों का आधार भी समाज का एक अंश था, जो पहले अंश से भिन्न था। दोनों द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक आन्दोलन आंशिक थे और इसीलिए दोनों को पूर्ण सफलता नहीं मिली।

भक्ति-काल में दो धाराएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में हमारी संस्कृति की दो स्पष्ट-निर्दिष्ट धाराएँ हो गयी थीं :

(१) परम्परावादी धारा—जो हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास में मूर्तिमान होती है।

(२) स्वच्छन्दतावादी धारा—जो हिन्दी-साहित्य में सन्त कबीर में मूर्तिमान होती है।

भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन में इन दोनों धाराओं की सत्ता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व जितने भी सांस्कृतिक आन्दोलन हुए, कभी भी उनकी इस प्रकार की दो धाराएँ नहीं रहीं। यह बात दूसरी थी कि उन सांस्कृतिक आन्दोलनों के पश्चात् प्रतिक्रियाएँ होती रहीं, लेकिन इस प्रकार का द्विविध रूप किसी भी आन्दोलन का नहीं रहा और वे दोनों धाराएँ आज तक चली आ रही हैं। इसलिए इन्हें पूरी तरह समझे बिना इनके बाद की भारतीय साधना को पूरी तरह समझना असम्भव है।

नामकरण

पहले इन दोनों धाराओं के नामकरण के बारे में विचार करना उपयोगी होगा। परम्परावादी धारा में वेद को स्वीकृति मिली और प्राचीन परम्पराओं को व्यक्त रूप से ग्रहण किया गया; यद्यपि बदलते समाज के अनुरूप उनमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया। यह परिवर्तन, अहिंसा, भक्ति आदि की स्वीकृति के रूप में है। तुलसीदास ने निगमागम-सम्मत मानस की रचना स्वान्तःसुखाय और बहुजनहिताय की थी। इसमें जहाँ एक ओर परम्परा को खुल्लम-खुल्ला महत्त्व दिया गया है वहाँ समाज का भी ध्यान रखा गया।

इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी धारा में बिना किसी परम्परा का आग्रह स्वीकार किये हुए स्वतन्त्र दृष्टि से लोक-परलोक की समस्याओं पर विचार किया गया। कबीरदास किसी भी परम्परा में बँधने के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन साथ ही सारग्राही प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन मूल बात यह है कि वे परम्परा के आधार पर चिन्तन को नहीं नियन्त्रित करते वरन् स्वच्छन्द चिन्तन के आधार पर हरेक समस्या का मूल्यांकन करते हैं।

परम्परावादियों में बुद्धि मुख्यतः परम्परा के अनुसार चलती है, स्वच्छन्दतावादियों में परम्परा बुद्धि के अनुरूप बदलती है। दोनों में दोनों को महत्त्व मिला है लेकिन एक में परम्परा प्रधान है, बुद्धि गौण; दूसरे में बुद्धि प्रधान है और परम्परा गौण।

सह-अस्तित्व

ये दोनों धाराएँ साथ-साथ विकसित हुई। दोनों के विकास में सह-अस्तित्व का अच्छा उदाहरण मिलता है। लेकिन प्रच्छन्न रूप से दोनों में संघर्ष होता रहा और आज तक चला आ रहा है। आज भी हमारी संस्कृति और साहित्य में ये दोनों परम्पराएँ विद्यमान हैं, उनका संघर्ष हो रहा है। और जब तक यह संघर्ष जारी है, हमारा सांस्कृतिक जीवन सामरस्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

साहित्य में हमें ये दो धाराएँ मिलती हैं और जैसा कि पहले कहा जा चुका है दोनों धाराओं को प्रेरणा देनेवाले समाज के विविध अंग हैं। साहित्य के क्षेत्र में इन दोनों धाराओं का होना इस बात का प्रमाण है कि इस युग के हमारे सामाजिक जीवन में इस प्रकार के दो दल थे।

इन दोनों धाराओं में एक को भी पूर्ण सफलता नहीं मिली। इसका कारण यही था कि समाज में भी ये दो धाराएँ थीं। और आज भी हमें ये दोनों धाराएँ दिखायी देती हैं—साहित्य में भी और समाज में भी। एक ओर हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार दिया जा रहा है और दूसरी ओर ब्राह्मणों की परम्परा में वैसी ही दृढ़ता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जो द्विविध सांस्कृतिक आन्दोलन चले वे दोनों आज तक चल रहे हैं और परस्पर-विरोधी हैं। एक बात साफ़ है। इस बीच के युग में हमारे सांस्कृतिक जीवन की विशृंखलता, या संघर्ष का केन्द्रबिन्दु है वर्णभेद या सामाजिक एकता। एक धारा वर्णभेद को मानती है, दूसरी नहीं। हमारे सांस्कृतिक आन्दोलन की जड़ वर्ण-व्यवस्था में ही है।

संस्कृति समाज का संश्लिष्ट गुण है। समष्टिगत जीवन की विशेषताओं के लिए ही संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार धर्म, दर्शन, नीति, राजनीतिक एवं आर्थिक अवस्था आदि संस्कृति का अंग हैं, उसी प्रकार साहित्य भी संस्कृति का अंग है। जब हम संस्कृति और साहित्य का अलग-अलग उल्लेख करते हैं तो यह केवल एक व्यावहारिक प्रयोग ही समझना चाहिए। वस्तुतः संस्कृति और साहित्य अखण्ड, अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हैं।

संस्कृति के अन्य अंगों—धार्मिक आदि की—तथा साहित्य की स्थिति में थोड़ा अन्तर है। धार्मिक आदि साधनाओं का एक विशिष्ट रूप एवं सीमा है। वे जीवन के एक विशिष्ट अंश का ही स्पर्श करती हैं। इसके विपरीत साहित्य की सीमाएँ बहुत व्यापक हैं। सिद्धान्त में तो वे उतनी ही व्यापक हैं जितनी कि संस्कृति का आयाम है। किन्तु व्यवहार में कोई एक साहित्यिक रचना उतनी व्यापक चेतना का पूर्ण रूप से स्पर्श नहीं करती। इसके कारण हैं जो कुछ तो साहित्य के रूप और कुछ साहित्यकार के व्यक्तित्व की सीमाओं में विद्यमान होते हैं। यद्यपि साहित्यकार ऐसे प्रयास भी करते हैं जो उनके युग की समग्र जीवन-साधना को समाविष्ट करने की आकांक्षा करते हैं किन्तु फिर भी उसे वैसी व्यापकता और यथार्थता प्राप्त नहीं हो सकती जैसी कि संस्कृति को प्राप्त है।

साहित्य संस्कृति के अन्य अंगों—दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक,

राजनैतिक आदि को आत्मसात कर उन्हें मुखर करता है। यही कारण है कि साहित्य की सर्जना एवं प्रभावगत सीमाएँ इन विशिष्ट अंगों से व्यापक होती हैं। प्रत्येक साहित्यकार तथा प्रत्येक युग के साहित्य की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जिसके अध्ययन से न केवल साहित्य के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है वरन् सम्बद्ध सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन में भी सुभीता होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति और साहित्य घनिष्ठ-अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में यह एक आधारभूत तत्त्व है। क्योंकि इस सत्य के उद्घाटन के उपरान्त यह सवाल किया जा सकता है कि जब साहित्य और संस्कृति इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं तो फिर इनको समीक्षा के दो आधारों के रूप में स्वीकार करने की क्या संगति है? यह आक्षेप बहुत हद तक सही है किन्तु इसके मर्म तक पहुँचने की अपेक्षा है।

साहित्य के दो पक्ष हैं—एक विषय-पक्ष, और दूसरा रूप-पक्ष। विषय और रूप की समस्या एक बड़ी जटिल समस्या है जिस पर प्रसंगानुसार विचार किया जायगा। यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त है कि विषय-पक्ष के अन्तर्गत तो साहित्य की जीवन-चेतना या सांस्कृतिक-चेतना आ जाती है और रूप-पक्ष के अन्तर्गत उसके विशिष्ट आकार, अभिव्यक्ति अथवा विधाओं को स्वीकार किया जाता है। यदि इन पक्षों की दृष्टि से प्रस्तुत समस्या पर विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि साहित्य का विषय तो पूर्ण रूप से समकालीन सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित होता है। रहा रूप का सवाल। क्या सांस्कृतिक चेतना साहित्य के रूप को भी प्रभावित करती है? यहाँ इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इतिहास से उसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि सांस्कृतिक जीवन साहित्य के रूपों को प्रभावित करता है। छन्द, अलंकार, भाषा एवं विधाओं के विकास से इस पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। जैसे-जैसे साहित्य व्यक्तिवादी युग से समाजवादी युग की ओर अग्रसर होता है, वैसे-वैसे भाषा का वह रूप तथा साहित्य की वे विधाएँ अधिक प्रसार अतः परिष्कार प्राप्त करती हैं जो जन-जीवन के निकट होती हैं।

किन्तु एक बात स्पष्ट है। जहाँ तक विषय का सवाल है वह तो पूर्ण रूप से सांस्कृतिक चेतना में समाहित हो जाता है किन्तु रूप सांस्कृतिक जीवन से प्रभावित होने पर भी एक विशिष्ट सत्ता रखता है और इसलिए विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा करता है। इस प्रकार साहित्य का अध्ययन द्विविध होना चाहिए—एक विषय का अध्ययन, द्वितीय रूप का अध्ययन। और इसी आधार पर समीक्षा के दो रूपों की उद्भावना की गयी है—एक आलोचना और द्वितीय काव्यशास्त्र। आलोचना का प्रधान क्षेत्र विषय है और काव्य-

शास्त्र का प्रधान क्षेत्र रूप है। साहित्य-समीक्षा के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें काव्यशास्त्र का अंश अधिक है और आलोचना का अंश कम। आधुनिक युग में जो आलोचना का विकास हुआ है वह भी बहुत अंशों तक काव्यशास्त्र द्वारा अनुप्राणित ही रहा है।

यदि संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास को ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमें आलोचना का अंश नगण्य है। उन ग्रन्थों का अधिकांश भाग अलंकारों, रीतियों, गुणों, दोषों, विविध विधाओं के लक्षणों आदि का ही प्रदर्शन है। विषय का जो स्पर्श हुआ है वह आनुषंगिक रूप से ही। इस सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जा सकता है कि रस और ध्वनि आदि का सम्बन्ध केवल रूप से ही नहीं है। इन सिद्धान्तों तथा प्रबन्ध-वक्रता आदि में विषय का स्पर्श भी किया गया है।

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि रस की मूल स्थापना नाटक के एक उपकरण के रूप में ही हुई थी। वह अभिनय का एक रूप था और फिर भामह आदि अलंकारवादियों ने भी उसे अलंकारों के अन्तर्गत मानकर उसे रूप में समाविष्ट करने का प्रयास किया था। भट्टनायक तथा अभिनव आदि आत्मवादी चिन्तकों की मेधा का सहारा पाकर ही रस को काव्य-रूप के अन्तर्गत नहीं वरन् काव्य के आस्वाद से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया। इसी प्रकार ध्वनि का सम्बन्ध भी काव्य के अध्ययन एवं आस्वाद के साथ ही सिद्ध किया जा सका। अतएव इन सिद्धान्तों में भी विषय की पूर्ण स्वीकृति नहीं हुई और काव्य की समग्र चेतना के स्थान पर केवल उसके संवेदन-पक्ष को ही स्वीकृति मिली।

इस प्रकार काव्यशास्त्र का सम्बन्ध काव्य और प्रमुखतः काव्य-रूप से रहा। वह काव्याश्रित था और काव्य के रूप के विविध तत्त्वों की समीक्षा ही उसका लक्ष्य रहा। इसके अतिरिक्त उसने काव्य के आस्वाद की समस्या के समाधान का प्रयास किया। इन विषयों से सम्बद्ध जितने भी सिद्धान्त हैं वे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त ही हैं। इन सिद्धान्तों में विवेचन-दृष्टि लोकाश्रित न होकर काव्याश्रित ही रही। काव्य-प्रयोजन के प्रसंग में जो कान्तासम्मित उपदेश की चर्चा है वह आनुषंगिक रूप से ही रही। न तो कवियों ने और न ही काव्यशास्त्रियों ने इस प्रयोजन को उसकी पूर्णता में स्वीकार किया। इतना ही नहीं रस की प्रधानता इतनी बढ़ी कि अन्य सभी प्रयोजन पूर्ण रूप से दब गये।

आधुनिक युग में जब जन-जीवन अधिक मुखर और प्रभावशाली हुआ तो आलोचना के विकास के कुछ लक्षण दिखायी दिये। युग-चेता विचारकों ने काव्य-रूप के अतिरिक्त काव्य-विषय की ओर भी ध्यान देने का उपक्रम

किया और समाजवादी आलोचना में इस दिशा की ओर विशेष प्रगति हुई। किन्तु फिर भी अधिकांश आलोचक काव्य-रूप के विवेचन में ही अधिक व्यस्त रहे। इस प्रकार अधिकांश समीक्षा काव्यशास्त्रीय अधिक रही और सांस्कृतिक कम।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि आलोचना और काव्यशास्त्र एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों सम्बद्ध रूप से मिल-कर कार्य कर सकते हैं। और इसी प्रकार कार्य करने से ही साहित्य के समग्र रूप का अध्ययन हो सकता है।

संस्कृति के विकास के सत्य में साहित्यिक विकास का सत्य भी अन्तर्निहित है। और साहित्य के विकास की माँग है कि काव्यशास्त्र का भी अनुरूप विकास हो। सैद्धान्तिक एवं निर्णयात्मक आलोचना के विवेचन में इस पर विस्तार से विचार किया जायगा।

साहित्यिक विकास के अनुरूप आलोचना की दृष्टि का विकास भी अपेक्षित है। किन्तु यह क्षेत्र बहुत विवाद का क्षेत्र है। कारण यह है कि जब तक जीवन-विषयक दृष्टि स्थिर नहीं हो जाती तब तक आलोचना-दृष्टि भी स्थिर नहीं हो सकती। कारण यह है कि आलोचना का आधार है संस्कृति। और संस्कृति के मूल्यों को लेकर तीव्र वादविवाद चलता दिखायी देता है। इसीलिए आलोचना के क्षेत्र में विरोध एवं संघर्ष दिखायी देता है।

आलोचना के इस पक्ष को समझने के लिए आलोचना के सांस्कृतिक आधार एवं दोनों के सम्बन्ध के रूप को समझना अनिवार्य है।

जहाँ तक काव्य-रूप का सवाल है काव्यशास्त्रीय चिन्तन में उसको अपेक्षित महत्त्व मिला है। और मैं समझता हूँ कि यह स्वाभाविक भी था। किन्तु काव्यशास्त्र के विकास में काव्य के विषय की उपेक्षा ही हुई है। इसका कारण यह है कि प्राचीन-काल में साहित्य-समीक्षा को साहित्य से बाँध दिया गया था। आज भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो साहित्य-समीक्षा को साहित्यजीवी मानते हैं और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करते हैं। इस प्रकार की समीक्षा से साहित्य एवं जीवन के समरस विकास में अवरोध ही उत्पन्न होगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम साहित्य-समीक्षा को काव्य के साथ-साथ जीवन पर भी स्थित करें। जब तक यह नहीं किया जायगा तब तक न तो आलोचना के स्वरूप की वास्तविक प्रतिष्ठा होगी और न ही उसके यथार्थ महत्त्व का उद्घाटन होगा। इसलिए जीवन पर आधारित आलोचना के स्वरूप की प्रतिष्ठा की आवश्यकता है।

यह सवाल हो सकता है कि आलोचना, जिसका आधार हमने जीवन का

माना है, किस प्रकार से जीवन का उपयोग करती है तथा ऐसे कौन-से कार्य हैं जो आलोचना द्वारा सिद्ध होंगे ?

काव्य के रूप के विश्लेषण मात्र से काव्य के पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन नहीं हो जाता। यह कार्य काव्यशास्त्री का कार्य है और वह व्याख्या, गुण-दोष परिगणन-प्रणाली पर यह कार्य करता आ रहा है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में सिद्ध किया गया है काव्य जीवन के समग्र रूप और जीवन के व्यापक धर्म का एक लक्षण है, उसका एक अभिन्न अंग है। इस सत्य से किसी भी प्रकार इन्कार नहीं किया जा सकता। जब यह बात सिद्ध है तो यह विश्लेषण करने की अपेक्षा होगी कि काव्य का यह सांस्कृतिक पक्ष कहाँ तक समर्थ है। उसमें क्या-क्या दोष हैं, क्या उसकी सीमाएँ हैं और किस प्रकार से उसे पुष्ट किया जा सकता है। यह कार्य सांस्कृतिक आलोचक का कार्य है। स्पष्टतः यह कार्य काव्यशास्त्री के कार्य की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, जटिल एवं गम्भीर है और इसलिए इस कार्य की सिद्धि के लिए विशेष योग्यता, शक्ति एवं कुशाग्रता की आवश्यकता है। आज हमें केवल काव्य-शास्त्रीय विवेचन की ही आवश्यकता नहीं है। आज तो हम ऐसी चिन्तन-पद्धति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जो सामाजिकता पर आस्था रखती हुई व्यक्ति एवं समाज के सांस्कृतिक धरातल को उदात्त बना सके।

इतिहास में बार-बार ऐसी आवाज़ें सुनायी देती रही हैं कि साहित्य का मूल्य उसके अन्तरंग पर ही आधारित है अथवा साहित्य जीवन से एक सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है और इसलिए उसे सामाजिकता के बन्धन में रखकर नहीं परखा जा सकता। कला कला के लिए, कविता कविता के लिए और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता के नारे बार-बार सुनायी देते हैं। यही बात आज नवीन शब्दावली में कही जा रही है और इस विश्वास एवं आस्था के साथ कही जाती है मानो यह कोई सर्वथा नवीन तथा मौलिक बात हो। पुरानी बातों को काव्य-शिल्प, रचना-विधान, रचना-तन्त्र तथा रूप आदि के नये शब्दों की ओढ़नी में सजाया जाता है—और इस गर्व के साथ कि मानो कोई बहुत नयी और मौलिक बात कही जा रही हो। ऐसी अवस्था में इस अस्पष्टता एवं बीहड़पन को दूर कर सही स्पष्ट मार्ग स्थापित करने की जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नहीं थी।

आज का विश्व एक व्यापक संघर्ष एवं संक्रान्ति से गुज़र रहा है। यह संक्रान्ति सरल संक्रान्ति नहीं है वरन् जटिल संक्रान्ति है। इसे संक्रान्ति-दर-संक्रान्ति का युग कहना चाहिए और ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अवस्था का भारतीय जीवन पर पूर्ण प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

आज हमारा देश एक बड़े नाज़ुक समय में है। यह सही है कि वह

अन्तर्राष्ट्रीय संक्रान्ति की लपेट में तो है ही, मगर इसके साथ-साथ अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उसके लिए आज का युग एक बहुत ही नाज़ुक युग है। ऐसी अवस्था में एक भी ग़लत कदम देश को हमेशा के लिए पराधीनता एवं दासता की ग्रन्थियों एवं सांकलों में जकड़ सकता है। चाहे यह दासता वैसी स्पष्ट राजनैतिक दासता न हो जिससे हमें आज़ाद हुए अधिक समय नहीं हुआ। मगर यह दासता एक प्रच्छन्न और बड़ी भयानक दासता होगी। यदि हमने इस ग़लत कदम उठाने में मदद की, अगर हमने इस ग़लत कदम को न रोका, अगर हमने देश के आज को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने-दिखाने का प्रयास न किया तो इसके परिणाम बड़े भयानक और बड़े स्थायी होंगे और आनेवाली सन्ततियाँ हमें कभी माफ़ नहीं करेंगी।

यह कहा जा सकता है कि आलोचना की पुस्तक में इन बातों को कहने से क्या फायदा ? मुझे शक है कि यह सवाल कई लोगों और विद्वानों के मन में भी पैदा होगा। इसलिए इसका समाधान अनिवार्य है।

आज का जीवन जितना एकसूत्रीय और अखण्ड है और आज के जीवन की समग्र एकान्विति की जितनी वास्तविक सिद्धि हुई है ऐसी कभी भी नहीं हुई। इसलिए आज जो अनेक दाँव-पेंच चल रहे हैं वे किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं। वे जीवन की समग्रता को प्रभावित करते हैं। कोई भी सवाल जो सर्वथा स्वतन्त्र और शेष संस्कृति से असम्बद्ध प्रतीत होता है वस्तुतः असम्बद्ध नहीं होता। वह समग्र संस्कृति के लिए चुनौती होता है। उसका प्रभाव समग्र जीवन पर पड़ता है।

आज के कई सवालों में भाषा का ही सवाल लीजिए। इस सवाल के जो अनेक रूप व्यक्त हुए हैं और जिस प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं और अपने-अपने मत के लिए जिस प्रकार के संघर्ष लक्षित हुए हैं उन्हें देख-कर कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि यह सवाल सिर्फ़ भाषा का भी सवाल है। सच तो यह है कि भाषा की समस्या मूलतः एक भारतीय संस्कृति की समस्या है, इसकी जड़ें केवल भाषा में ही नहीं वरन् विविध धार्मिक-राजनीतिक भूमियों में है, और इसलिए इस सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किये गये हैं वे सांस्कृतिक दृष्टियों की ही सीमित अभिव्यक्तियाँ हैं।

अब एक ऐसा सवाल लीजिए जो साहित्य के और अधिक नज़दीक है। सवाल है काव्य में रूप के महत्त्व का। इस बात को लेकर तीव्र वादविवाद किया जाता है और काव्य को न केवल समाज से वरन् कवि से भी स्वतन्त्र रचना के रूप में रखने-समझने-परखने की बात कही जाती है। काव्य के सांस्कृतिक सम्बन्धों की सर्वथा अवहेलना कर, उनका सर्वथा उन्मूलन कर काव्य की एक ऐसी आज़ाद स्थिति बतायी जाती है जिसके आस-पास कुछ है

ही नहीं। साहित्यकार एवं समाज के जीवन के अध्ययन के आधार पर साहित्य को ग्रहण करने की प्रणाली को असंगत एवं अग्राह्य बताया जाता है। यह स्थिति कहाँ तक सही या ग़लत है इस पर तो बाद में विचार किया जायगा; अभी तो केवल इसकी व्यापकता पर विचार करना अभीष्ट है।

यदि उपर्युक्त मत पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं। यह रूपात्मक आलोचना (जिसे कि नयी आलोचना भी कहा जाता है) एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि की उपज है। चाहे वह कला को जीवन से स्वतन्त्र मानने का प्रयास करती है किन्तु इस बात से उसके समर्थक भी इन्कार नहीं कर सकते कि कला का सामाजिक अर्थ और सामाजिक प्रभाव होता है। कला के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रमाणित करने-वालों को यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उनकी यह दृष्टि भी एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टि की ही उपज है।

सच तो यह है कि संस्कृति में व्यक्ति की स्थिति जल में मछली की स्थिति के समान ही है। जीवित मछली जल से बाहर नहीं रह सकती। इसी प्रकार जीवित व्यक्ति सांस्कृतिक परिवेश से मुक्त नहीं हो सकता। यदि सामान्य व्यक्ति के लिए यह सत्य है तो कलाकार के लिए यह अत्यन्त शक्तिशाली सत्य है। कारण यह है कि कलाकार जीवन को सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक गहराई से जीता है। इसी प्रकार वह अपने परिवेश की ओर भी उतना ही अधिक जागरूक होता है। और इसका फल यह होता है कि उसका परिवेश-बोध अधिक स्पष्ट, आर्द्र तथा सहज होता है। वह अपने परिवेश-बोध को ही साहित्य में ढालता है। वह जब आत्ममुखी होता है तब भी वह परिवेश-बोध से सर्वथा मुक्त नहीं होता तथा ज्ञात या अज्ञात रूप से सामाजिकता उस पर भावात्मक या अभावात्मक, अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव निश्चित रूप से डालती है।

किन्तु जो रचना को सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं और उसे समाज एवं साहित्यकार के कोण से देखने का उग्र निषेध करते हैं उन्हें चाहिए कि वे अपनी इस मान्यता की पूर्ण-सूक्ष्म व्याख्या करें। इसके अभाव में वे अपने मत के सभी आयामों को समझने में असमर्थ होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि इस मत के मूल में जो जीवन-दृष्टि विद्यमान है उसकी चुनौती को स्वीकार किया जाय।

आज हमारे सामने जो विविध सांस्कृतिक दृष्टियाँ उपस्थित हैं, उनको प्रधानतया दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग के अन्तर्गत वे दृष्टियाँ आती हैं जो सामाजिकता की चुनौती को अस्वीकार कर व्यक्तित्व और कृतित्व की पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करती हैं। यह वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद

की ही चरम परिणति है। दूसरी ओर वे दृष्टियाँ हैं जो सामाजिकता की चुनौती को स्वीकार कर भावात्मक रवैये से चिन्तन करती हैं। दोनों वर्गों के अन्तर्गत आनेवाली दृष्टियों में भिन्नता भी होती है। सम्भवतः दूसरे वर्ग में भिन्नता की गुँजाइश अधिक है क्योंकि यहाँ समाज को स्वीकार कर उसके प्रति अपने रुख को प्रकट किया जाता है। इसमें भी प्रधानतया दो दृष्टियाँ हैं। एक तो वह जो व्यक्ति के कृतित्व पर अधिक बल देती है और द्वितीय वह जो समाज के कृतित्व को अधिक शक्तिशाली मानती है। प्रसंगानुसार इन दृष्टियों का विशद् विवेचन होगा। यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि ये सभी जीवन-दृष्टियाँ साहित्य एवं साहित्य-समीक्षा में व्यक्त होती रही हैं और हो रही हैं। यह एक मूल सत्य है जिसको जान लेने के उपरान्त आगे का विवेचन सरल हो जायगा।

अब यह जान लेना कठिन नहीं है कि रूपात्मक आलोचना के पीछे कौन-सी दृष्टि कार्य कर रही है। यह वही दृष्टि है जो जीवन की समग्रता, जटिलता एवं अखण्डता को अस्वीकार कर व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छन्दता की घोषणा करती है। जब यह बात स्पष्ट है तो इससे एक अन्य निष्कर्ष भी निकलता है। वह यह कि इस दृष्टि को समझने के लिए आवश्यक है कि मूल जीवन-दृष्टि के धरातल पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय। यही प्रक्रिया अन्य साहित्य-दृष्टियों को भी समझने के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार आलोचना और उसके प्रकारों के विवेचन को प्रत्यक्ष रूप से समझने के लिए उनकी मूलवर्ती दृष्टियों का विवेचन ही करना अनिवार्य होगा। खेद है कि अभी तक साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है वह प्रधानतः ऊपरी धरातल का ही कार्य है। इसका कारण यह है कि काव्यशास्त्र का अध्ययन काव्य के समान ही बहुत-कुछ स्वतन्त्र रीति से ही किया जाता है और आलोचना के सांस्कृतिक आधार की उपेक्षा की जाती है। यही कारण है कि साहित्यिक समस्याओं के सभी आयाम स्पष्ट नहीं होते और ज्ञान की एकांगिता में कटुता और अस्पष्टता पलती रहती है।

अब यह स्पष्ट है कि रूप की समस्याओं के अतिरिक्त जो काव्य की समस्याएँ हैं उन्हें केवल काव्य के धरातल पर ही रखकर देखने से न तो उन्हें ठीक तौर पर समझा जा सकता है और न ही उनका सही विश्लेषण ही किया जा सकता है। जब तक आलोचना साहित्य की मूलवर्ती जीवन-दृष्टियों को आत्मसात नहीं कर लेती तब तक वह सतही आलोचना ही रहेगी। मेरा यह निश्चित मत है कि जब तक आलोचना को संस्कृति के व्यापक और सही आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किया जायेगा तब तक उसके सही स्वरूप का विकास नहीं हो पायेगा। साहित्य के विषय की समस्याएँ तथा काव्यशास्त्रीय

दृष्टियाँ दोनों ही मूलतः सांस्कृतिक समस्याएँ हैं। "इस प्रकार आलोचना न केवल साहित्य की आलोचना है वरन् वह काव्यशास्त्र की भी आलोचना है। और इस आलोचना को आधार चाहिए संस्कृति का।" जब तक आलोचना को सांस्कृतिक आधार पर नहीं प्रतिष्ठित किया जायेगा तब तक साहित्य-चिन्ता के क्षेत्र में जो कुहरा व्याप्त है, वह साफ़ नहीं होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह ध्वनि निकलती है कि ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब काव्यशास्त्रीय दृष्टि और आलोचना में विरोध उत्पन्न हो जाता है। जीवन-निरपेक्ष काव्य-दृष्टि आलोचना की विरोधी दृष्टि है। क्योंकि वह आलोचना की मूल मान्यता—सांस्कृतिक आधार की स्वीकृति—को अस्वीकार करती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जीवन-निरपेक्ष काव्य-दृष्टि का भी सांस्कृतिक आधार है।

काव्यशास्त्र की दृष्टि सीमित है और आलोचना की दृष्टि व्यापक है। काव्यशास्त्र जहाँ काव्य को ही एकमात्र विवेच्य मानता है, आलोचना काव्य से आगे बढ़कर मूलवर्ती जीवन का स्पर्श करती है। लक्षण, हेतु, प्रयोजन, आत्मा आदि काव्यशास्त्रीय समस्याएँ हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि व्यापक दृष्टि से उन पर विचार नहीं किया जा सकता। यह कार्य आलोचना का है। काव्यशास्त्र इन समस्याओं को काव्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है, आलोचना इन्हें काव्य तथा जीवन की पृष्ठभूमि में रखकर देखती है।

काव्यशास्त्र की वह दृष्टि जो जीवन को अस्वीकार करती है, सांस्कृतिक आलोचना को निरस्त करने का प्रयास करती है। किन्तु सांस्कृतिक आलोचना की दृष्टि से जीवन-निरपेक्ष काव्यशास्त्र को स्वीकार किया जा सकता है और किया जाता है। जहाँ तक काव्य के रूप का सवाल है, काव्यशास्त्र से सहायता ली जा सकती है। छन्द, लय, गुण, दोष, एकान्विति, तुक, बिम्ब-संश्लेष, प्रतीकों की शक्ति आदि ऐसे विषय हैं जिनके विवेचन में काव्यशास्त्र सहायता करता है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। काव्य का स्वरूप केवल इतना ही नहीं है। काव्य जीवन के बीच उदित अथवा निर्मित वस्तु है और इसलिए परिवेश और काव्य के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया तथा प्रतिक्रिया-क्रिया का सम्बन्ध विद्यमान है। **दूसरे शब्दों में काव्य के भी उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्ध बन जाते हैं जैसे व्यक्ति के होते हैं।** इसलिए काव्य-रूप का विश्लेषण कर लेने के उपरान्त इस बात की आवश्यकता होती है कि काव्य के परिवेश-बोध का विवेचन किया जाये।

आजकल कवि के भाव-बोध की चर्चा विशेष रूप से सुनने में आती है। यह शब्द भ्रामक-सा लगता है। भाव शब्द से भ्रान्ति का उदय हो सकता है। इसकी व्याख्या में भाव शब्द का व्यापक अर्थ लिया जाता है। भाव-बोध का

अभिप्राय है कवि की चेतना एवं परिवेश के बीच के सम्बन्ध-बोध की शक्ति या सम्बन्ध-बोध। इस प्रकार भाव-बोध के अन्तर्गत कवि तथा समाज के बीच की तनाव की स्थिति को समेट लिया जाता है। किन्तु मैं समझता हूँ कि भाव-बोध के स्थान पर परिवेश-बोध शब्द अधिक स्पष्ट एवं सार्थक है।

वह समीक्षा जो परिवेश-बोध अथवा भाव-बोध का विवेचन करती है वह आलोचना के निकट पहुँचती है। किन्तु आलोचना में हम कवि के साथ काव्य के सामाजिक सम्बन्धों का भी विवेचन करते हैं। और यह विवेचन केवल काव्य की सीमा तक बँधा नहीं रहता वरन् सांस्कृतिक चिन्तन के धरातल पर विषय के स्पष्टीकरण का प्रयास करता है।

आलोचना समीक्षा की अन्य प्रणालियों का निषेध नहीं करती। वह केवल उनकी सीमाओं का निर्धारण करती है और उन सीमाओं तक ही उनको ग्राह्य मानती है। इसी दृष्टि से आलोचना काव्यशास्त्र की भी आलोचना कही गयी है।

कोई यह आक्षेप कर सकता है कि जैसे हमने आलोचना को काव्यशास्त्र की समीक्षा भी माना है उसी प्रकार आलोचना की भी समीक्षा हो सकती है और आलोचना की भी आलोचना या समीक्षा की सत्ता को स्वीकार करना होगा।

किन्तु यदि उपर्युक्त विवेचन को पूर्ण रूप से समझ लिया गया है तो यह आक्षेप लगाने की आवश्यकता ही नहीं होगी। कारण यह है कि यद्यपि आलोचना की आलोचना की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता, फिर भी दोनों एक ही धरातल पर, संस्कृति के धरातल पर कार्यशील होने के कारण आलोचना की व्यापक सत्ता में ही समाहित हैं। इसका सीधा अर्थ केवल इतना है कि आलोचना के क्षेत्र में मतभेद की गुंजाइश है। शर्त सिर्फ़ इतनी है कि यह मतभेद केवल काव्य के धरातल पर व्यक्त नहीं होता वरन् सांस्कृतिक धरातल पर व्यक्त होता है और इसलिए यह आलोचना के दृष्टि-भेद का संकेत करता है।

इसके विपरीत काव्यशास्त्र और आलोचना में मूल अन्तर आधार का है। काव्यशास्त्र का प्रधान लक्ष्य और आधार काव्य है। आलोचना का प्रथम आधार संस्कृति है। इसलिए आधार-भेद के कारण काव्यशास्त्र और आलोचना का भेद बहुत ही स्पष्ट है।

यहाँ यह सवाल हो सकता है कि आलोचना यदि संस्कृति के आधार पर स्थित है तो उसे साहित्य में स्वीकार क्योंकर किया जा सकता है? क्या वह विशुद्ध सांस्कृतिक चिन्तन नहीं कहा जा सकता है?

इसका उत्तर स्पष्ट है। यद्यपि आलोचना का आधार संस्कृति है किन्तु

उसका लक्ष्य साहित्य है। आलोचना विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टि की प्रौढ़ता का उद्घाटन कर उसे साहित्य के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है ताकि साहित्य उससे लाभ उठा सके। इसके साथ-ही-साथ आलोचना साहित्य के विषय का विश्लेषण कर उसके मूल्य का निर्धारण भी करती है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के आलोचक का ज्ञान व्यापक और मेधा कुशाग्र होनी चाहिए। वह केवल साहित्यालोचक नहीं होता। दृष्टि की व्यापकता के कारण वह एक सांस्कृतिक चिन्तक भी होगा। उसका कार्यक्षेत्र साहित्य से व्यापक होगा और उसकी शक्ति एवं स्वस्थ दृष्टि से साहित्य और आलोचना निश्चित रूप से समृद्ध होंगे।

क्षेत्र-विस्तार के अनुरूप ही सांस्कृतिक आलोचक का उत्तरदायित्व और महत्त्व भी बढ़ जाता है। कारण यह है कि हमारा मूल प्रयोजन है मानव-जीवन से। इसलिए जो चिन्तक मानव-जीवन के जितने अधिक व्यापक क्षेत्र का स्पर्श करता है उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही बढ़ जाता है। और इस उत्तरदायित्व की वृद्धि की माँग होती है योग्यता एवं मेधा पर।

साहित्य के विकास के अनुरूप ही काव्यशास्त्र तथा आलोचना का विकास भी अपेक्षित है। जहाँ तक काव्यशास्त्र का प्रश्न है इस तथ्य की स्वीकृति हो चुकी है। जब युग-जीवन बदलता है तो उसके अनुरूप ही साहित्य-साधना का स्वरूप भी बदल जाता है। इस बदले हुए साहित्य के लिए पुराना काव्य-शास्त्र अनुपयोगी हो जाता है और फिर नये काव्यशास्त्र की अपेक्षा होती है। यद्यपि ऐसी स्थिति में पुराने काव्यशास्त्र के समर्थक परम्परावादियों और नवीन काव्यशास्त्र के उन्मेषी स्वच्छन्दतावादियों में संघर्ष होता है किन्तु शीघ्र ही यह संक्रान्ति की अवधि समाप्त हो जाती है और नवीन काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण होता है।

प्राचीन काल में एकमात्र काव्यशास्त्र की धारा ही विकासमान थी इसलिए साहित्य के विकास के साथ आलोचना के समुचित विकास का सवाल ही पैदा नहीं हुआ।

किन्तु आज जब आलोचना की आवश्यकता को अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है, विषय-सम्बन्धी मूल्यों एवं मानों का विश्लेषण भी किया जाना आवश्यक हो गया है। अब यह सवाल पैदा होता है कि नवीन विषयों के समावेश एवं समाविष्ट विषयों के मूल्यांकन के लिए आलोचना किसका आधार ग्रहण करेगी ? स्पष्टत: संस्कृति का। सांस्कृतिक विकास की पारखी दृष्टि काव्योचित नवीन विषयों और समस्याओं की उद्भावना करती है जिसे साहित्यकार स्वीकार करते हैं। भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगों में ऐसा हुआ भी।

लेकिन इन युगों में सामान्य निर्देश के अतिरिक्त सैद्धान्तिक धरातल पर साहित्य एवं संस्कृति के सम्बन्ध की समस्या पर विचार नहीं हुआ।

इस प्रकार विकासात्मक दृष्टि से देखते हुए भी काव्यशास्त्र एवं आलोचना के पृथक्-पृथक् स्वरूप की सत्ता का पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है।

इस विवेचन में काव्यशास्त्र और आलोचना के पृथक्-पृथक् क्षेत्रों एवं आधारों की रूपरेखा के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है। आगे के विवेचन में अभी तक आयी हुई समस्याओं को विस्तृत रूप से स्पष्ट करने का अवसर मिलेगा। काव्यशास्त्र और आलोचना का अन्तर तथा उनके स्वरूपों का स्पष्टीकरण करना प्रस्तुत प्रयास का प्रधान प्रयोजन है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि हम काव्यशास्त्र और आलोचना के सामान्य स्वरूप से सम्बद्ध विविध समस्याओं का विवेचन कर सकें।

काव्य का विवेचन करते हुए उसके लक्षण, हेतु, प्रयोजन, आत्मा आदि विषयों पर विचार किया जाता है। किन्तु आलोचना के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयास बहुत ही दुर्बल रहा है। आगे हम काव्यशास्त्र तथा आलोचना के लक्षण आदि पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

लक्षण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य-समीक्षा सामान्यतया दो प्रकार की है—एक प्रधानतया काव्याश्रित, द्वितीय प्रधानतया संस्कृत्याश्रित। इन दोनों में कुछ समानताएँ हैं और कुछ अन्तर हैं। कुछ अन्तर तो मूलभूत हैं। इसलिए दोनों के लिए एक ही परिभाषा नहीं दी जा सकती। दोनों के दृष्टि-भेद के अनुसार ही दो अलग-अलग परिभाषाओं की व्यवस्था का प्रयास किया जायगा। किन्तु पहले दोनों के कुछ सामान्य लक्षणों की चर्चा उपयोगी होगी।

साहित्य-समीक्षा के विषय में एक बात तो सभी स्वीकार करते हैं। वह यह कि आलोचना भी साहित्य का एक रूप है, साहित्य की ही एक विधा है। यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग वाङ्मय के अर्थ में नहीं वरन् संकुचित अर्थ में किया गया है। काव्यशास्त्र तथा आलोचना दोनों ही साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि साहित्य की अन्य विधाओं तथा आलोचना के सापेक्षिक महत्त्व के बारे में मतभेद है। इसकी समीक्षा आगे की जायेगी।

जहाँ तक काव्यशास्त्र का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि जब साहित्य आत्मोन्मुख होता है तो काव्यशास्त्र का उदय होता है। काव्यशास्त्र में साहित्य स्वयं को अपना विषय बनाता है। इस परिभाषा से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि काव्यशास्त्र साहित्य की विधा है, द्वितीय काव्यशास्त्र का विषय काव्य है। इस प्रकार काव्य की परिधि के भीतर ही काव्यशास्त्र प्रधानतया

कार्यशील रहता है। यही कारण है कि काव्य के स्वरूप के विकास के साथ-साथ काव्यशास्त्र के स्वरूप का भी विकास अपेक्षित है। काव्यशास्त्र पर आधारित आलोचना के सभी रूपों के लिए यही परिभाषा उपयुक्त है। उदाहरण के तौर पर निर्णयात्मक आलोचना तथा काव्यशास्त्र पर आधारित काव्यात्मक आलोचना भी साहित्य का वह रूप है जो स्वयं अपना विश्लेषण करता है।

सांस्कृतिक आलोचना की मूलदृष्टि तथा कार्यक्षेत्र साहित्य की सीमाओं में संकुचित नहीं रहता। उसका केन्द्र है समाज एवं संस्कृति। इसलिए सांस्कृतिक आलोचना उपर्युक्त परिभाषा में अन्तर्भूत नहीं होती।

जब साहित्य संस्कृति को अपना केन्द्र बनाता है तथा संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में साहित्य को अपना विषय बनाता है तो सांस्कृतिक आलोचना का जन्म होता है। सांस्कृतिक आलोचना का परिवेश केवल साहित्यिक कृतियाँ ही नहीं होतीं, वरन् सांस्कृतिक परम्पराएँ भी होती हैं। इसलिए उसका क्षेत्र और साहित्य का क्षेत्र एक ही है। जिस प्रकार साहित्य का केन्द्र समाज है, उसी प्रकार सांस्कृतिक आलोचना का केन्द्र भी समाज ही है। जिस प्रकार साहित्यकार सामाजिक परिवेश अथवा उसके बोध को अपनी कृतियों में मुखरित करता है उसी प्रकार सांस्कृतिक आलोचक भी सामाजिक वातावरण एवं उसके भावन को अपनी रचनाओं में व्यक्त करता है और अपने सांस्कृतिक बोध के अनुरूप ही साहित्य की समीक्षा एवं उसका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार साहित्य और सांस्कृतिक आलोचना एक-दूसरे के पूरक एवं सहयोगी हैं।

आलोचना के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अभावात्मक प्रणाली के चिन्तन की उपयोगिता भी स्वीकार की गयी है। इस रीति के पक्ष में यह कहा गया है कि साहित्य एवं आलोचना दोनों के स्वरूप-निर्धारण का कार्य कठिन एवं जटिल है। इसलिए आलोचना के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि उन सब आलोचनाओं को साहित्यिक आलोचना से अलग कर दिया जाय जो भ्रमवश साहित्यिक आलोचना समझी जाएँ या जहाँ ऐसी आशंका हो। इसलिए वैज्ञानिक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, पाठालोचन और पुस्तक-समीक्षा इन चारों को आलोचना के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का प्रयास किया गया है। यहाँ वैज्ञानिक आलोचना का प्रयोग विज्ञान की पुस्तकों की आलोचना के लिए किया गया है तथा ऐतिहासिक आलोचना का प्रयोग इतिहास-ग्रन्थों की आलोचना के लिए किया गया है। स्पष्टतः ये दोनों आलोचनाएँ शुद्ध आलोचना से भिन्न हैं—विषय की दृष्टि से भी और विवेचन-रीति की दृष्टि से भी। इसी प्रकार पाठालोचन का विषय, लक्ष्य एवं रीति भी अपनी विशिष्टताओं में शुद्ध आलोचना के विषय आदि से सर्वथा भिन्न है।

किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस अभावात्मक रीति की चाहे जो भी उपयोगिता हो आज वह निरर्थक-सी ही है। कारण यह है कि आज के वातावरण में इन आलोचनाओं को साहित्यिक आलोचना समझ बैठने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है।

अब रही पुस्तक-समीक्षा की बात। समीक्षा को साहित्यालोचन की सीमा में ही मानना चाहिए। उसे बहिष्कृत आलोचना मानने के लिए आज कोई कारण दिखायी नहीं देता। जिस प्रकार आलोचनात्मक ग्रन्थों का आलोचनात्मक मूल्य लेखक की योग्यता एवं शक्ति पर निर्भर करता है उसी प्रकार पुस्तक-समीक्षा का भी आलोचनात्मक मूल्य पुस्तक-समीक्षक पर निर्भर करता है। जिस प्रकार सभी तथाकथित आलोचनात्मक ग्रन्थ आलोचना के अन्तर्गत नहीं आते, उसी प्रकार सभी पुस्तक-समीक्षाएँ भी आलोचना के अन्तर्गत नहीं आतीं। साहित्य और आलोचना के व्यापक विस्तार के कारण तथा रचना एवं प्रकाशन की सुविधाओं की अधिकता के कारण ऐसी बहुत-सी रचनाएँ देखने में आती हैं जो न तो साहित्य के अन्तर्गत आती हैं और न ही साहित्य की आलोचना के अन्तर्गत। किन्तु विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए हम सिवाय उनकी उपेक्षा करने के और कर ही क्या सकते हैं। वे किसी भी रूप में हमारे सिद्धान्त-विवेचन में बाधक या साधक नहीं होतीं।

यही बात पुस्तक-समीक्षा की भी है। इसके भी स्तर हैं, इसकी भी कोटियाँ हैं। प्रतिभाशाली आलोचक के हाथ में पड़कर पुस्तक-समीक्षा आलोचना के स्तर तक भी पहुँच सकती है। यह हो सकता है कि कुछ अर्से पहले पुस्तक-समीक्षा को सिद्धान्त रूप से ही अपेक्षित महत्त्व न दिया गया हो और उस समय पुस्तक-समीक्षा तथा आलोचना को पृथक् करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। किन्तु आज का वातावरण भिन्न है और आज पुस्तक-समीक्षा योग्य हाथों में सौंपने का प्रयास किया जाता है। इसलिए आज पुस्तक-समीक्षा बहिष्कृत आलोचना नहीं मानी जा सकती।

आज आलोचना के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अभावात्मक रीति को अपनाने की विशेष उपयोगिता नहीं रही है। आज आलोचना को साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और इस स्वीकृति के बाद उसकी दिशा एवं लक्ष्यों की व्याख्या सम्भव है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जब साहित्य आत्मोन्मुखी होता है तो साहित्यशास्त्र का जन्म होता है तथा साहित्य जब समाजोन्मुखी होता हुआ आत्मोन्मुखी होता है तो सांस्कृतिक आलोचना का उदय होता है।

आलोचना के तत्त्व

साहित्य के स्वरूप का अध्ययन करते हुए साहित्य के तत्त्वों, उसके पक्षों

आदि का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रणाली से साहित्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है। किन्तु पक्षों एवं तत्त्वों पर अत्यधिक बल नहीं देना चाहिए। कारण यह है कि साहित्य एक अखण्ड सृष्टि है और उसका इस प्रकार का विभाजन केवल व्यावहारिक ही समझना चाहिए।

साहित्य के क्षेत्र में इस प्रणाली की उपयोगिता की स्वीकृति के बावजूद भी आलोचना के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए इस रीति का उपयोग नहीं किया गया। यह स्थिति खेदजनक ही समझी जानी चाहिए।

साहित्य के समान आलोचना भी एक अखण्ड सृष्टि है और तत्त्वों के आधार पर उसके स्वरूप को समझने का प्रयास वैसा ही है जैसा कि मानव-शरीर के अलग-अलग अंगों के ज्ञान के आधार पर मानव का ज्ञान प्राप्त करना।

आलोचना के अनेक रूप हैं और प्रत्येक रूप की विशिष्टता के कारण आलोचना के बारे में किसी एक सामान्य सिद्धान्त की स्थापना सम्भव नहीं है। इसलिए पहले उन तत्त्वों की चर्चा की जायेगी जो आलोचना के सभी रूपों में समान रूप से पाये जाते हैं और फिर विशिष्ट आलोचना-प्रकारों के विशिष्ट तत्त्वों की ओर संकेत किया जायेगा।

शैली और विचार ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो आलोचना के सभी रूपों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रभाववादी या आत्मवादी आलोचना में भाव-तत्त्व की सत्ता भी महत्त्वपूर्ण है। विचार और भाव की स्वीकृति विषय और व्यक्तित्व के अन्तर्गत की जा सकती है।

शैली के अन्तर्गत शब्द-भण्डार, वाक्य-योजना, शब्द-शक्ति आदि तत्त्व आते हैं। इन तत्त्वों के अतिरिक्त जो शैली का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है वह है संश्लेष। शैली वह तत्त्व है जिसकी निर्मिति में शब्द, वाक्य एवं विचार किसी भी अंग की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। शैली ही वह माध्यम है जिसमें शब्द, वाक्य एवं विचार का संश्लेष होता है। जब तक यह संश्लेष समरस एवं संगठित नहीं होगा तब तक शैली तत्त्व की सिद्धि नहीं होगी। यहाँ यह सवाल हो सकता है कि विचार को शैली का तत्त्व मानना कहाँ तक संगत है? और यदि यह संगत है तो फिर विचार तत्त्व को आलोचना का पृथक् तत्त्व मानने का क्या आधार है?

पहले दूसरे प्रश्न पर विचार कर लिया जाय।

यद्यपि व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान शैली वह तत्त्व है जो कृतिकार की विविध वृत्तियों को समन्वित किये रहता है, फिर भी अन्य तत्त्वों के महत्त्व पर बल देने के लिए उनका अलग उल्लेख अनिवार्य है। दूसरी बात यह है कि शैली और विषय को लेकर जो वादविवाद चलता रहा है उसने चिन्तन

के वातावरण को इतना धूमिल कर दिया है कि विविध तत्त्वों पर यथेष्ट बल देने के लिए उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है। विचार को शैली से पृथक् तत्त्व मानने में और विचार को शैली के एक तत्त्व मानने में अन्तर्विरोध प्रतीत होता है किन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं है। इसके लिए हमें भाषा के स्वरूप पर थोड़ा विचार करना होगा।

भाषा-विज्ञान में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार किया जाता है। यहाँ अर्थ के अन्तर्गत शब्द का एक सीमित अर्थ ही—कोशगत अर्थ ही प्रधान रूप से स्वीकार किया जाता है। अर्थ का जो व्यापक सन्दर्भ है उसका विवेचन करने के लिए हमें मनोविज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है।

यहाँ एक मूल प्रश्न उपस्थित होता है। क्या बिना शब्द के अर्थ की स्थिति सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'अर्थ' शब्द की सीमाओं का निर्धारण करना होगा।

अर्थ के दो प्रकार हैं—एक ऐन्द्रीय, दूसरा मानसिक। ऐन्द्रीय अर्थ से हमारा अभिप्राय उन प्रमेयों से है जिन्हें हम इन्द्रियों की सहायता से जान सकते हैं। गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ऐसे ही प्रमेय हैं। इसलिए वे सारे प्रमेय जो इन पाँच वर्गों के अन्तर्गत आते हैं ऐन्द्रीय अर्थ के अन्तर्गत आ जाएँगे। ये अर्थ विशिष्ट होने के कारण विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा बोधगम्य हैं। जैसे कमल पुष्प एक विशिष्ट प्रमेय है जो नेत्रों द्वारा ज्ञेय है। वस्तुरूप कमल के लिए नीरज, वारिज, अम्बुज आदि अनेक शब्द हैं। इन सभी शब्दों का 'कमल' अर्थ ऐन्द्रीय है।

कुछ प्रमेय ऐसे भी हैं जो ऐन्द्रीय नहीं हैं। सभी अवधारणाएँ एवं सम्बन्ध ऐसे ही प्रमेय हैं। एक, दो, आदि गणित की संख्याएँ, मनुष्यता आदि सामान्य, तथा आकर्षण आदि सम्बन्ध ऐसे प्रमेय हैं जो इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने जाते। इन प्रमेयों का आधार तो इन्द्रियाँ ही हैं। हम एक या दो वस्तुएँ देख सकते हैं, मनुष्यता का आधार मनुष्य भी इन्द्रियगम्य है तथा चुम्बक, लोहा तथा लोहे का चुम्बक द्वारा खींचा जाना ये भी देखे जा सकते हैं। किन्तु इन ऐन्द्रीय संवेदनों के जो संकेत हैं, जो एक, दो या मनुष्यता या आकर्षण-शक्ति आदि अवधारणाएँ या सम्बन्ध हैं उनका ज्ञान पाने के लिए हमें इन ऐन्द्रीय संवेदनों से ऊपर उठना होता है, ऐन्द्रीय स्तर से मानसिक या तार्किक स्तर पर पहुँचना होता है और, तभी हम उन प्रमेयों को जान सकते हैं जिन्हें मानसिक प्रमेय कहा गया है।

जहाँ तक ऐन्द्रीय संवेदनों का प्रश्न है वे तो शब्द के अभाव में भी हो सकते हैं और होते हैं। जो जीव वाक्-शक्ति से वंचित हैं उन्हें भी ऐन्द्रीय

संवेदन होते हैं। लेकिन यह मात्र ग्रहण की बात है। किन्तु जब ऐन्द्रीय संवेदनों की अभिव्यक्ति का सवाल आता है, बिना शब्द के काम नहीं चलता।

जहाँ तक मानसिक प्रमेयों का प्रश्न है, मनोविज्ञान अभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा। किन्तु एक बात सर्वमान्य है कि संश्लिष्ट मानसिक प्रमेयों के ज्ञान के लिए शब्द का होना अनिवार्य है। इस स्तर पर शब्द और विचार दोनों साथ-साथ चलते हैं। बिना शब्द के इन मानसिक प्रमेयों की स्थिति ज्ञान के क्षेत्र में आ ही नहीं सकती।

इस प्रकार ऐन्द्रीय तथा मानसिक दोनों प्रमेयों के लिए साहित्य के प्रसंग में शब्द की स्थिति अनिवार्य है। अतएव शैली वह माध्यम है जिसमें सभी प्रकार के प्रमेय एवं अनुभव समन्वित रूप से विद्यमान रहते हैं, व्यंजित रहते हैं। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक साहित्य में प्रेषणीयता नहीं आयेगी और उसका प्रयोजन ही खण्डित हो जायेगा। इसी रूप में शैली में विचार का संश्लेष माना गया है।

यदि शब्द के तात्त्विक विवेचन में सामाजिक की सत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया जाय तो उसके तीन पक्ष स्पष्ट होते हैं :

(क) रूप पक्ष : इसके अन्तर्गत अक्षर-योग तथा उसकी विशेषताएँ आती हैं।

(ख) बोध पक्ष : इसके अन्तर्गत ऐन्द्रीय तथा मानसिक दोनों प्रमेय आते हैं। ये प्रमेय साक्षात्-संकेतित भी हो सकते हैं और उनसे सम्बद्ध भी।

(ग) प्रतिक्रिया पक्ष : इसके अन्तर्गत श्रोता की प्रतिक्रिया आती है। यह प्रतिक्रिया अक्षर-योग या उसकी विशेषताओं की हो सकती है, ऐन्द्रीय तथा मानसिक प्रमेयों—साक्षात् संकेतित या तत्सम्बद्ध—दोनों की भी हो सकती है। ग्राहक की व्यक्तिगत रुचि, अनुभव, ज्ञान आदि के अनुसार प्रतिक्रिया का स्वरूप अनेक रूप एवं सूक्ष्म होगा। इसलिए यह पक्ष सबसे अधिक जटिल एवं दुरूह है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी पक्षों का केन्द्र शब्द तथा उसका बोध ही है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि शैली वह व्यापक तत्त्व है जिसमें विविध तत्त्वों का संश्लेष होता है। फलस्वरूप शैली का महत्त्व संश्लेष पर ही निर्भर करता है और इसीलिए संश्लेष शैली का आधारभूत तत्त्व है। किन्तु इस मान्यता से विचार-तत्त्व की अवमानना किसी भी रूप में नहीं समझनी चाहिए। सांस्कृतिक आलोचना में उसके निजी महत्त्व की सत्ता असंदिग्ध है।

आलोचना में विचार-तत्त्व का महत्त्व इतना स्पष्ट है कि उस पर बहुत अधिक बल देने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। यहाँ विचार शब्द का

प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया गया है। काव्यशास्त्रीय अथवा रूपात्मक आलोचना में विचार के अन्तर्गत शब्द-योजना, रचना-शिल्प, छन्द, बिम्ब-सृष्टि, तुक, लय, अन्विति आदि का समावेश होता है, सांस्कृतिक आलोचना में विचार के अन्तर्गत समग्र जीवन-विषयक चिन्तन आ जाता है तथा इसी प्रकार अन्य आलोचना-प्रकारों में प्रकार विशेष के अनुरूप ही विचार का स्वरूप होगा। आलोचना का कोई भी रूप बिना विचार के स्थित नहीं रह सकता। विचार का विषय और लक्ष्य भिन्न-भिन्न हो सकता है और होता है किन्तु उसका महत्त्व असंदिग्ध है। प्रत्येक आलोचना प्रकार के विवेचन में उसके विचार-विशेष का स्पष्टीकरण किया जायेगा।

प्रभाववादी या आत्मवादी आलोचना में भाव तत्त्व की स्वीकृति प्रमुख आवश्यक है। कारण यह है कि यह आलोचना शब्द के तीसरे पक्ष या प्रतिक्रिया पक्ष से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावतया भाववादी हो जाती है। इसका केन्द्र कृति या कृतिकार नहीं होते वरन् उसकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। आलोचक उस भावात्मक प्रतिक्रिया का विचारात्मक स्पष्टीकरण नहीं करता वरन् उसे ही यथावत् अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। कृति उसकी आलोचना की सीमा नहीं होती वरन् प्रेरक होती है और प्रभाववादी आलोचक कृति से प्रेरणा लेकर आत्माभिव्यक्ति करने लगता है। बहुत से विद्वान् इस प्रकार की रचना को आलोचना मानने से इनकार करते हैं। इसीलिए विचार और शैली को ही आलोचना के प्रधान तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है।

२ | आलोचना के हेतु : आलोचक का व्यक्तित्व

आलोचना के हेतु की समस्या दरअसल आलोचक की योग्यता की समस्या है। जिस प्रकार काव्य के हेतुओं के विवेचन में कवि की योग्यता का विवेचन किया जाता है उसी प्रकार आलोचना के हेतुओं के विश्लेषण में आलोचक के गुणों की समीक्षा होनी चाहिए। इस दृष्टि से आलोचना पर अभी तक विचार करने का प्रयास नहीं किया गया।

आज की तथाकथित आलोचना-रचनाओं को देखते हुए यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि आलोचना के मानों एवं मूल्यों की स्थापना की कितनी आवश्यकता है। जो कोई उठता है आलोचक बन बैठता है। जिस किसी ने दो-चार समीक्षात्मक निबन्ध लिख लिये वह ही समीक्षक, काव्यशास्त्री और काव्य-मर्मज्ञ हो जाता है। अगर एकाध आलोचनात्मक किताब लिख ली, तो फिर कहना ही क्या है। यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार प्रत्येक 'कविता-लेखक' कवि नहीं होता उसी प्रकार प्रत्येक 'आलोचना-लेखक' आलोचक नहीं होता। कवि के लिए तो प्राचीन परम्परा में प्रतिभा आदि गुणों की अपेक्षा मानी गयी है इसलिए वहाँ निर्णय करना उतना कठिन नहीं है। किन्तु आलोचक के लिए परम्परा में कोई ऐसा विधान नहीं है और शायद इसीलिए इस क्षेत्र में इस दिशा की ओर प्रयास नहीं हुआ।

यह तो हुई तथाकथित आलोचना की समस्या। अनुसन्धान के उदय एवं तेज़ विकास के कारण भी आलोचना के स्वरूप को समझने में कठिनाई हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान और आलोचना के स्वरूप पर स्पष्ट रूप से विचार किया जाय।

प्रस्तुत समस्या के विवेचन से इन सभी प्रश्नों के समाधान में सहायता मिलेगी।

काव्यशास्त्र के स्तर के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में कोई भ्रान्ति नहीं थी। काव्यशास्त्री प्रतिभा-सम्पन्न गम्भीर पांडित्य-युक्त और सूक्ष्मदर्शी आचार्य हुआ करता था। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ की

आचार्य परम्परा को देखने से स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्री विशिष्ट योग्यता अथवा शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति है। यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से काव्यशास्त्र में नहीं कही गयी किन्तु आचार्यों के पांडित्य एवं सूक्ष्म विवेचन के आधार पर यह बात स्पष्ट ही है। मैं समझता हूँ कि वैसा सफल काव्यशास्त्री बनने के लिए उन्हीं हेतुओं की अपेक्षा है जो काव्य-रचना के मूल हैं। इस प्रकार शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास इन तीनों को काव्यशास्त्र का हेतु माना जा सकता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी काव्यशास्त्री एक ही कोटि के आचार्य हुए हैं। जिस प्रकार कवियों में उत्कर्ष-भेद है उसी प्रकार काव्यशास्त्रियों में भी उत्कर्ष-भेद लक्षित होता है।

रीतिकाल में कवि और आचार्य प्रायः एक हो गये। उनका प्रायः कवि-रूप प्रधान था और इसलिए उन्हें काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता दिखाने का अवसर ही नहीं मिला। इसके अन्य कारण भी हैं। एक तो यह कि वे परम्परा का अतिक्रमण नहीं करना चाहते थे। इसलिए एक विशिष्ट परम्परा के भीतर बँधे रहने पर मौलिकता का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने सजग रूप से काव्यशास्त्र में मौलिकता दिखाने का प्रयास ही नहीं किया। यह कभी भी उनका प्रधान लक्ष्य नहीं रहा। प्रायः राजाओं एवं आश्रयदाताओं को काव्यशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए लक्षण-ग्रन्थों की रचना की जाती थी।

आधुनिक काल के उदय में जब व्यक्ति-चेतना परम्परागत रूढ़ियों के दृढ़ बन्धन से मुक्त हुई तो आलोचना की स्वतन्त्र चेतना का भी उदय हुआ। फिर भी परम्परा का प्रभाव इतना गहन था कि नवीनता के समावेश का जो प्रयास हुआ वह उससे समरस बनाकर ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कार्य ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया कि आलोचना के लिए प्रतिभा की वैसी ही अपेक्षा होती है जैसी काव्य-रचना के लिए। एक ही शक्ति प्रसाद, प्रेमचन्द और शुक्ल में भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर अग्रसर हुई है।

पश्चिम में आलोचना के स्वरूप को लेकर काफ़ी विवाद रहा। एक ओर तो ड्राईडन ने यह कहा कि असफल कवि ही आलोचक बन बैठता है और दूसरी ओर पोप ने यह कहा कि आलोचक तथा कवि दोनों ही लोकोत्तर सत्य से प्रकाश ग्रहण करते हैं। कविता और आलोचना के सम्बन्ध को लेकर प्रतिभा (जीनियस) और रुचि (टेस्ट) का तीव्र विवाद चलता रहा। आज के अधिकांश आलोचक रचना और आलोचना को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। टी० एस० इलियट इसी मत को स्वीकार करते हैं। रचनात्मक आलोचना के विवेचन में इन समस्याओं पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ तक भारतीय परम्परा का सवाल है काव्यशास्त्र की रचना में प्रतिभा की स्वीकृति असंदिग्ध है। पश्चिम में इस विषय में विवाद रहा है। किन्तु आज की स्थिति देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अब आलोचना को भी यथेष्ट महत्त्व मिल चुका है।

काव्यशास्त्र तथा सांस्कृतिक आलोचना दोनों के लिए शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास नितान्त अनिवार्य हैं। इन तीनों हेतुओं में से किसी एक के भी अभाव में न तो उत्कृष्ट काव्यशास्त्रीय आलोचना की सृष्टि की जा सकती है और न ही उत्तम सांस्कृतिक आलोचना की।

यहाँ शक्ति या प्रतिभा का उल्लेख परम्परागत अर्थ में—पूर्व-जन्म के पुण्य-जनित संस्कार के अर्थ में नहीं किया गया। आज के विज्ञान युग में जब इस प्रकार की मान्यताओं की स्थिति स्वयं डावाँडोल है तो फिर उनके आधार पर किसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना संगत नहीं है। इसीलिए काव्य-हेतुओं के प्रसंग में भी प्रतिभा पर फिर से विचार करने की ज़रूरत है।

शक्ति वस्तुतः रुचि एवं योग्यता का विशिष्ट रूप है। सभी कुशाग्र विद्यार्थी एक ही विषय का चयन नहीं करते। वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विज्ञान, काव्य या सामाजिक विज्ञानों में से किसी एक विषय को ही विशेष अध्ययन का क्षेत्र बनाते हैं। एक कुशाग्र विद्यार्थी क्यों हिन्दी-साहित्य लेता है और दूसरा कुशाग्र विद्यार्थी क्यों रसायनशास्त्र लेता है इसका उत्तर उनकी रुचि में ही मिलता है। इसी प्रकार एक प्रतिभाशाली व्यक्ति क्यों उपन्यास-रचना की ओर प्रवृत्त होता है और दूसरा क्यों आलोचना की ओर उन्मुख होता है इसका जवाब रुचि में ही मिलता है। इसलिए इस प्रसंग में रुचि एक मूलभूत तत्त्व है।

रुचि के विपरीत दिशा में शक्ति का उपयोग प्रायः सम्भव नहीं होता। पहले तो व्यक्ति रुचि के विपरीत जाता ही नहीं, और अगर जाता भी है तो उसमें उसे सिद्धि नहीं मिलती। आलोचना की रुचि वाला व्यक्ति कविता-रचना में सफल नहीं हो सकता और कविता में रुचि रखने वाला आलोचना में विशेष ख्याति प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए प्रतिभा तभी सफल होती है जब वह रुचि के अनुकूल विषय की ओर आकृष्ट होती है।

रुचि की निर्मिति के कारण व्यक्ति के आरम्भिक वातावरण, शिक्षा-दीक्षा आदि में खोजे जा सकते हैं। आज के मनोविज्ञान में इस दिशा में विशेष कार्य किया जा रहा है और इस बात के लिए निश्चित प्रमाण उपलब्ध किये जा चुके हैं कि व्यक्तित्व के विकास में वातावरण का और ख़ास तौर पर बाल्य-काल के वातावरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। रुचि एक संक्रामक तत्त्व है। यदि मेरे आस-पास एक विशिष्ट रुचि वाले व्यक्तियों का जमाव है, तो

स्वभावतया वह रुचि मेरे मानस पर भी प्रभाव डालेगी। जिन विभूतियों से व्यक्ति प्रभावित होता है उनकी रुचि उस व्यक्ति की रुचि को प्रायः नियन्त्रित करती है। बाल्यावस्था में जबकि व्यक्तित्व निर्माणशील होता है, यह प्रभाव अधिक सघन एवं स्थायी होता है।

शक्ति में दूसरा तत्त्व माना गया है योग्यता। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहना चाहें तो उसे कुशाग्रता (इन्टेलिजेन्स) कहा जा सकता है। कुशाग्रता की निर्मिति में दाय (इन्हेरिटेन्स) एवं वातावरण (एन्वायरन्मेंट) दोनों का योगदान स्वीकार किया जाता है। फिर भी इस सम्बन्ध में वातावरण का प्रभाव सीमित ही माना जाता है। इस विषय में आधुनिक मनोविज्ञान में पर्याप्त वादविवाद है और किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा जा सकता। यदि कुशाग्रता को पूर्णतः दाय-तत्त्व मान लिया जाय तो प्रतिभा-सम्बन्धी प्राचीन भारतीय मत की एक अंश तक पुष्टि होती है। इस परम्परा के अनुसार प्रतिभा जन्मसिद्ध होती है, अर्जित नहीं। यदि पूर्व-जन्म वाली बात को हटाकर देखा जाय तो यह मत मनोविज्ञान की तत्सम्बन्धी एक विचारधारा के अनुरूप पड़ता है। इस मत और प्राचीन भारतीय मत में समानता यह है कि दोनों ही शक्ति अथवा कुशाग्रता को जन्मसिद्ध मानते हैं और दोनों ही यह मानते हैं कि वातावरण का उस पर प्रभाव पड़ता है। अनुकूल वातावरण में शक्ति का विकास होता है और प्रतिकूल वातावरण में शक्ति का ह्रास होता है। शक्ति का उपयोग किस दिशा की ओर होगा, इसका आधार भी आरम्भिक वातावरण ही माना गया है।

इसी प्रकार एक काव्यशास्त्रीय धारा के अनुसार शक्ति जन्मसिद्ध तत्त्व है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास द्वारा उसका विकास होता है। यह मत अन्य मतों की अपेक्षा आधुनिक मनोविज्ञान की एक धारा के अधिक निकट पड़ता है और इसलिए इसे मान्यता दी जा सकती है।

यह सवाल किया जा सकता है कि शक्ति किस रूप में आलोचना में कार्यशील होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना होगा कि शक्ति का मूल कार्य क्या है ? समस्त ज्ञान-साधना के दो सोपान हैं। एक तथ्य-संकलन, दूसरा तथ्यों के बीच सम्बन्धों का ज्ञान। जहाँ तक तथ्यों के संकलन का प्रश्न है यह कार्य श्रमसाध्य है। समय और अन्य सुविधाओं की मात्रा जितनी अधिक होगी यह कार्य उतना ही अधिक मात्रा में सम्भव होगा। स्पष्ट है कि मात्र तथ्य-संकलन के लिए श्रम की आवश्यकता अधिक है तथा कुशाग्रता की कम। संयोजित रूप से तथ्यों का संकलन करने में अपेक्षाकृत कुशाग्रता

का कुछ उपयोग अनिवार्यतः अधिक होता है। किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि तथ्य-संकलन मूलतः श्रमसाध्य कार्य है।

जहाँ तक तथ्यों के बीच सम्बन्ध-ज्ञान का काम है यह मूलतः श्रमसाध्य नहीं है। इसके लिए कुशाग्रता की अपेक्षा है। जो व्यक्ति जितनी अधिक कुशाग्र बुद्धि वाला होगा वह उतनी ही शीघ्रता एवं सहजता से सम्बन्धों के आविष्कार में सफल हो जायेगा। समस्त ज्ञान-साधना के आविष्कार का आधार यह सम्बन्ध-ज्ञान ही है और इस सम्बन्ध-ज्ञान के लिए कुशाग्रता की अपेक्षा होती है।

साहित्य-समीक्षा में उपर्युक्त दोनों प्रकार के कामों की अपेक्षा होती है। उसमें तथ्य-संकलन भी होता है और तथ्यों के बीच सम्बन्ध-ज्ञान की अपेक्षा भी। स्पष्टतः सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव में कोई समीक्षा समीक्षा नहीं कहला सकती। काव्यशास्त्र एवं सांस्कृतिक आलोचना दोनों के उत्कृष्ट रूप का आधार सम्बन्ध-ज्ञान अधिक है और तथ्य-ज्ञान कम। इसलिए स्पष्टतः आलोचना श्रमसाध्य नहीं, शक्तिसाध्य है। शक्ति अथवा कुशाग्रता के स्तर के अनुरूप ही आलोचना का भी स्तर होगा। इस विषय में सन्देह का अवकाश नहीं है।

किसी भी रचना के सांस्कृतिक पक्ष के विवेचन में, अथवा उसके शिल्प के विश्लेषण में केवल इसी बात की अपेक्षा नहीं होती कि सम्बद्ध तथ्यों का संकलन किया जाय। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उन तथ्यों के सम्बन्धों का या उस योजना के रूप का उद्घाटन किया जाय जिसने रचना को उत्कर्ष प्रदान दिया है। स्पष्टतः शक्ति के अभाव में यह कार्य सिद्ध नहीं होगा।

यह तो हुई आलोचक की शक्ति की बात। जहाँ तक व्युत्पत्ति और अभ्यास का प्रश्न है इनकी चर्चा अकसर की जाती है, यद्यपि चर्चा का रूप दूसरा होता है।

यह कहा जाता है कि आलोचक का ज्ञान बड़ा व्यापक होना चाहिए। उसे भी कवि के समान ही शास्त्र, काव्य और लोक का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। आज के संश्लिष्ट जीवन में सभी विषय किसी-न-किसी रूप में साहित्य को प्रभावित करते हैं और साहित्य-समीक्षा के लिए उन सभी विषयों का ज्ञान अपेक्षित है। एक दृष्टि से आलोचक का ज्ञान कवि के ज्ञान से व्यापक होता है। कारण यह है कि कवि का ज्ञान केवल उसके अपने कृतित्व की भूमिका होता है लेकिन आलोचक को तो एकाधिक कवियों एवं काव्यधाराओं का विश्लेषण करना होता है। इसी अनुपात में उसका पांडित्य भी अधिक व्यापक होना चाहिए।

अभ्यास का तत्त्व तो सभी क्षेत्रों के लिए महत्त्वपूर्ण है। अभ्यास के साथ-साथ आलोचक की शैली एवं सूक्ष्म-विवेचन की शक्ति का निश्चित विकास

होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार काव्य-रचना के लिए अभ्यास अपेक्षित है उसी प्रकार आलोचना में भी।

शक्ति, पांडित्य एवं अभ्यास के सम्बन्ध की समस्या पर पर्याप्त विचार हो चुका है। प्राय: यह कहा जाता है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास से शक्ति का विकास होता है। किन्तु यह केवल अर्द्धसत्य है। जिस प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास शक्ति को प्रभावित-विकसित करते हैं उसी प्रकार शक्ति (कुशाग्रता) भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के स्वरूप को नियन्त्रित करती है। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का अभ्यास और शक्तिहीन व्यक्ति का अभ्यास एक ही कोटि का नहीं हुआ करता।

उपर्युक्त विवेचन में आलोचना के हेतुओं की चर्चा की गयी है। ये हेतु दूसरी दृष्टि से आलोचक के गुण भी हैं। इस दूसरी दृष्टि से यहाँ एक अन्य तत्त्व का विवेचन भी अपेक्षित है। यह तत्त्व है निष्पक्षता। आलोचक के इस गुण पर विशेष बल दिया जाता है। किन्तु यह आलोचना का हेतु नहीं है, आलोचक का गुण है। और इसी दृष्टि से यहाँ निष्पक्षता का विवेचन करना प्रासंगिक ही होगा।

पहले हम निष्पक्षता के अर्थ पर विचार करेंगे और फिर यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या वह आलोचक के गुण रूप में स्वीकार्य है या नहीं।

निष्पक्षता का अर्थ है किसी भी बात को उसी की दृष्टि से देखना और समझना। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में इसका अर्थ यह होगा कि समीक्षक आलोच्य-रचना को रचनाकार की दृष्टि से ही देखने-समझने-समझाने की कोशिश करे। इसके लिए पहली शर्त यह है कि समीक्षक रचनाकार के साथ पूर्ण तादात्म्य की स्थापना करे। वह रचना को आलोचक या पाठक की हैसियत से नहीं वरन् रचनाकार के दृष्टिकोण से ग्रहण करे और इसी दृष्टि से उसकी व्याख्या करे।

निष्पक्षता का यह आदर्श सेन्ट ब्यव की जीवन-चरितात्मक आलोचना-पद्धति की आधार-शिला है। इसके अनुसार यह केवल काम्य ही नहीं वरन् अनिवार्य है कि आलोचक का अपना कोई व्यक्तित्व न हो, उसका अपना कोई सिद्धान्त, कोई रुचि न हो। ऐसा होने पर ही वह रचनाकार से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। यदि आलोचक का अपना कोई सिद्धान्त या कोई आदर्श है तो स्पष्ट है कि वह रचनाकार की आत्मा में प्रवेश करने में बाधक होगा। इसलिए सेन्ट ब्यव के अनुसार आलोचक का व्यक्तित्व पानी जैसा होना चाहिए। उसे जिस पात्र में रखा जाय वह उसी का रूप ग्रहण कर ले। व्यवहार में इस प्रकार के आलोचक की स्थिति असम्भव-सी है किन्तु सेन्ट ब्यव का आदर्श यही है। इस दृष्टि से उन्होंने बेल को आदर्श आलोचक माना है।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सेन्ट ब्यव के अतिरिक्त आलोचना में निष्पक्षता पर किसी ने बल ही नहीं दिया। किसी-न-किसी रूप में अधिकांश आलोचकों ने इसके महत्त्व को स्वीकारा है। आलोचना में निष्पक्षता की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण अन्तर्भावों को लिये हुए है जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचना में निष्पक्षता की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया गया।

यदि हम सेन्ट ब्यव के आदर्श की समीक्षा करें तो उसमें आलोचना के स्वरूप तथा उसके मूल्य के विषय में महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का अन्तर्भाव लक्षित होगा।

पहली बात तो यह है कि यदि आलोचक का कर्तव्य केवल इतना है कि वह रचनाकार की दृष्टि से रचना की व्याख्या-भर कर दे और इससे आगे बढ़कर रचना के मूल्यांकन का प्रयास न करे, तो यह मानना पड़ेगा कि आलोचना का केवल एक ही रूप है, और वह रूप व्याख्यात्मक है। दूसरे शब्दों में सेन्ट ब्यव को व्याख्यात्मक आलोचना के अतिरिक्त अन्य कोई आलोचना-प्रकार मान्य ही नहीं है। इस रूप में आलोचना गौण एवं साहित्य को प्रधान मानना होगा और आलोचना के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति असम्भव होगी। स्पष्टतः यह केवल आंशिक सत्य ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की समीक्षा-प्रक्रिया भी आवश्यक है और उसका अपना उपयोग है। किन्तु आलोचना की इति व्याख्या में ही नहीं हो जाती। व्याख्या तो आलोचना का प्रथम सोपान है। व्याख्या और आलोचना के सम्बन्ध की समस्या का विवेचन व्याख्यात्मक आलोचना के प्रसंग में किया जायेगा।

उक्त प्रकार की निष्पक्ष व्याख्या साहित्य के विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण है। अध्यापक प्रायः इसी शैली का उपयोग करते हैं। किन्तु केवल इतना कर देने से ही कार्य पूरा नहीं हो जाता। यह तो केवल पृष्ठभूमि मात्र है। अतः स्पष्ट है कि सेन्ट ब्यव का आदर्श आलोचक केवल एक व्याख्याकार है।

इसके विपरीत ऐसा भी देखने में आता है कि कोई-कोई समीक्षक अपने सिद्धान्तों की सीमाओं में ही रचना की व्याख्या एवं मूल्यांकन का प्रयास करते हैं। वे रचना को रचनाकार की दृष्टि से देखना बिलकुल ज़रूरी नहीं समझते और अपनी धुन में प्रायः रचनाकार के विचारों को अपने सिद्धान्त के फ्रेम में फिट करने का प्रयास करते हैं और जो विचार उस फ्रेम से बाहर पड़ते हैं, उनकी उपेक्षा कर देते हैं। रचनाकार के दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा भी उतनी ही हानिकर है जितनी कि उसकी पूर्ण स्वीकृति। इन दोनों अतिवादों से साहित्य एवं समीक्षा के विकास में अवरोध एवं उलझन ही पैदा होती है।

अब देखना यह है कि निष्पक्षता का सही-सही उपयोग क्या है?

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है व्याख्या आलोचना का प्रथम अनिवार्य सोपान है और इसलिए कोई भी समीक्षक व्याख्या के कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। हो सकता है कि वह यह व्याख्या दूसरों के लिए न करे लेकिन स्वयं रचना पढ़ते समय वह मन-ही-मन उसके शिल्प और उसके विषय की व्याख्या करता चलेगा। इसी प्रकार व्याख्या अध्ययन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। किसी भी रचना को समझने के लिए तथा उसके विवेचन के लिए पहले यह जानना होगा कि रचनाकार कहना क्या चाहता है ? इस लिए पहली बात तो यह है कि रचनाकार की बात को रचनाकार की ही दृष्टि से समझा जाय। व्याख्यात्मक आलोचना का यही उद्देश्य है और इस कार्य के लिए यथाशक्ति सेन्ट ब्यव के आदर्श का पालन अपेक्षित है। रचना को समझने के लिए रचनाकार से तादात्म्य करना अनिवार्य है। इस व्याख्या के उपरान्त आलोचक का कार्य आरम्भ होता है।

समीक्षक रचनाकार से तादात्म्य तो स्थापित कर सकता है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि वह रचनाकार के सिद्धान्तों अथवा आदर्शों से सहमत ही हो। वह उनसे सहमत हो भी सकता है और असहमत भी। किन्तु ईमानदार आलोचक के लिए दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करे। यदि वह रचनाकार के आदर्शों से सहमत है तो भी यह आवश्यक है और यदि वह सहमत नहीं है तो भी यह आवश्यक है। यह समीक्षा का दूसरा सोपान है।

इसके बाद तीसरा सोपान यह है कि आलोचक उस रचना का मूल्यांकन करे। इस मूल्यांकन के कार्य में रचनाकार और आलोचक के सिद्धान्तों की कशमकश दिखायी देती है। जहाँ व्याख्या का कार्य—चाहे रचनाकार के सिद्धान्त की व्याख्या हो चाहे आलोचक के अपने सिद्धान्त की व्याख्या—निष्पक्ष रूप से होना चाहिए, वहाँ मूल्यांकन का कार्य निष्पक्ष रीति से करना सम्भव ही नहीं है। वह तभी सम्भव है जब आलोचक का अपना कोई सिद्धान्त न हो। किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और मेरे विचार में ऐसा होना भी नहीं चाहिए।

प्रत्येक महान् समीक्षक के अपने कुछ सिद्धान्त होते हैं और उसे यह पूर्ण अधिकार है कि वह अपने सिद्धान्तों के आलोक में कृति की व्याख्या करे। मूल्यांकन के कार्य में पूर्ण निष्पक्षता सम्भव ही नहीं है। रचनाकार अपने कार्य में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो उसकी व्याख्या के अन्तर्गत ही आ जाएगा। किन्तु व्यापक काव्यशास्त्रीय या आलोचनात्मक दृष्टि से रचना का महत्त्व क्या है इसका निर्णय समीक्षक ही करेगा। उसके निर्णय के महत्त्व का आधार उसके अपने सिद्धान्तों की शक्ति होगी। जिस समीक्षक के सिद्धान्त

जितने व्यापक, सशक्त एवं जीवन्त होंगे, उसका मूल्यांकन उतना ही प्रभाव-शाली होगा।

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह देखनी चाहिए कि रचनाकार अपने सिद्धान्तों को काव्य-रूप में व्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है। और फिर यह देखना होगा कि उसकी इस सफलता का क्या मूल्य है। यह दूसरा कार्य तभी सम्पन्न होगा जब हम उस रचना को साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा के बीच रखकर देखेंगे। इस कार्य में आलोचक के निष्पक्ष होने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पूर्ण निष्पक्षता का आदर्श एक सुन्दर कल्पना है। चिन्तन तभी चिन्तन कहलाता है जब उसमें आग्रह हो, हठ हो, जिद हो। प्रत्येक महान् चिन्तन को अपनी विचारधारा पर पूर्ण आस्था होती है। जब तक यह आस्था न हो तब तक चिन्तन महान् नहीं होता। वह व्यक्ति जिसने बात को सोचा और समझा है हमेशा अपनी बात को विश्वास तथा यहाँ तक कि हठ के साथ प्रस्तुत करता है। बिना आस्था के महान् चिन्तन का जन्म नहीं हो सकता। किन्तु आस्था और अन्धविश्वास में जो अन्तर है उसे नहीं भूलना चाहिए। अन्धविश्वासी केवल विश्वास का सहारा लेता है, चिन्तन का आधार विवेक है। और विवेक के महत्त्व के विषय में कोई विवाद नहीं है।

साहित्य-चिन्ता की अनेकरूपता का मूल जीवन एवं जीवन-दृष्टियों की अनेकरूपता में है। जिस प्रकार जीवन के लिए कोई एक सर्वमान्य मार्ग प्रस्तुत नहीं हो सका उसी प्रकार साहित्य के लिए भी कोई ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो सर्वमान्य हो। यह विचार-भेद एवं दृष्टि-भेद ही मूल्यांकन की भिन्नता का आधार है। जीवन की यह भिन्नता ही काव्यशास्त्र एवं सांस्कृतिक आलोचना के आदर्शों की भिन्नता में व्यक्त होती है। ऐसा होना जहाँ स्वाभाविक है वहाँ अनिवार्य भी। निष्पक्षता के आदर्श की रक्षा के लिए इस सत्य का बहिष्कार आलोचना के लिए आत्मघाती सिद्ध होगा।

किन्तु इस सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट है। वह यह कि किसी भी आलोचक को यह अधिकार नहीं है कि वह आलोच्य कृति की विचारधारा को अपने पूर्वाग्रहों के अनुरूप ढालने के लिए विकृत करे। रचनाकार के मन्तव्य को उसी की दृष्टि से प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। किन्तु रचनाकार की व्याख्या ही पर्याप्त नहीं है। शिल्प एवं विषय की दृष्टि से उसकी सीमाओं एवं उपलब्धियों का विवेचन अनिवार्य है। इस कार्य में आलोचक अपने सिद्धान्तों एवं आदर्शों का उपयोग करता रहा है और उसे ऐसा करने का पूरा-पूरा अधिकार है। व्याख्या के क्षेत्र में तो निष्पक्षता स्वीकार्य है लेकिन आलोचना के क्षेत्र में उसका कोई महत्त्व नहीं है।

ऐसी अवस्था में इस बात की आशंका बनी रहेगी कि यदि आलोचक और रचनाकार में सिद्धान्त-साम्य है तो रचनाकार को अपेक्षित से अधिक महत्त्व मिल जायेगा और यदि उनके सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी हैं तो रचनाकार को अपेक्षित से कम महत्त्व मिलेगा । यह आक्षेप किया जा सकता है कि दोनों ही अवस्थाओं में उसका यथार्थ मूल्यांकन नहीं होगा । मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य के ऐतिहासिक (हिस्टोरिकल), व्यक्तिगत (पर्सनल) और यथार्थ (रीयल) मूल्यांकन का अन्तर स्पष्ट किया है और प्रथम दोनों दृष्टियों की अपेक्षा यथार्थ मूल्यांकन पर विशेष बल दिया है । उनके मतानुसार काव्य का मूल्यांकन करते हुए उसके ऐतिहासिक तथ्यों या आलोचक की वैयक्तिक रुचि आदि का कोई महत्त्व नहीं है । किन्तु सवाल यह है कि यथार्थ मूल्यांकन का अभिप्राय क्या है ?

इसके स्पष्टीकरण के लिए आर्नल्ड द्वारा मान्य 'निष्पक्षता' डिस (इन्ट्रेस्टेडनेस) का अर्थ समझना होगा ।

आर्नल्ड के अनुसार निष्पक्षता का अर्थ है विचार अथवा विवेक को उसके निजी मूल्य के लिए स्वीकार करना । इसमें विचार अथवा विवेक की उपयोगिता की, उससे होनेवाले लाभ की भावना का मिश्रण नहीं होना चाहिए। आलोचक के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने क्षुद्र पूर्वाग्रहों को त्यागकर सांस्कृतिक पूर्णता के आदर्श को अपने सामने रखे और केवल उन्हीं विचारों तथा मूल्यों को स्वीकार करे जो सांस्कृतिक पूर्णता की सिद्धि में साधक हों । इसके लिए आभिजात्यवादी पूर्वाग्रह या उपयोगितावादी दृष्टि का पूर्ण बहिष्कार अनिवार्य है । जो आलोचक सांस्कृतिक मूल्यों पर आस्था रखता है और उन्हीं मूल्यों के प्रचार-प्रसार की योग्यता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करता है, वह आलोचक निष्पक्ष है । और इसी दृष्टि से किया गया साहित्य का मूल्यांकन यथार्थ मूल्यांकन है ।

स्पष्टतः आर्नल्ड द्वारा प्रयुक्त 'निष्पक्षता' तथा 'यथार्थ मूल्यांकन' में निष्पक्षता तथा यथार्थता दोनों का ही अभाव है । निष्पक्षता के इस विशिष्ट अर्थ में प्रायः इसी बात की स्वीकृति है जिसकी चर्चा ऊपर हमने की है । और यह बात है आलोचक की सैद्धान्तिक आस्था की । जब मूल्यांकन करते समय आलोचक अपने सैद्धान्तिक आदर्शों अथवा सांस्कृतिक मूल्यों को आधार बनाता है तो न तो वह निष्पक्ष कहा जा सकता है और न ही वह मूल्यांकन यथार्थ मूल्यांकन कहला सकता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्नल्ड के उपर्युक्त मत का आधार इस विश्वास में है कि सांस्कृतिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक पूर्णता के विषय में मतभेद का अवकाश नहीं है । स्पष्टतः यह मान्यता किसी भी दृष्टि से सही नहीं है । आज

का व्यक्ति यह जानता है कि सांस्कृतिक मूल्यों के विषय में विविध चिन्ता-धाराओं में तीव्र विरोध है। यदि साहित्यकार के सांस्कृतिक मूल्य एक प्रकार के हैं और आलोचक के सांस्कृतिक मूल्य दूसरे प्रकार के हैं तो उन दोनों का संघर्ष होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि आलोचक सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से ही रचना की आलोचना करेगा तो भी वह आलोचना निष्पक्ष नहीं मानी जा सकती। जब तक जीवन में दृष्टि-भेद की सत्ता है तब तक साहित्य एवं विचार के मूल्यांकन में भिन्नता मिलती ही रहेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्नल्ड की निष्पक्षता न तो पूर्ण रूप से निष्पक्ष है और न ही उनका यथार्थ मूल्यांकन पूरी तरह यथार्थ है। आर्नल्ड की अपेक्षा सेन्ट ब्यव ने निष्पक्षता का आदर्श अधिक तर्कसंगत रीति से प्रतिष्ठित किया है। इसकी सीमाओं का उल्लेख पहले हो चुका है।

यहाँ एक बुनियादी सवाल पैदा होता है—क्या निष्पक्ष मूल्यांकन सम्भव भी है ?

यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष उपस्थित होंगे। यदि मान लिया जाय कि आलोचक अपने सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह को विस्मृत कर दे और केवल यह देखने का प्रयास करे कि रचनाकार अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है तो क्या इस प्रकार का अध्ययन निष्पक्ष होगा ? इस सन्दर्भ में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—एक 'उद्देश्य', द्वितीय 'सफल'। जहाँ तक उद्देश्यों का सवाल है, रचना पढ़कर यह कहा जा सकता है कि रचनाकार उसमें क्या स्थापित करना चाहता है। किन्तु 'सफल' का क्या अभिप्राय है ? सफलता का विवेचन करने के लिए हमें रचनाकार के शिल्पगत गुणों-अवगुणों का विवेचन करना होगा और साथ ही उसके चिन्तन की संगत प्रतिष्ठा एवं विकास आदि पर विचार करना होगा। दूसरे अर्थों में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि रचना में विविध काव्य-मूल्यों की प्रतिष्ठा कहाँ तक हुई है। यदि हम यह विवेचन रचनाकार की दृष्टि से ही करना चाहते हैं तो हमें यह मालूम होना चाहिए कि वह किन-किन काव्य-मूल्यों को अनिवार्य मानता है। अथवा यह ज्ञान होना चाहिए कि रचनाकार के काव्य तथा विषय-सम्बन्धी विश्वास क्या हैं। जब तक रचनाकार के काव्यशास्त्रीय विश्वासों की जानकारी न हो तब तक रचनाकार की दृष्टि से रचना का मूल्यांकन सम्भव नहीं है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक रचनाकार अपने काव्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करे। किन्तु साहित्य का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि ऐसे साहित्यकार बहुत कम हैं जिन्होंने अपने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। और जिन्होंने ऐसा किया भी है उन्होंने

काव्य के कम पक्षों का ही स्पर्श किया है। ऐसी स्थिति में रचनाकार की दृष्टि से रचना की सफलता को कैसे आँका जा सकता है।

'कामायनी' के उदाहरण से उपर्युक्त विवेचन और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

निष्पक्षतावादी आलोचक यह चाहेगा कि हम 'कामायनी' को प्रसाद की दृष्टि से आँकने की कोशिश करें। इस कार्य के लिए यह अनिवार्य है कि हमें यह ज्ञान हो कि प्रसाद के महाकाव्य, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, काव्य-शिल्प आदि के सम्बन्ध में क्या विचार हैं। क्या प्रसादजी ने काव्य के उन सभी पक्षों के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है ? स्पष्टतः उन्होंने ऐसा नहीं किया। ऐसी स्थिति में आलोचक किन मूल्यों के आधार पर 'कामायनी' का मूल्यांकन करेगा ? मान लीजिए उससे यह सवाल किया जाय कि प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन ने 'कामायनी' के काव्य-मूल्य को कहाँ तक अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है ? तो इसका उत्तर देने के लिए यदि वह रचनाकार के ही दृष्टिकोण को अपनाना चाहता है तो उसे मालूम होना चाहिए कि प्रसादजी की काव्य-मूल्य और दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध के बारे में क्या धारणा थी ? अथवा वह कौन-सी आदर्श अवस्था है जिसम दर्शन एवं काव्य का पूर्ण सांमजस्य उपलब्ध होता है ? इसके लिए आलोचक को अपने विवेक पर ही विश्वास करना होगा। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका समाधान रचनाकार की दृष्टि से नहीं किया जा सकता है क्योंकि रचनाकार ने उन प्रश्नों के विषय में कुछ कहा ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि रचनाकार की दृष्टि से रचना के मूल्यांकन की बात सर्वथा अपुष्ट एवं असंगत ही है।

इस विवेचन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने 'कामायनी' में जिस शिल्प तथा विधान की प्रतिष्ठा की है, वही उनके मतानुसार आदर्श एवं ग्राह्य है और इसलिए उनके काव्यशास्त्रीय विचारों को जानने के लिए 'कामायनी' को ही आधार बनाना चाहिए। उन्होंने 'कामायनी' में दर्शन का जितना समावेश किया है वही आदर्श है और उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देने के लिए यही आधार बनाया जा सकता है।

किन्तु यह तर्क वस्तुतः दुष्ट है। कारण यह है कि एक ओर तो रचनाकार की दृष्टि से रचना के मूल्यांकन की बात की जाती है, दूसरी ओर आधारभूत मूल्यों का निर्धारण आलोच्य रचना के आधार पर किया जाता है। दूसरे शब्दों में इस प्रक्रिया के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसमें रचना में अवस्थित मूल्यों के आधार पर ही रचना का मूल्यांकन किया जाता है।

उक्त प्रक्रिया का दूसरा दोष यह है कि इस आधार पर रचनाओं का

वर्गीकरण ही सम्भव नहीं होगा। जब हम रचना मात्र के लिए काव्य-मूल्यों का निर्धारण नहीं करेंगे और प्रत्येक रचना का मूल्यांकन रचना में व्यक्त मूल्यों के आधार पर ही करेंगे तो प्रत्येक रचना के मूल्यांकन का आधार अलग-अलग होगा। और क्योंकि प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उसी रचना में प्रतिपादित मूल्यों के आधार पर किया जाएगा इसलिए प्रत्येक रचना समान रूप से सफल होगी। किसी भी रचना को असफल या मध्यम या अधम कहने का कोई आधार ही नहीं होगा। क्योंकि रचना को सफल-असफल घोषित करने के लिए केवल रचना के मूल्यों की ही व्याख्या अपेक्षित नहीं है वरन् स्वतन्त्र रूप से कुछ काव्य-मूल्यों की भावना होनी चाहिए। रचनाकार की दृष्टि से तो उसकी रचना सफल ही है। सामान्य कोटि के काव्यों के निर्माता भी यह मानते हैं कि उनकी रचना युगान्तरकारी है। उनका सही मूल्यांकन उनकी दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए कोई-न-कोई सामान्य सिद्धान्त होना अनिवार्य है।

किसी रचना के मूल्यों के आधार पर उसका मूल्यांकन वस्तुतः रचना की व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि जब आरम्भ में ही यह प्रतिज्ञा कर ली जाय कि रचना का मूल्यांकन रचना के मूल्यों के आधार पर ही किया जायेगा तो रचना के मूल्यों की व्याख्या में ही उसका मूल्यांकन भी सिद्ध ही है। यदि उन मूल्यों की व्याख्या कर दी जाय जो कि उसमें विद्यमान हैं तो फिर केवल इतना कहना शेष रह जायेगा कि इन मूल्यों की स्थापना के कारण यह रचना सफल है। इस कथन में एक मूलभूत दोष है जिसका उद्घाटन अनिवार्य है।

तथ्य और मूल्य में अन्तर है। प्रत्येक तथ्य मूल्य नहीं हुआ करता है। तथ्य तो वह है जो है और मूल्य उसे कहते हैं जो होना चाहिए। कहीं-कहीं तथ्य मूल्य के अनुसार हो सकता है लेकिन तथ्य, स्वयं मूल्य नहीं बन सकता। तथ्य विशेष होता है मूल्य सामान्य होता है। एक ही मूल्य के अनुसार अनेक तथ्यों का मूल्यांकन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह जानना भी आवश्यक है कि मूल्य की स्थापना में व्यापक दृष्टि का प्रयोग किया जाता है। उसमें विश्लेषण और चयन की अपेक्षा होती है। मूल्य की स्थापना से पूर्व तथ्यों का संकलन किया जाता है, फिर उनका वर्गीकरण किया जाता है, और फिर कुछ तथ्यों के आधार पर मूल्यों की स्थापना की जाती है तथा कुछ के आधार पर अमूल्यों की। मूल्य के निर्धारण में किन तथ्यों का उपयोग करना चाहिए और किन का नहीं, इसका निर्णय व्यापक दृष्टि से किया जाता है जो वस्तुतः जीवन-दृष्टि कही जा सकती है। यह जीवन-दृष्टि ही मूल दृष्टि है जिसके आधार पर मूल्यों की स्थापना की जाती है। मूल्य-वैविध्य का कारण जीवन-दृष्टि की भिन्नता में ही लक्षित होता है। समान तथ्यों के आधार पर भी विभिन्न ज़ीवन-

दृष्टियाँ विभिन्न मूल्यों की प्रतिष्ठा कर देती हैं। इसलिए स्पष्ट है कि तथ्य और मूल्य के बीच एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसे जीवन-दृष्टि कहा गया है।

किसी भी कृति में अनेक विशेषताएँ होती हैं। वे सारी विशेषताएँ तथ्य हैं। किन्तु वे सब मूल्य नहीं हैं। उन विशेषताओं में से कुछ दोष के अन्तर्गत आयेंगी और कुछ गुण के अन्तर्गत। मूल्य-निर्धारण के लिए हमें तथ्यों से व्यापक दृष्टि अपनानी पड़ेगी। इस मूल दृष्टि के अनुसार ही उन तथ्यों में से कुछ मूल्य के अनुरूप माने जायेंगे और कुछ मूल्य के अनुरूप नहीं माने जायेंगे। काव्य-तथ्यों और काव्य-मूल्यों के बीच किसी प्रकार का उलझाव एक भयंकर भ्रान्ति है। रचनाकार ने रचना में जो प्रस्तुत किया है वह एक तथ्य है। इस दृष्टि से रचना को तथ्यों की संसृष्टि कहा जा सकता है। उन तथ्यों को ही मूल्य मान बैठना विवेक को तिलांजलि देना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह कथन कि 'रचनाकार की दृष्टि से रचना का मूल्यांकन होना चाहिए' एक तर्कहीन एवं निराधार उक्ति के सिवाय और कुछ नहीं है।

या तो हम सेन्ट ब्यव की तरह यह मान लें कि आलोचक को अपना कोई सिद्धान्त या आदर्श बनाने का अधिकार ही नहीं है। और अगर हम यह मानते हैं कि आलोचक एक चिन्तक भी होता है और उसका भी अपना जीवन-दर्शन होना चाहिए तो फिर मूल्यांकन में निष्पक्षता वाली बात किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी रचना अथवा रचनाकार के विषय में किसी एक आलोचक की बात अन्तिम बात नहीं हुआ करती। साहित्य-चिन्तन में विचार-स्वातन्त्र्य के कारण भिन्न-दृष्टियों एवं सिद्धान्तों का सह-अस्तित्व पाया जाता है। यदि स्थिति यह हो कि प्रत्येक आलोचक की बात अन्तिम बात हो और सर्वमान्य हो तब तो आलोचना एवं साहित्य पर जड़ नियन्त्रण की अपेक्षा होगी। किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है और इसलिए केवल रचना का ही मूल्यांकन नहीं होता वरन् आलोचना का भी मूल्यांकन होता है। यह साहित्य-चिन्ता की स्वस्थता का प्रमाण है और इसलिए यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ विविध विचारों को अपनी ताक़त आज़माने का अवसर मिलता है। इससे साहित्य एवं जीवन के सुचारु विकास में सहायता मिलती है।

इस दृष्टि से देखते हुए आलोचकों और साहित्यकारों में जो दलबन्दी दिखायी देती है यदि वह मात्र व्यक्तिगत धरातल पर टिकी हुई नहीं है और अगर उसका सैद्धान्तिक पक्ष स्पष्ट है तो उससे हानि की आशंका कम है। इससे विविध विचार-धाराओं की व्याख्या तथा मूल्यांकन के कार्य में सुविधा होगी। आवश्यकता इस बात की है कि गुटबन्दी व्यक्तिगत धरातल को प्रधान न मान बैठे।

३ | आलोचना के प्रयोजन

अभी तक आलोचना के प्रयोजन पर पूर्णता के साथ विचार नहीं हुआ। बस इधर-उधर छुटपुट विचार मिल जाते हैं। उन सब विचारों को समग्र रूप में देखने पर भी कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता। उनसे न तो समस्या का पूर्ण रूप ही उभरता है और न ही किसी निश्चित दिशा का निर्देश होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है आलोचना के विविध रूप हैं और रूप की इस विविधता के अनुसार ही प्रयोजन में भी अन्तर होगा।

आलोचना के सभी प्रकार सम्बद्ध रूप से ही देखने चाहिए। कारण यह है कि एक प्रकार-विशेष साहित्य के किसी पक्ष-विशेष का ही स्पर्श करता है। इसलिए साहित्य के स्वरूप का पूर्ण उद्घाटन किसी एक आलोचना-प्रकार के अन्तर्गत नहीं हो सकता। साहित्य के विविध पक्षों को समझने-परखने के लिए आलोचना के सभी प्रकारों का उपयोग किया जाता है। यद्यपि सिद्धान्त रूप से हम आलोचना के विविध प्रकारों की चर्चा करते हैं, फिर भी व्यवहार में प्रायः आलोचक आलोचना के सभी या एकाधिक प्रकारों का उपयोग करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में ऐसा होना स्वाभाविक एवं अपेक्षित भी है।

जिस प्रकार काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कवि, काव्य एवं सामाजिक तीनों की सत्ता का ध्यान रखा जाता है उसी प्रकार आलोचना के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए भी आलोचक, कवि या कृति और सामाजिक तीनों की सत्ता को सामने रखना आवश्यक है।

कवि के समान आलोचक को भी आलोचना द्वारा यश एवं अर्थ की प्राप्ति होती है। यश एवं अर्थ इन दोनों का सम्बन्ध आलोचक के साथ है और व्यावहारिक दृष्टि से चाहे इनका विशेष महत्त्व होता है लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से देखते हुए ये बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोजन नहीं माने जा सकते।

इन दो प्रयोजनों के अतिरिक्त आलोचना के चार प्रयोजन माने जा सकते हैं :

१. साहित्य की व्याख्या,
२. साहित्य का मूल्यांकन,
३. आत्माभिव्यक्ति, और
४. सांस्कृतिक प्रगति ।

जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा इनमें से प्रत्येक प्रयोजन का सम्बन्ध आलोचना के विशेष प्रकार से है । इसलिए जब विविध आलोचना-प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया जायेगा, तभी इनके सभी पक्षों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकेगा । योजना के अनुसार यहाँ जो उनका विवेचन होगा वह आगे की समीक्षा के लिए भूमिका का महत्त्व रखता है ।

साहित्य की व्याख्या : आलोचना का एक रूप व्याख्या को ही उद्देश्य मानकर चलता है । इसी कारण उसे व्याख्यात्मक आलोचना नाम दिया जाता है । यह पूछा जा सकता है कि व्याख्या किसके लिए ?

इस प्रश्न के साथ ही हम सामाजिक की सत्ता पर आ जाते हैं । साहित्य की रचना सामाजिक को उद्देश्य बनाकर की जाये चाहे न की जाये, यह तो निश्चित ही है कि रचना के प्रकाशित होने पर सामाजिक उसे पढ़ेगा । जब इस सत्य की स्वीकृति की जाती है, तो इस बात की अपेक्षा भी होती है कि साहित्यिक रचनाओं के साथ-साथ ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाएँ जो उनके स्वरूप का तथा विविध पक्षों का ऐसा स्पष्टीकरण करें जो एक सामान्य व्यक्ति के लिए बोधगम्य हो । कारण यह है कि सभी पाठकों में यह योग्यता नहीं होती कि वे साहित्य के विशिष्ट रूपों एवं पक्षों को बिना किसी सहायता के समझ सकें । व्याख्यात्मक आलोचना इस कार्य को सम्भव करने में सहायता प्रदान करती है ।

हमारे देश में अभी जनता में साहित्य का विशेष प्रचार नहीं हुआ । इसलिए व्याख्यात्मक आलोचना के महत्त्व की स्वीकृति का सवाल ही नहीं पैदा होता । इस असन्तोषजनक स्थिति के कई कारण हैं । प्रधान कारण है अशिक्षा तथा कुशिक्षा । जैसे-जैसे देश में व्यवस्थित शिक्षा-पद्धति का जन्म होगा वैसे ही वैसे साहित्य एवं व्याख्यात्मक आलोचना का प्रचार बढ़ेगा । यह देश का भयानक दुर्भाग्य है कि अभी देश की शिक्षा-पद्धति को सही दिशा की ओर उन्मुख करने का प्रयास नहीं किया गया । इस विषय पर लम्बे-चौड़े लेक्चर तो झाड़े जाते रहे हैं लेकिन जब ठोस कदम उठाने की बात आती है तो कुछ प्रगति नहीं होती । और हो भी कैसे ? जिन्हें यह आभास तक नहीं कि आज की शिक्षा क्या है तथा उसकी समस्याएँ क्या हैं, उनसे किसी प्रकार के सुधार की आशा करना व्यर्थ है ।

यह बहुत दुःख की बात है कि आज तक की हमारी शिक्षा-पद्धति ने देश

की जड़ें खोखली कर दी हैं। यदि आज जो कुशिक्षा दी जा रही है यह न दी जाय तो सम्भवतः देश की हालत आज से अच्छी हो गयी होती। हमारे देश के शासन ने शिक्षा की जो उपेक्षा की है वह किसी भी सभ्य देश के लिए सम्मान की बात नहीं है।

साहित्य एवं व्याख्यात्मक आलोचना के समुचित विकास के लिए एक व्यवस्थित शिक्षा-पद्धति का होना अत्यन्त अनिवार्य है। वर्तमान कुशिक्षा से जो नागरिक जन्म लेता है वह प्रायः साहित्य आदि के सम्यक् महत्त्व को नहीं समझ सकता।

यदि व्याख्यात्मक आलोचक का सबसे अधिक प्रभावी और शक्तिशाली रूप कहीं लक्षित होता है तो वह साहित्य के प्राध्यापक में है। वह प्रभावी इसलिए है कि उसका पाठक के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और इसीलिए इस दिशा में प्राध्यापक का उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण है।

इधर हिन्दी में प्राध्यापक के महत्त्व को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ है। उसके विरोध में प्रायः यह कहा जाता है कि परीक्षा के बन्धन के कारण उसकी योजना एवं रीति विशेष उपयोगी नहीं है। यह कोई नयी बात नहीं है। जिन्होंने अमरीकी-आलोचना का थोड़ा-सा भी अध्ययन किया है वे जानते हैं कि मेन्कन यही बात बहुत पहले कह चुका है।

साहित्य के व्याख्याता के रूप में प्राध्यापक की जो अवहेलना करने का प्रयास किया जा रहा है, उसके कुछ व्यक्तिगत कारण भी हो सकते हैं। एक बात यह भी है कि प्राध्यापक का विरोध उन व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है जिनकी रचनाओं को शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृति नहीं मिली।

जैसे-जैसे साहित्य दुरूहता और विलक्षणता की ओर बढ़ रहा है वैसे ही वैसे व्याख्या का महत्त्व बढ़ रहा है। इधर विदेशों से हमने बहुत-कुछ आयात किया है। इस भगदड़ में कुछ लोग विचारों तथा शिल्प-मूल्यों का भी बड़ी खूबी से आयात कर लाये हैं। उनको अपनी रचनाओं की व्याख्या की अपेक्षा सबसे अधिक प्रतीत हुई। इसलिए इधर जो कविता-संग्रह आ रहे हैं उनमें अकसर एक लम्बी भूमिका के रूप में व्याख्यात्मक आलोचना जुड़ी रहती है। इन भूमिकाओं के कारण वे रचनाएँ प्राध्यापक की अपेक्षा से मुक्त हुई समझी जाती हैं। ये भूमिकाएँ कुछ सेलफ-टीचर का-सा कार्य करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की जाती हैं। यह कार्य करने में वे व्याख्यात्मक भूमिकाएँ कहाँ तक सफल होती हैं यह हमारा विवेच्य नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि आज व्याख्या के महत्त्व की स्वीकृति अधिक व्यापक रूप से हो रही है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है व्याख्यात्मक आलोचना के मूल में साहित्य की सामाजिक उपयोगिता की भावना अन्तर्निहित है। अन्यथा

निष्प्रयोजन व्याख्या के श्रम को कौन विद्वान् ढोएगा ? लोग जितनी देर भूमिका लिखने में लगाते हैं उतने समय में दस-बीस कविताएँ लिखना अधिक सार्थक हो सकता है ।

जिज्ञासा मनुष्य की एक सहज-वृत्ति है । इसी वृत्ति की तुष्टि की आकांक्षा के फलस्वरूप ही ज्ञान-विज्ञान की इतनी प्रगति हुई है । इस प्रगति के अन्य बहिरंग कारण भी हो सकते हैं और होते हैं । किन्तु इससे जिज्ञासा का महत्त्व कम नहीं होता ।

जिस प्रकार यह जिज्ञासा प्रकृति की निर्मिति की ओर उन्मुख होती है उसी प्रकार वह मानव-वृत्ति की ओर भी अग्रसर होती है । काव्य आदि कलाएँ मानव की बहुत प्राचीन कृतियाँ हैं । अतः यह स्वाभाविक ही था कि जिज्ञासा की तृप्ति के लिए इन कलाओं का विवेचन-विश्लेषण भी किया जाता ।

आज जब कि मनुष्य एवं मनुष्येतर प्रकृति के सभी पक्षों का विश्लेषण किया जा रहा है, कलाओं के स्वरूप का विश्लेषण भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । व्याख्यात्मक आलोचना में इस दिशा की ओर प्रयास किया जाता है । व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर्गत रचना के स्वरूप का विवेचन ही नहीं आता, वरन् रचना-प्रक्रिया की रीति का स्पष्टीकरण भी आता है । व्याख्यात्मक आलोचना के विवेचन के प्रसंग में इन सभी पक्षों पर विचार किया जाएगा । किन्तु यहाँ इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए कि एक विशिष्ट ज्ञान-विषयक-पिपासा की शान्ति भी व्याख्यात्मक आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है ।

साहित्य का मूल्यांकन : जिस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना का प्रयोजन साहित्य की व्याख्या है उसी प्रकार निर्णयात्मक आलोचना का प्रयोजन साहित्य का मूल्यांकन है । निर्णयात्मक आलोचना के विविध पक्षों का विवेचन तो उचित अवसर पर ही किया जाएगा, यहाँ केवल मूल्यांकन के विषय में चर्चा करना अभीष्ट है ।

साहित्य के मूल्यांकन के लिए अपेक्षित है मूल्यांकन की कसौटी । विविध युगों में विविध काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से यह कसौटी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इसलिए जब मूल्यांकन का सवाल आता है तो जो पहली समस्या हमारे सामने आती है वह है साहित्य-विषयक सिद्धान्त के चयन की । इस चयन का आधार सामाजिक परिस्थिति एवं आलोचक की रुचि है । इस प्रकार यह समस्या विशेष रूप से जटिल है । विविध सिद्धान्तों की सत्ता के कारण प्रायः मूल्यांकन में मतभेद हुआ करता है ।

यह सवाल किया जा सकता है कि साहित्य का मूल्यांकन क्यों किया जाय ? और विशेषतः जब मूल्यांकन की विविधता पायी जाती है तो फिर मूल्यांकन की क्या आवश्यकता है ?

साहित्य जहाँ एक ओर समाज को प्रभावित करता है वहाँ दूसरी ओर अपने-आपको भी प्रभावित करता है, अपनी धारा को गति एवं दिशा भी प्रदान करने में सहयोग देता है। ऐसी अवस्था में यह विवेचन निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा कि रचना-विशेष का क्या मूल्य है, उसके गुण-दोष क्या हैं ? प्राय: ऐसा होता है कि कोई प्रतिभा दिग्भ्रमित हो जाती है अथवा परिस्थिति-विशेष के कारण रुग्ण-विचारधारा की शिकार हो जाती है। ऐसा होने पर प्रतिभा की सहज आकर्षण-शक्ति से प्रभावित होकर गौण तथा नवोदित प्रतिभाएँ उसकी संक्रामक लहर में बहने को तत्पर हो जाती हैं। प्रत्येक युग में ऐसे शक्तिशाली व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने नयी लीक बनाने की धुन में विलक्षणता और यहाँ तक कि ह्रासोन्मुखता को प्रश्रय दिया है। वरिष्ठ साहित्यकार का प्रभाव परवर्ती पीढ़ी पर अवश्य ही पड़ता है। इसलिए ऐसी स्थिति में नवीन पीढ़ी को सजग करने की प्रबल आवश्यकता होती है। सवाल यह होता है कि इस आवश्यकता की पूर्ति कौन करे और कैसे करे ?

ऐसी अवस्था में दो ही व्यक्तित्व प्रधान रूप से हमारे सामने आते हैं—एक तो भिन्न विचारधारा के पोषक साहित्यकार का, दूसरा आलोचक का। स्पष्टत: जहाँ तक स्थिति को सँभालने का प्रश्न है वह इनकी शक्ति पर ही निर्भर होगा। हम यहाँ यह मानकर चलते हैं कि दोनों में अपेक्षित शक्ति है। साहित्यकार साहित्य-रचना द्वारा तथा आलोचक साहित्य के मूल्यांकन द्वारा नयी पीढ़ी के लिए सही दिशा का निर्देश कर सकता है। इस दृष्टि से मूल्यांकन का विशेष महत्त्व है।

एक यह उक्ति भी प्रचलित-सी है कि आलोचक अपना राग अलापता रहता है और साहित्यकार अपनी लीक पीटता रहता है। वस्तुत: यह बात आलोचना के महत्त्व को तथा उसकी सार्थकता को ही चुनौती देती है। यहाँ इस पर विचार करना आवश्यक है।

यह कहा जा सकता है कि आलोचक के मूल्यांकन का मूल्यांकित साहित्यकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इस कथन की सत्यता बहुत-कुछ साहित्यकार की शक्ति पर निर्भर करती है। और साथ ही यहाँ इस बात का भी विशेष महत्त्व है कि साहित्यकार विकास की किस अवस्था पर है। यदि उसकी विचारधारा का निर्माण हो रहा है तो निश्चित ही शक्तिशाली आलोचक का प्रभाव उस पर पड़ेगा। इसके विपरीत यदि साहित्यकार प्रौढ़ता की अवस्था को प्राप्त कर चुका है तो सम्भवत: उस पर मूल्यांकन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। और ऐसी आशा बहुत कम होगी कि वह अपनी विचारधारा को बदलने के लिए तत्पर हो जाएगा। यहाँ विचार-निष्ठा के साथ-साथ आत्मसम्मान का तत्त्व भी कार्यशील होता है। यह तो हुआ

मूल्यांकन और मूल्यांकित साहित्यकार का सम्बन्ध। इसके अतिरिक्त मूल्यांकन का एक अन्य पक्ष भी है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि साहित्य न केवल समाज को वरन् अपने-आपको भी प्रभावित करता है। और इस बात की अपेक्षा सदैव रहती है कि साहित्य की परवर्ती परम्परा को तत्कालीन साहित्य के कुप्रभाव से बचाया जाय। इस दृष्टि से मूल्यांकन का विशेष महत्त्व है। साहित्यकार-विशेष का एक प्रकार का मूल्यांकन परवर्ती साहित्यकारों को निश्चय ही प्रभावित करता है। मूल्यांकन के प्रभाव को केवल एक साहित्यकार या साहित्यधारा के सन्दर्भ में नहीं आँकना चाहिए वरन् परवर्ती साहित्यिक विकास में जो उसका योगदान है उसकी स्वीकृति के आधार पर उसके महत्त्व को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसी दृष्टि से मूल्यांकन का विशेष महत्त्व है। इतिवृत्तात्मक कविता के मूल्यांकन तथा छायावादी कविता के मूल्यांकन ने इतिवृत्तात्मक कविता या छायावादी कविता को तथा कवियों को प्रभावित न किया हो लेकिन परवर्ती काव्यधारा के विकास में उस मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मूल्यांकित साहित्यकार मूल्यांकन की उपेक्षा करता है, यह बात भी आज सही नहीं प्रतीत होती। जैसे-जैसे साहित्य में चिन्तन का पक्ष पुष्ट हुआ है, जैसे-जैसे साहित्यकार का चिन्तक रूप उभरता गया है, वैसे-वैसे ही मूल्यांकन का प्रभाव भी बढ़ता गया है। आज का साहित्यकार इस दृष्टि से अत्यन्त सजग एवं जागरूक है। प्रतिकूल मूल्यांकन का उत्तर देने अथवा दिलाने के लिए वह सदैव तत्पर रहता है। इधर नयी कविता और कविता के बीच जो दाँव-पेंच चल रहे हैं उनसे यह कथन प्रमाणित होता है। इससे जहाँ सजगता की व्यंजना होती है वहाँ आलोचना तथा मूल्यांकन के महत्त्व की स्वीकृति प्रमाणित होती है। दोनों ही विशेषताएँ साहित्यिक स्वास्थ्य की निशानियाँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्यिक प्रगति के मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसलिए इसे आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन मानना चाहिए। किन्तु साथ ही यह भी ज्ञात होना चाहिए कि मूल्यांकन का महत्त्व जितना अधिक होता है आलोचक का उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक हो जाता है और अधिक उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अधिक योग्यता की ज़रूरत होती है।

आत्माभिव्यक्ति : अन्य प्रयोजनों के समान ही इस प्रयोजन का सम्बन्ध भी आलोचना के एक विशिष्ट प्रकार—प्रभाववादी आलोचना से है। इस प्रयोजन को समझने के लिए प्रभाववादी आलोचना के स्वरूप का

पूर्ण ज्ञान आवश्यक है जिसका अवसर बाद में आयेगा। यहाँ इसके मूल स्वरूप और प्रक्रिया को समझना अनिवार्य होगा।

प्रायः आत्माभिव्यक्ति का सम्बन्ध साहित्य के साथ माना जाता है इसलिए आलोचना के प्रसंग में उसकी चर्चा एक विलक्षण बात प्रतीत होगी। लेकिन इसके मनोवैज्ञानिक आधार के स्पष्ट हो जाने के उपरान्त इसकी यथार्थता का बोध होगा।

जब व्यक्ति कोई रचना पढ़ता है तो व्यक्तित्व एवं अवस्था के अनुरूप उसकी प्रतिक्रिया द्विविध होगी। एक प्रतिक्रिया तो यह हो सकती है कि वह रचना के प्रत्येक तत्त्व की समीक्षा करता चले, उसके शब्द-शिल्प, रूप, अर्थ-गौरव, विचार-गाम्भीर्य आदि की प्रेरणा, स्वरूप एवं सीमाओं आदि का विश्लेषण करता चले, अथवा रचना से जगायी हुई अनुभूतियों में मुक्त रूप से संचरण करता रहे। प्रायः दोनों का मिश्र रूप ही रहता है किन्तु पाठक के व्यक्तित्व के अनुरूप दोनों में से किसी एक तत्त्व की प्रधानता की सम्भावना रहती है।

पाठक की यह द्विविध प्रतिक्रिया आलोचक में भी इसी प्रकार होती है। सामान्य पाठक और आलोचक में अन्तर इस बात का है कि सामान्य पाठक अपनी प्रतिक्रिया को अपने तक ही सीमित रखता है अथवा व्यक्त करता भी है तो बहुत सामान्य रीति से तथा आलोचक अपनी प्रतिक्रिया को प्रभावी रूप से व्यक्त करता है। आलोचक की अभिव्यक्ति द्विविध प्रतिक्रिया के अनुरूप या तो द्विविध होगी, या उसमें किसी एक तत्त्व पर अधिक बल होगा। यदि वह रचना के विविध पक्षों अथवा तत्त्वों की समीक्षा को केन्द्र बनाता है तो उसकी दृष्टि वस्तुमुखी होगी। वस्तुवादी दृष्टि से जो समीक्षा प्रस्तुत की जायेगी वह व्याख्यात्मक आलोचना की कोटि में आयेगी। यदि उसमें मूल्यांकन का प्रयास भी है तो वह निर्णयात्मक आलोचना की कोटि में भी रखी जा सकेगी।

इसके विपरीत यदि आलोचक की दृष्टि वस्तुमुखी न होकर आत्ममुखी हो, यदि वह रचना के विविध तत्त्वों की समीक्षा न कर व्यक्तिगत प्रभाव को अभिव्यक्त करने में तल्लीन हो जाय तो स्पष्टतः यह अभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति ही मानी जायेगी। इस रचना में आलोचक अपने मन पर पड़े प्रभाव की समीक्षा नहीं करता वरन् उस प्रभाव को इस रूप में व्यक्त करने का प्रयास करता है कि वह पाठक की चेतना में संक्रमित हो जाये। इस प्रकार आलोचक कलाकार के स्तर पर कार्य करता है। जिस प्रकार कलाकार अपनी रचना के द्वारा प्रभाव का संप्रेषण करता है उसी प्रकार आलोचक भी अपनी अनुभूति की अभिव्यंजना करता है। अन्तर इतना है कि कलाकार की अनुभूति का आधार प्रधानतया लोक होता है और आलोचक

की अनुभूति का तात्कालिक प्रेरक रचना होती है। ऐसा भी सम्भव है कि आलोचक आत्माभिव्यक्ति में इतना तल्लीन हो जाय कि वह रचना की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाय और रचना द्वारा जगायी हुई अनुभूति के तुल्य जीवन की निजी अनुभूतियों को संजोने का प्रयास करे।

आलोचक की आत्माभिव्यक्ति में दो तत्त्वों का मिलन रहता है—एक रचनाकार के व्यक्तित्व का, द्वितीय आलोचक के व्यक्तित्व का। प्रधानता दूसरे तत्त्व की ही रहती है। फिर भी आलोचक की आत्माभिव्यक्ति से रचना अथवा रचनाकार की उपलब्धियों अथवा सीमाओं का आभास तो होता ही है।

सांस्कृतिक प्रगति : आलोचना का चौथा प्रयोजन है सांस्कृतिक प्रगति। इसका सम्बन्ध सांस्कृतिक आलोचना के साथ है। आलोचक जो व्याख्या, मूल्यांकन या आत्माभिव्यक्ति करता है उसकी सीमाएँ कहाँ तक हैं? आज तक यह माना जाता रहा है कि उसकी सीमाएँ मूलतः साहित्य तक ही हैं। इसलिए सांस्कृतिक प्रगति को आलोचना के प्रयोजन के रूप में स्वीकृति नहीं मिली। किन्तु मैं समझता हूँ कि आलोचक की सीमा साहित्य नहीं है। उसका क्षेत्र भी साहित्य के समान संस्कृति ही है। इस व्यापक क्षेत्र को अपनाने के कारण ही इस आलोचना को सांस्कृतिक आलोचना कहा गया है। आज का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन देखते हुए यह निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि आलोचना का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप सांस्कृतिक आलोचना है और इसलिए आलोचना का प्रयोजन सांस्कृतिक प्रगति है।

इस बात को लेकर चाहे जितना भी विवाद हो, वस्तुतः वह निराधार ही समझना चाहिए। जो आलोचक और जो साहित्यकार आलोचना को साहित्य तक ही सीमित करना चाहे, जो आलोचना को गौण रचना के रूप में स्वीकार करना चाहे, जो इस पर विश्वास करता है कि आलोचना जीवन से निरपेक्ष रूप से पनप सकती है, उसकी उपलब्धि ही वस्तुतः उसकी सीमा है, इस विषय में सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। जिन्होंने जीवन को अपनी आँखों से देखा है, जिनकी जीवन पर आस्था है, जो साहित्य के सर्वपक्षीय विवेचन के कायल हैं, वे जानते हैं कि आलोचना जीवन से कटकर नहीं पनप सकती। काव्याश्रित समीक्षा की जड़-शुष्क परिणति को देखकर यह सहज ही प्रमाणित हो जाता है।

विशिष्ट परिस्थितियों के कारण व्यक्ति आत्मरति से इतना अधिक पीड़ित हो जाता है कि वह सन्तुलन खो बैठता है। आज की यान्त्रिक सभ्यता के बोझ से झुककर बहुत से विचारक घोर आत्मरति के शिकार हो गये हैं। यह आत्मरति अनेक रूपों में प्रकट होती रहती है। इसका उग्रतम रूप

अस्तित्ववाद में लक्षित होता है। आज का मनोविज्ञान साक्षी है कि यह एक विशिष्ट मानसिक अवस्था का फल है।

सृष्टि का मूल सत्य या तथ्य जीवन है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। जीवन के मूल्यांकन के बारे में मतभेद लक्षित होता है। लेकिन एक बात स्पष्ट है। मानव-जीवन के समग्र रूप का व्यापक धर्म ही संस्कृति है। संस्कृति जीवन का लक्षण है। साहित्य इस संस्कृति का ही एक अंग है। एक दृष्टि से वह संस्कृति का फल भी है। इसलिए संस्कृति से विच्छिन्न रूप में रहकर साहित्य की सत्ता अधूरी है। इसलिए साहित्य को संस्कृति से सम्बद्ध रूप से देखने की प्रक्रिया ही सही तथा वैज्ञानिक प्रक्रिया है। आलोचना का यह भी एक कर्तव्य है कि वह इस बात का निर्णय करे कि विशिष्ट साहित्य-धारा से सांस्कृतिक प्रगति में कहाँ तक सहायता अथवा बाधा हुई है। और साथ ही सांस्कृतिक आलोचना सांस्कृतिक प्रगति को लक्ष्य मानकर साहित्य के विवेचन-पोषण का प्रयास करती है। इस दृष्टि से सांस्कृतिक आलोचना साहित्य का पथ-प्रदर्शन करती है और सांस्कृतिक प्रगति का निश्चित लक्ष्य सामने रखकर कार्यशील होती है। इस कार्य की सिद्धि के लिए साहित्य के माध्यम से संस्कृति को नहीं देखा जाता वरन् व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर ही साहित्य को आँका जाता है।

आलोचना तथा अन्य विषय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोचना अपने समग्र रूप में उतनी ही व्यापक है जितना जीवन। इसलिए स्वाभाविक ही है कि साहित्य एवं सांस्कृतिक जीवन के विविध तत्त्वों एवं पक्षों का अध्ययन करने के लिए विविध विषयों का उपयोग किया जाय। इस रूप में आलोचना प्रधानतया चार विषयों से सम्बद्ध है। ये हैं दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास और मनोविज्ञान।

मनुष्य की ज्ञान-साधना मूल रूप में सम्बद्ध एवं अखण्ड है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो दूसरे विषय से थोड़ा-बहुत सम्बद्ध न हो। ज्ञान-पिपासा की शान्ति एवं मानव-कल्याण की साधना के स्तरों पर तो सभी विषय एक साथ मिलकर अग्रसर होते दिखायी देते हैं। सुतरां भिन्न प्रतीत होते हुए विषय भी मानव-कल्याण की भावना के सूत्र से अनुस्यूत हैं।

ज्ञान-क्षेत्र के विभिन्न विषयों में जो पारस्परिक अन्तर है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त मूलभूत समानता के होते हुए भी यह अन्तर बहुत स्पष्ट और वास्तविक है।

विभिन्न विषयों में जो पारस्परिक अन्तर है उसके तीन कारण होते हैं :

(१) विवेच्य वस्तु का अन्तर,
(२) विवेचन-दृष्टि का अन्तर, और

(३) विवेचन-पद्धति का अन्तर ।

यह तो हुई विवेचनात्मक विषयों या शास्त्रों के अन्तर की बात ।

कलाओं में मानव की सृजनात्मिका साधना की अभिव्यक्ति होती है। कला के विविध रूपों में जो अन्तर लक्षित होता है उसके भी ऐसे ही तीन कारण हैं :

(१) कला-सामग्री का अन्तर,

(२) कलाकार की दृष्टि का अन्तर, और

(३) सृजन-प्रक्रिया का अन्तर ।

इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शास्त्र-साधना और कला-साधना परस्पर स्वतन्त्र और असम्बद्ध नहीं हैं। इन दोनों साधनाओं में भी परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है । एक ओर कला शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करती है, दूसरी ओर शास्त्र भी कला का सहारा लेकर अपने विस्तार का प्रयास किया करता है । कला का प्रधान आधार लेकर एक शास्त्र उठ खड़ा हुआ है जिसे कलाशास्त्र कहा जाता है । यही कारण है कि कला-शास्त्र जहाँ एक ओर कला को आधार मानकर चलता है, वहाँ दूसरी ओर शास्त्र से भी सम्बद्ध है ।

काव्यशास्त्र का स्वरूप

काव्यशास्त्र कलाशास्त्र या पारभाषिक शब्दावली में सौन्दर्यशास्त्र का वह रूप है जो केवल काव्य को ही विवेच्य मानकर चलता है । काव्यशास्त्र का मूल प्रयोजन काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण है, और अपने इस मूल प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह अन्य शास्त्रों से बहुत-कुछ ग्रहण करता है ।

प्रस्तुत निबन्ध में हमें दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ काव्यशास्त्र के सम्बन्ध का विवेचन करना है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विवेच्य वस्तु का शास्त्र पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है । अतएव इन शास्त्रों के स्वरूप को समझने के लिए इनके विवेच्य पर विचार करना होगा । इससे इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ सकेगा ।

काव्यशास्त्र का विवेच्य है—काव्य या साहित्य । साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है । साहित्य की यह परिभाषा अधिकांश काव्यशास्त्रियों को स्वीकार्य है । साहित्य में हमें जीवन के विविध चित्र दिखायी देते हैं । और जीवन के ये चित्र मनुष्य के भावों के रंगों से रंगीन होते हैं । उनमें विचारों की छाया भी होती है । लेकिन भारत की प्राचीन आलोचना-दृष्टि जीवन के भावात्मक पक्ष पर ही केन्द्रित रही ।

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के विकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचते-

पहुँचते यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाने लगा था कि रस ही साहित्य का मुख्य तत्त्व है। और इस रस का आधार है स्थायी भाव, जो कि जीवन के सामान्य भाव, प्रेमादि का शास्त्रीय नाम है।

जीवन की यह भावात्मक व्याख्या—साहित्य—ही काव्यशास्त्र का विवेच्य है। किन्तु शास्त्र होने के नाते काव्यशास्त्र की दृष्टि भावात्मक न होकर तार्किक होती है। वह तर्क को आधार बनाकर साहित्य के विविध पक्षों का विवेचन कर उनके स्वरूप का प्रकाशन करता है और उनके सम्बन्ध में नियम निर्धारण करता है। अतएव काव्यशास्त्र जीवन की भावात्मक व्याख्या—साहित्य—की तर्कसम्मत व्याख्या है।

काव्यशास्त्र साहित्य के तत्त्वों का विवेचन बौद्धिक प्रणाली पर करता है। उदाहरण के लिए साहित्य का एक तत्त्व है भाव। साहित्य के अध्ययन से एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। इसे हम साहित्यिक आनन्द कह सकते हैं। काव्यशास्त्र इस साहित्यिक आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी मीमांसा करता हुआ उसकी निष्पत्ति, स्वरूप, अवयवों, दोषों आदि पर विचार करता है। इसी प्रयास के फलस्वरूप भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसका सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। यहाँ मूल विवेच्य साहित्यिक आनन्द या रस है। उस पर भिन्न आचार्यों ने भिन्न दृष्टियों से विचार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे सामने आज रस-सिद्धान्त की विविध व्याख्याएँ उपस्थित हैं। विभिन्न आचार्यों ने ये दृष्टियाँ दर्शनशास्त्र से ग्रहण कीं। काव्य-शास्त्र जीवन से सम्बद्ध है मगर अप्रत्यक्ष रूप से। उसका विवेच्य—साहित्य—जीवन से सम्बद्ध है और उसका सहयोगी शास्त्र—दर्शनशास्त्र—जीवन से सम्बद्ध है। अतएव साहित्य एवं दर्शन के माध्यम से काव्यशास्त्र भी जीवन से सम्बद्ध हो जाता है।

दर्शनशास्त्र का स्वरूप और काव्यशास्त्र से सम्बन्ध

दर्शनशास्त्र के स्वरूप में कालान्तर से पर्याप्त अन्तर आया है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी विषय जो सत्य का दर्शन कराता हो, सही निष्कर्ष तक पहुँचाता हो, दर्शन कहलाता है। दृश्यते ऽनेन इति दर्शनम्—इस रूप में दर्शन की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक हो जाती हैं। अंग्रेज़ी के 'फिलॉसफी' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ[1] और भी विस्तृत है।

---

[1] *Philosophy*—Gr. Phikin, to love-Sophia, wisdom.
The Dictionary of Philosophy: Ed. Dogobert D. Runes, p. 235.

इस अर्थ के अनुसार किसी भी ज्ञान के प्रेमी को दार्शनिक की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु बाद में चलकर इन अर्थों में परिवर्तन हो गया।

भारतीय इतिहास में दर्शनशास्त्र उस विषय के लिए रूढ़ हो गया जो संसार के मूल तत्त्व या परम-सत्य का साक्षात्कार कराये। अतएव दर्शनशास्त्र का विवेच्य हुआ जीवन का मूल तत्त्व या परम-सत्य। विविध दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से विविध मूल तत्त्वों एवं परम-सत्य की प्रतिष्ठा की। पश्चिम में 'फिलॉसफी' शब्द का इतिहास और भी रोचक रहा है। मध्यकाल में विश्वविद्यालयों में जो दर्शन का अध्ययन कराया जाता था उसकी तीन शाखाएँ मानी जाती थीं—प्राकृतिक दर्शन, नैतिक दर्शन और तात्त्विक दर्शन। इनको दर्शनत्रय की संज्ञा दी जाती थी। इसीलिए इनमें से किसी भी एक विषय के शोधकर्त्ता को आज भी डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी की उपाधि दी जाती है।[1] किन्तु बाद में चलकर प्राकृतिक दर्शन को विज्ञान, और नैतिक दर्शन को नीतिशास्त्र की संज्ञा दी गयी और उन्हें शुद्ध दर्शन से पृथक् माना गया।

'दर्शन' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया के अर्थ में और उपलब्ध ज्ञान के अर्थ में।[2] 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति—दृश्यते ऽनेन इति दर्शनम्—में दर्शन को साधन ही कहा गया है। मगर साथ ही उपलब्ध ज्ञान के लिए भी 'दर्शन' शब्द का प्रयोग होता आया है—जैसे वेदान्त दर्शन, न्याय दर्शन आदि, और यह स्वाभाविक भी है। प्रत्येक विषय की अपनी प्रक्रिया-विशेष होती है, और उसका अपना फल भी होता ही है।

प्रक्रिया-विशेष के रूप में दर्शन सबसे अधिक सम्बद्ध और पूर्ण माना जा सकता है। किसी भी अन्य विषय की प्रणाली इतनी सूक्ष्म, सुष्ठु, व्यवस्थित और सम्बद्ध नहीं है जितनी दर्शन की है।[3]

प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करने से दर्शन की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक हो जाती हैं। क्योंकि सभी विषय अपनी सफलता एवं निर्दोषता के लिए सही

---

1 That more advanced knowledge or study, to which, in the mediaeval universities, the seven liberal arts were recognized as introductory : it included the three branches of natural, moral and metaphysical philosophy, commonly called the three philosophies. Hence the degree of Doctor of Philosophy. *Oxford English Dictionary*, Vol. VII, p. 781.

2 But philosophy has been both the seeking of wisdom and the wisdom sought.
—*The Dictionary of Philosophy*, Ed. Dogobert D. Runes.

3 Knowledge of the lowest kind is un-unified knowledge, science is partially unified knowledge philosophy is completely unified knowledge. H. Spencer—*First Principles*, p. 115.

तर्क-प्रणाली की अपेक्षा करते हैं। अतएव स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि से लेकर रसायनशास्त्र तक सभी विषयों को दर्शन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। इसीलिए दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान कहा गया है और उसका उद्देश्य समस्त मानव-अनुभवों के मूलभूत सत्य का प्रकाशन माना गया है।[1]

इस रूप में दर्शनशास्त्र एवं काव्यशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट ही है। काव्यशास्त्र की सफलता के लिए दार्शनिक प्रविधि का उपयोग आवश्यक है, और यह एक सर्वविदित तथ्य है कि संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रन्थों और दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों की प्रविधि एवं शैली बहुत हद तक मिलती-जुलती है।

दूसरे अर्थ में दर्शन का अभिप्राय वेदान्त आदि ज्ञान की विशिष्ट उपलब्धियों से है। स्पष्टतः दर्शन का प्रथम पक्ष बहुत व्यापक है और यह संकुचित है। दर्शन का उद्देश्य परम सत्य की प्राप्ति है, वह जीवन की शाश्वत समस्याओं का शाश्वत समाधान देने की चेष्टा करता है। इस रूप में कोई भी दो दार्शनिक परस्पर सहमत नहीं हैं। दर्शन उसी से सन्तुष्ट नहीं होता जो स्पष्ट लक्षित होता है। वह ऐन्द्रिय अनुभव को ही सब कुछ नहीं मान बैठता। वह उससे आगे बढ़ता है और बौद्धिक प्रक्रिया को अपनाकर प्रत्येक अनुभव को तर्क से व्यवस्थित कर बौद्धिक स्तर पर ला खड़ा करता है। किन्तु कई दार्शनिक इससे भी सन्तुष्ट न होकर और आगे बढ़ते हैं। वे तर्क को भी अस्वीकार कर स्वयं-प्रकाश ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और इसी के आधार पर परम सत्य की उपलब्धि कर उसके स्वरूप को बुद्धि द्वारा प्रकाशित करने की कोशिश करते हैं। ये तर्क को स्वीकार तो करते हैं, मगर एक सीमा तक ही। इस प्रकार विविध दार्शनिक वादों की प्रतिष्ठा होती है।

साहित्य भी इन विविध दार्शनिक वादों से प्रभावित होता रहता है। साहित्य के साथ-साथ साहित्यशास्त्र भी इन वादों का सहारा लेता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने मीमांसा, सांख्य, शैव दर्शन, वेदान्त दर्शन आदि का सहारा लेकर रस की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि कोई दार्शनिक परम सत्य का निरूपण कर लेने के बाद उसी के प्रकाश में साहित्य के मूल्यांकन का भी प्रयास करता है। प्लेटो का उदाहरण लीजिए। दार्शनिक के रूप में उसने यह प्रतिष्ठा की कि दृश्य जीवन वस्तुतः सत्य जीवन की छाया मात्र है। इस दृश्य जीवन को

---

1 ...philosophy is that science of all the sciences which takes account of every class of facts within the purview of human experiences with the purpose of discovering the truths that underlie therein. —J. A. Mac Williams : *Philosophy for the Millions*, p. 18.

त्याग देने पर ही परम सत्य की उपलब्धि होती है। इसके बाद काव्य का मूल्यांकन करते हुए उसने कहा कि काव्य इस दृश्य संसार का अनुकरण करता है, अतः वह सत्य की छाया की अनुकृति होने के कारण मनुष्य को सत्य से और भी दूर ले जाता है। अतएव काव्य त्याज्य है।

किन्तु शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से साहित्य का ग्राह्य मूल्यांकन नहीं हो सकता। यदि ऐसा सम्भव होता तो साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक भिन्न शास्त्र—काव्यशास्त्र—की अपेक्षा ही नहीं होती। साहित्य और दर्शन के परस्पर के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक जीवन की भावात्मक व्याख्या है, और दूसरी बौद्धिक। साहित्यकार और दार्शनिक—दोनों का ही केन्द्र जीवन है और उद्देश्य है उसकी व्याख्या। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि किसी भी एक दार्शनिक दृष्टि के आधार पर साहित्य का विवेचन-मूल्यांकन किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि साहित्य तथा दर्शनशास्त्र में जहाँ समानता है वहाँ बड़ा निर्दिष्ट अन्तर भी है। और वह यह कि दर्शन का मूल अस्त्र है तर्क, तथा साहित्य का प्राण है भाव। साहित्य में जो विचार-तत्त्व भी आता है वह प्रायः भाव के अधीन होकर ही। दर्शन की अनुभूति के लिए वासना का अभाव होना चाहिए तथा साहित्य की अनुभूति के लिए उसका होना अनिवार्य है। दर्शन और साहित्य के इस मूलभूत अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेने के उपरान्त सहज ही सिद्ध हो जाता है कि यदि कोई दार्शनिक अपनी विशिष्ट दृष्टि से मूल्यांकन करेगा, तो उसे साहित्य के विद्यार्थी स्वीकार नहीं कर सकते। प्लेटो ने जो साहित्य का मूल्यांकन किया है, वह इसी कारण अग्राह्य है। हमारे यहाँ भी शुद्ध दार्शनिकों ने 'काव्यालापाश्च वर्जयेत्' कहकर उसी उपक्रम का परिचय दिया है जिसके दर्शन प्लेटो में होते हैं। हमने उसे भी स्वीकार नहीं किया है। यदि साहित्यिक दृष्टि से दर्शन का मूल्यांकन नहीं हो सकता तो दार्शनिक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन भी असम्भव है।

साहित्य और दर्शन का सम्बन्ध हमारे यहाँ भी रहा और रोम, ग्रीक आदि में भी और यह सम्बन्ध आज तक चला आ रहा है। लेकिन हमारे दर्शनशास्त्र में तथा पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण भेद है जिसका इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी होगा। पाश्चात्य दर्शन का आधार तर्क ही रहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए दर्शन यद्यपि जीवन से सम्बद्ध है लेकिन उन्होंने प्रायः दर्शन और जीवन के इस सम्बन्ध को अनुभूति का विषय बनाने की चेष्टा नहीं की। लेकिन भारतीय दर्शन सदैव अनुभूति को साथ लेकर चला। यह स्पष्ट घोषणा की गयी कि अनुभूति के बिना केवल ज्ञान से या वाक्य-ज्ञान से किसी का उद्धार नहीं हो सकता। दर्शन का फल तभी

मिलता है जब उसका अवसान अनुभूति में हो। इससे हमारे दर्शनशास्त्रियों ने भी अनुभूति को ही परम मूल्य के रूप में माना है। सत्य की अनुभूति परम शिव और परम आनन्द की अनुभूति है। जीवन की महत्तम अनुभूति में इन तीनों गुणों का समन्वय है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार साहित्य का परम लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति में मग्न करना है। यही साहित्य की परम अनुभूति है जो सत्य है, शिव है और आनन्दमय है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्री के सामने—जो कि दर्शनशास्त्र का भी मर्मज्ञ हुआ करता था—दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता थी। एक दर्शन की साध्य और द्वितीय साहित्य की। उन्होंने इन दोनों अनुभूतियों के पारस्परिक सम्बन्ध की परीक्षा की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन दोनों अनुभूतियों में—ब्रह्मानुभूति और रसानुभूति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

रस-सिद्धान्त की विविध व्याख्याओं को समझने के लिए उनके आधारभूत दार्शनिक वादों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ भी कोई विचारक या काव्यशास्त्री विवेच्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए किसी दार्शनिक दृष्टि को अपनाता है वहाँ वह दृष्टि न केवल विवेचन का आधार ही बनती है वरन् वह विवेच्य वस्तु के स्वरूप को भी पूरी तरह से प्रभावित करती है।[1] यही कारण है कि एक ही तथ्य को विविध दार्शनिक दृष्टियों से देखने पर उसके स्वरूप में पर्याप्त भेद हो जाता है।

दर्शनशास्त्र प्रक्रिया की निर्दोषता और स्वरूप की व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है। दार्शनिक अपनी हर एक बात को स्पष्ट से स्पष्ट रूप में एवं व्यवस्थित पद्धति से प्रस्तुत करता है। इसलिए काव्यशास्त्र को व्यवस्थित एवं सफल बनाने के लिए दार्शनिक आधार की अपेक्षा है। इस बात की चर्चा करते हुए ऑस्बोर्न ने लिखा है :

---

1 "Whether or not certainty is thought to be possible in human and natural investigations it is no less true that the nature of things, in so far as it is known, is determined by philosophic principles than that philosophic principles are determined, in so far as they are verified, by the nature of things."—Richard Mackeon, '*The Philosophic Bases of Art and Criticism*' from the Book *Critics and Criticism*, Edited by R. S. Crane.

—"चाहे मानवीय या प्राकृतिक खोजों में निर्दिष्टता सम्भव हो या नहीं, यह कथन कि वस्तुओं का स्वरूप—जहाँ तक कि वह ज्ञात है—दार्शनिक सिद्धान्तों से नियन्त्रित है उतना ही सत्य है जितना यह कि दार्शनिक सिद्धान्त—जहाँ तक कि उनकी पुष्टि की जाती है—वस्तुओं के स्वरूप से नियन्त्रित हैं।"

"क्योंकि आलोचना सदैव अपने दर्शन से रहित रही है, जिसके बिना शोध क्रिया अनिवार्यतः निष्फल चलती रहेगी, क्योंकि उसके पास सम्बद्धता की कोई कसौटी नहीं होगी और न ही असफलता एवं सफलता का भेद करने का कोई मान ही होगा।"[1]

यद्यपि पश्चिम में आलोचना का कोई अपना विशिष्ट दर्शन नहीं रहा, फिर भी वहाँ दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र का सम्बन्ध निश्चित रूप से रहा है जैसा कि रिचर्ड मैक्योन के इस कथन से स्पष्ट है :

"कोई भी सामान्य विवेचन प्रयुक्त दार्शनिक सिद्धान्तों को और सम्बद्ध विषय को तुरन्त ही प्रतिपादित कर देता है, लेकिन उन सब विवेचनों में जिनमें दर्शन व्यक्त होता है—कला की आलोचना, सिद्धान्त की मान्यता, विषय के नियन्त्रण और प्रक्रिया के उपयोग से एक विशिष्ट-उत्कृष्ट संतुलित रूप से प्रभावित होती है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र काव्यशास्त्र से द्विविध रूप से सम्बद्ध है।

प्रथम, प्रत्यक्ष सम्बन्ध है—जैसे कि काव्यशास्त्र में दार्शनिक सूक्ष्म प्रक्रिया और सम्बद्ध विवेचन का सन्निवेश तथा काव्य-सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों में आधारभूत दार्शनिक दृष्टियों की सत्ता।

द्वितीय, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। काव्य का आधार भी जीवन है और दर्शन का भी। अतएव काव्य दर्शन से बहुत-कुछ ग्रहण करता है। और इस प्रकार काव्य की सम्यक् मीमांसा का लक्ष्य होने के कारण काव्यशास्त्र भी उन दार्शनिक दृष्टियों की आलोचना करता है जिनका समावेश साहित्यिक रचनाओं में होता है। अतएव जब आलोचना के स्वरूप एवं प्रयोजन पर विचार किया जाता है तो साहित्य और दर्शन के स्वरूप एवं प्रयोजन की चर्चा भी अनिवार्य हो जाती है। इसी आधार पर रिचर्ड मैक्योन ने कहा है :

---

1 For criticism has ever lacked its own philosophy, without which research must continue always inconclusive, having no touchstone of relevance, nor any criterion of distinguishing failure from success."—Harold Osborne : *Aesthetics and Criticism*, p. 6.

2 "Any general discussion expounds at once the principles of philosophy which it employs and the subject with which it is concerned, but, if all the discussions in which philosophy finds an application, the criticism of art is influenced in a peculiarly, nice balance by commitment to principle, determination by subject, and the use of method. —Richard Mackeon : '*The Philosophic Bases of Art and Criticism*' from the Book *Critics and Criticism*, Edited by Crane, p. 464.

"आलोचक के प्रयोजन का विवेचन, इसीलिए कवि और दार्शनिक के प्रयोजन का विवेचन है।"[1]

नीतिशास्त्र और काव्यशास्त्र

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र और साहित्य अतः साहित्यशास्त्र का जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उसी प्रकार नीतिशास्त्र का भी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दर्शन जीवन की बौद्धिक व्याख्या, और साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है उसी प्रकार नीतिशास्त्र को जीवन की व्यावहारिक व्याख्या कहा जा सकता है।

नीतिशास्त्र का सीधा सम्बन्ध मानव के दैनिक व्यवहार तथा आचरण के साथ है। मानव-आचरण का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से—समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि से किया जा सकता है। किन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि आचरण के भले या बुरे, शिव अथवा अशिव पक्ष पर ही रहती है। अतएव इस विषय में विद्वान् सहमत हैं कि आचरण में उचित या शिव के अध्ययन को ही नीतिशास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

इस परिभाषा में आचरण के शिव अथवा उचित पक्ष की चर्चा की गयी है, अशिव या अनुचित की नहीं, इसका एक कारण है; और वह यह कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल आदर्श से है, यथार्थ से नहीं। 'मानव-आचरण कैसा है', यह उसके अध्ययन का विषय नहीं है। उसमें तो केवल इस प्रश्न का ही उत्तर देने का प्रयास किया जाता है कि आचरण कैसा होना चाहिए। इसीलिए उसे 'आदर्शात्मक विज्ञान' कहा जाता है।

मनोविज्ञान आदि अन्य शास्त्रों से नीतिशास्त्र की भिन्नता बतलाते हुए कहा गया है :

"लेकिन नीतिशास्त्र की समस्या वस्तुतः भिन्न है। यह उपर्युक्त अध्ययनों से इस बात में भिन्न है कि इसका सम्बन्ध मुख्यतः मात्र तथ्यों से नहीं है वरन् मूल्यों के साथ है, अनुमानों के साथ है। यह बात प्रायः इस कथन द्वारा व्यक्त की जाती है कि नीतिशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान नहीं है वरन् आदर्शात्मक विज्ञान है—मूलतः इसका सम्बन्ध यथार्थ मानव-आचरण की विशेषता से न होकर उसके आदर्श के साथ है। मानव-आचरण कैसा है,

---

1 "To discuss the function of the critic, therefore, is to discuss the function of the poet and the philosopher." —Richard Mackeon : '*The Philosophic Bases of Art and Criticism*' from the Book *Critics and Criticism*, Edited by Crane, p. 491.

2 "Ethcis may be defined as the study of what is right or good in conduct. —John S. Mackenzie : *A Manual of Ethics*, p. 1.

इसके साथ उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना इसके साथ कि वह कैसा होना चाहिए।"[1]

नीतिशास्त्र के स्वरूप के स्पष्टीकरण के उपरान्त अब दर्शनशास्त्र से उसकी भिन्नता पर सहज ही विचार हो सकता है। दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध वास्तविक सत्य के साथ है, यथार्थ के साथ है। यह संसार जो यथार्थ है, उसका मूल रूप क्या है, यही दर्शनशास्त्र की एकमात्र समस्या है। इसके विपरीत नीतिशास्त्र का सम्बन्ध यथार्थ मानव-आचरण से न होकर उसके आदर्श रूप के साथ है। संसार के मूल में वास्तविक सत्य क्या है, यह समस्या नीतिशास्त्र की परिधि से बाहर है। वह तो केवल मानव-व्यवहार में शिव एवं उचित तत्त्वों के परीक्षण तक ही सीमित है।

अतएव स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र की मूल समस्या नीतिशास्त्र की सीमा से परे है। लेकिन इस बात में भिन्न होते हुए भी दोनों शास्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं। और वह इस रूप में कि मानव-आचरण दर्शन द्वारा प्रतिपादित मूल सत्य के अनुकूल होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए जो कि मानव को उस मूल सत्य का साक्षात्कार करा सके। किन्तु मूल सत्य क्या है, इस विषय में विविध दार्शनिक परस्पर सहमत नहीं हैं। और यही कारण है कि वे अपने-अपने सत्य के अनुकूल विविध प्रकार की आचरण-पद्धतियों की योजना करते हैं। इसी से नीतिशास्त्र में विविध नैतिक सिद्धान्तों का जन्म होता है। यद्यपि दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र का आधार है, तो भी दोनों की दृष्टियों एवं विवेच्य में अन्तर है। इसीलिए पश्चिम में दोनों की पृथक् सत्ता है।

किन्तु भारतीय चिन्तन के विकास में दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र—दो भिन्न शास्त्रों के रूप में प्रकट नहीं हुए। इसका कारण यही है कि दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रत्येक दार्शनिक ने अपनी विवेचन-प्रणाली से मूल सत्य के स्वरूप का उद्घाटन करने के साथ-साथ उस तक पहुँचने के लिए साधना-पद्धति का भी निर्देश किया है। यह साधना-पक्ष पाश्चात्य दृष्टि से नीति-शास्त्र के अध्ययन की सामग्री है।

भारतीय चिन्तन में 'नीति' शब्द के अर्थ से मिलते-जुलते दो शब्द मिलते

---

1 "But the problem of ethics is essentially different. Unlike the above mentioned studies it is not concerned mainly with bare facts but with values, with estimates. This is usually expressed by saying that ethics is not a positive science but a normative science; it is not primarily occupied with the actual character of human conduct but with its ideal, not so much with what human conduct is as with what it ought to be..." —*Encyclopaedia Britanica*, Vol. 8, p. 757.

हैं—एक धर्म, द्वितीय ऋत। धर्म और ऋत दोनों के अन्तर्गत मानव-आचरण का ही अध्ययन किया जाता है। किन्तु धर्म जहाँ एक ओर शिव का विवेचन करता है, वहाँ अशिव का निरूपण भी करता है। और साथ-साथ आचरण के सामाजिक पक्ष का भी—जो कि पाश्चात्य दृष्टि से समाजशास्त्र का विवेच्य है—उल्लेख करता है। धर्म के विषय में कहा गया है :

(धर्म में) धारणा करने की विशेषता है, इसीलिए वह धर्म कहलाता है। धर्म के द्वारा ही प्रजाओं का पालन होता है। यह निश्चित है कि जिसमें धारण करने की सामर्थ्य है वही धर्म है।[१] 'धर्म' शब्द के अनुरूप ऋत की कल्पना भी नीति के आधार पर की गयी थी। ऋत 'नीति' शब्द के अर्थ के अधिक निकट है।[२] किन्तु आज नीतिशास्त्र में 'नीति' शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह धर्म या ऋत के द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि धर्म और ऋत दोनों का आधार मूलतः दैवी है, दोनों ही अपौरुषेय हैं। लेकिन नीतिशास्त्र के अध्ययन में मानव-आचरण के आदर्शों की प्रतिष्ठा केवल दैवी शक्ति के द्वारा ही नहीं वरन् केवल अनुभव एवं तर्क के बल पर भी की जा सकती है।

साहित्य और नीतिशास्त्र दोनों का आधार जीवन है और दोनों ही प्रत्यक्ष रूप से मानव-व्यवहार से सम्बद्ध हैं। जब साहित्य जीवन का नियन्त्रण करता है तो उसमें आचरण के शुभ पक्ष को उद्दीप्त कर काम्य रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है। साहित्य और जीवन के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की चर्चा प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने अत्यन्त स्पष्ट और सशक्त शब्दों में की है। भामह ने श्रेष्ठ काव्य द्वारा चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का उल्लेख किया है।[3]

---

१ धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण वधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

—महाभारत (शान्ति-पर्व), १०६।११

२ "विश्व को व्यापने वाले 'ऋत' तत्त्व को वैदिक ऋषियों ने नीति की कल्पना के बल पर उत्पन्न किया। ऋत तथा अनृत के द्वन्द्व से नीति और अनीति के द्वन्द्व का बोध होता है। वैदिकों के नीतिशास्त्र में 'ऋत' शब्द उचित कर्मों का वाचक और सत्य के पथ का परिचायक, अतएव सराहनीय जीवन-पद्धति का प्रमाण माना गया है।" —लक्ष्मण शास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० ३४ (अनुवादक : डॉ० मोरेश्वर दिनकर पराड़कर)।

3 धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासुच।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

आचार्य भामह: काव्यालंकार—१।२

आचार्य कुन्तक ने साहित्य को धर्मादि का साधन कहा है।[1] आचार्य मम्मट ने भी काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए उसे कान्ता के समान रमणीय उपदेश देने वाला कहा है।[2]

काव्य में जीवन के दोनों चित्रों का वर्णन होता है—शुभ का भी और अशुभ का भी। और यह चित्रण इस प्रकार का होता है कि पाठक शुभ-आचरण में अनुरक्त हो तथा अशुभ आचरण से विरक्त हो जाय। और इसके साथ-ही-साथ काव्य में सरसता भी बनी रहनी चाहिए। काव्य इस बात का उपदेश देता है कि रामादि के समान आचरण करना चाहिए और साथ ही रावणादि के आचरण से विमुख भी करता है।[3]

यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि काव्य का पाठक के नैतिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इससे कोई भी इन्कार नहीं करता। किन्तु जब हम इस समस्या पर आते हैं कि काव्य की समीक्षा में, काव्यशास्त्र में काव्य के नैतिक पक्ष को क्या स्थान मिलना चाहिए, तो वहाँ विरोधी विचारधाराएँ संघर्ष करती दिखायी देती हैं। यों तो कलावादी भी काव्य के नैतिक प्रभाव—सत् या असत्—से इन्कार नहीं करता, किन्तु उसकी दृष्टि में यह प्रभाव उस रचना की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं बन सकता। उधर कलावाद के विपरीत अन्य सिद्धान्त भी हैं जो काव्य के नैतिक प्रभाव को उसकी श्रेष्ठता की कसौटी मानते हैं। इनके मतानुसार नैतिकता काव्य का अन्तरंग तत्त्व है, कोई बाहरी आनुषंगिक पहलू नहीं है। उनके मतानुसार काव्यों के मूल्यांकन एवं वर्गीकरण में नैतिक दृष्टि का उपयोग करना आलोचना का एक मुख्य प्रयोजन है। इस सम्बन्ध में कहा गया है :

"वे सब अपने विभिन्न तरीकों से कलाकृतियों तथा साहित्य द्वारा व्यक्ति या समाज पर पड़े नैतिक या अर्द्धनैतिक प्रभावों में रूचि रखते हैं और सब अपनी शब्दावलियों में मानते हैं कि आलोचना का एक प्रमुख प्रयोजन है—

---

[1] धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदित।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदाह्लादकारकः॥
आचार्य कुन्तकः वक्रोक्तिजीवत—१।४

[2] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतररक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
आचार्य मम्मटः काव्यप्रकाश—१।२

[3] कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य
रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं···
आचार्य मम्मटः काव्यप्रकाश—१।२

कलाकृतियों द्वारा डाले गये प्रभावों के आधार पर उनका मूल्यांकन या वर्गीकरण ।[1]

साहित्य में कलावाद और लोकहितवाद का यह संघर्ष पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की एक मूलभूत समस्या रही है और उसी के प्रभाव से आधुनिक भारतीय आलोचना में इस समस्या ने प्रवेश किया है। किन्तु भारत की प्राचीन काव्यशास्त्रीय दृष्टि इस विषय में बड़ी स्पष्ट थी। एक ओर तो काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख किया गया और साथ ही काव्यकला के विभिन्न तत्त्वों—रस, शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति आदि और उनसे उत्पन्न अन्तश्चमत्कार की भी विशद मीमांसा की गयी। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि पूर्ण एवं समन्वयात्मक रही है।

रस-सिद्धान्त के विवेचन में जहाँ विविध दार्शनिक दृष्टियों का उपयोग हुआ है, वहाँ नैतिक दृष्टि भी लक्षित होती है। वस्तुतः जब भारतीय चिन्तन के किसी भी रूप की मीमांसा में दार्शनिक दृष्टि के उपयोग की चर्चा की जाती है तो वहाँ नैतिक दृष्टि अन्तर्निहित ही समझनी चाहिए क्योंकि यहाँ दर्शन और नीति के अन्यान्य सम्बद्ध रूप में ही दोनों का विवेचन हुआ है।

आलोचना और इतिहास

आलोचना का इतिहास से मूलभूत सम्बन्ध है। इस मूलभूत सम्बन्ध का आधार राजाओं-सामन्तों का जीवन नहीं सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन ही है। इसलिए इतिहास के उस रूप के साथ जिसमें विविध सामाजिक एवं व्यक्तिगत शक्तियों के घात-प्रतिघात से सांस्कृतिक विकास का अध्ययन किया जाता है, जिस प्रकार साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार आलोचना का भी गहरा रिश्ता है। इस सत्य की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया। यही कारण है कि जहाँ साहित्य के अध्ययन में सांस्कृतिक दृष्टि का उपयोग हुआ है और हो रहा है वहाँ आलोचना के अध्ययन में उसका अभाव ही है। आवश्यकता इस बात की है कि आलोचना के विकास के अध्ययन को सांस्कृतिक विकास के अध्ययन से संपृक्त किया जाय। जब तक इस आलोक में आलोचना का अध्ययन नहीं किया जाएगा तब तक साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन पूर्ण नहीं होगा।

---

१ "...that all in their various ways are interested in the ethical or quasi-ethical influences exerted by works of art and literature upon the individual and society and all in their different terminologies maintain that it is a primary function of criticism to assess and grade works of art in terms of the influences which they exert."—Harold Osborne: *Aesthetics and Criticism*, p. 12.

आलोचना के सांस्कृतिक अध्ययन का अभाव वही भ्रान्ति है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जब यह मान लिया गया कि काव्यशास्त्र तो एकमात्र काव्य पर आधारित है तो फिर काव्यशास्त्र के सांस्कृतिक पक्ष के अध्ययन की उपेक्षा होना स्वाभाविक ही था।

यदि यह स्थिति मान भी ली जाय तो फिर भी इससे इस सत्य का निराकरण तो नहीं हो जाता कि आलोचना अप्रत्यक्ष रूप से ही सही—साहित्य के माध्यम से ही सही—जीवन से सम्बद्ध है। व्यापक दृष्टि तथा सही दृष्टि से देखने पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसलिए यदि इतिहास में यह भ्रान्ति काम कर गयी है तो फिर भी काव्यशास्त्र का सांस्कृतिक अध्ययन सम्भव है।

अब यह स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र का प्रधान केन्द्र काव्य हो सकता है, फिर भी आलोचना का प्रधान केन्द्र संस्कृति को ही बनाना चाहिए। इससे काव्यशास्त्र के सांस्कृतिक पक्ष का निषेध नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर भी काव्यशास्त्र संस्कृति से अप्रत्यक्ष रूप से तो सम्बद्ध है ही। जब साहित्य संस्कृति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और काव्यशास्त्र का आधार साहित्य है तो स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र भी सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप विकसित होगा। अन्तर केवल इतना है कि काव्यशास्त्र का यह विकास साहित्य के माध्यम से होगा।

जैसे-जैसे जीवन व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है वैसे ही वैसे आलोचना और सांस्कृतिक साधना का स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। आज के कई आलोचना-सम्प्रदाय प्रत्यक्ष रूप से विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए मार्क्सवाद अथवा अस्तित्ववाद पर आधारित साहित्य दो जीवन-दृष्टियों पर आधारित साहित्य है। उन्हीं दृष्टियों के अनुरूप ही साहित्यिक भाव-बोध का विवेचन भी किया जाता है। मूल सांस्कृतिक दृष्टियों को समझे बिना, उन परिस्थितियों को समझे बिना जिनमें दृष्टि-विशेष का उदय या विकास हुआ है, न तो ऐसे साहित्य की व्याख्या सम्भव है और न ही आलोचना का सूक्ष्म विश्लेषण ही मुमकिन है। इसलिए स्पष्ट है कि किसी भी देश के साहित्य अथवा आलोचना को समझने के लिए उस देश के सांस्कृतिक इतिहास का ज्ञान अनिवार्य है।

प्रायः यह कहा जाता है कि किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए साहित्य से अधिक उपयोगी कोई दूसरा साधन नहीं है। ऊपर जो बात कही गयी है वह इसके ठीक विपरीत है। वस्तुतः दोनों ही सत्य हैं। साहित्य से संस्कृति का सामान्य ज्ञान हो जाता है किन्तु साहित्य और आलोचना के विशिष्ट ज्ञान के लिए सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान बहुत ज़रूरी है। विरोधी

प्रतीत होने वाले इन कथनों से साहित्य और संस्कृति के घनिष्ठ एवं अभिन्न सम्बन्ध की सत्ता प्रमाणित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य और आलोचना का विशिष्ट एवं प्रामाणिक अध्ययन करने के लिए सांस्कृतिक इतिहास का जानना बहुत ज़रूरी है। इस सत्य की प्रायः अवहेलना की जाती है। जो लोग इस विषय को विशेष अध्ययन एवं शोध का क्षेत्र बनाना चाहते हैं उनके लिए सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए।

साहित्य और मनोविज्ञान

मानव-आचरण का समग्र रूप एवं विकास अपने मूल रूप में मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। मनोविज्ञान में मानव के व्यक्तित्व के स्वरूप एवं विकास, उसकी मूल वृत्तियों एवं आवश्यकताओं, उसके भाव, विचार एवं कल्पना आदि सभी शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। मनोविज्ञान एक विकासशील विज्ञान है और इसलिए उसके अन्तिम निष्कर्ष भी विवाद के विषय हो सकते हैं। इसके बावजूद भी बहुत-सी बातों पर विविध मनोवैज्ञानिकों में सहमति पायी जाती है।

साहित्य मानव-साधना का एक विशिष्ट रूप है। और वह समस्त रूप भी है। समस्त इस रूप में कि मानव की विविध वृत्तियों एवं शक्तियों के सम्मिलित योग से उसकी निर्मिति होती है। इस प्रकार साहित्य के वे सारे तत्त्व भी उसी रूप में मनोविज्ञान के विषय बन जाते हैं जिस रूप में वे मानव के अध्ययन में स्वीकार किये गये हैं। साहित्य संश्लिष्ट, जटिल एवं दुरूह रचना होने के कारण सरलता से मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं बनाया जा सकता और उसमें असंगतियों का आ जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

साहित्य के तत्त्वों के अतिरिक्त एक अन्य दृष्टि से साहित्य की आलोचना मनोविज्ञान के क्षेत्र में आती है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया के अध्ययन में हमें मनोविज्ञान से सहायता लेने की अपेक्षा होती है क्योंकि मनोविज्ञान में ही चिन्तन, मनन आदि का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस दृष्टि से कलाओं को सृजनात्मक चिन्तन (क्रिएटिव थिंकिंग) कहा जाता है।

इसी प्रकार काव्य के तत्त्वों—भाव आदि तथा काव्य की प्रतिक्रिया अथवा आस्वाद के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने साहित्यिक अध्ययन के एक नवीन आयाम का उद्‌घाटन किया है और निस्सन्देह यह नवीन आयाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक आलोचना के प्रसंग में इसकी विस्तृत समीक्षा की जायेगी।

आलोचना विज्ञान है या कला

आलोचना के स्वरूप तथा अन्य शास्त्रों के साथ उसके सम्बन्ध की समीक्षा करने के उपरान्त अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि आलोचना विज्ञान है या कला। जिस प्रकार आलोचना-सम्बन्धी पूर्ववर्ती प्रश्नों के बारे में कोई एक उत्तर देना सम्भव नहीं था उसी प्रकार इस प्रश्न के उत्तर में भी कोई एक निश्चित बात नहीं कही जा सकती। कारण यह है कि आलोचना के प्रकारों में इतना अन्तर है कि जो बात एक प्रकार के लिए सही है वह दूसरे प्रकार के लिए सही नहीं है। इसीलिए इस प्रश्न के उत्तर में भी हमें आलोचना के विविध प्रकारों को सामने रखकर ही विचार करना होगा।

उक्त प्रश्न से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न भी उठाया जाता है। वह प्रश्न आलोचना और रचना के सम्बन्ध के बारे में है। इस प्रश्न पर रचनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में ही विचार करना अधिक समीचीन होगा। इसी प्रकार प्रथम प्रश्न के विवेचन का उचित प्रसंग सैद्धान्तिक आलोचना के विश्लेषण के समय उपस्थित होगा।

आलोचना और अनुसन्धान

आलोचना और अनुसन्धान की समस्या प्रत्येक साहित्य की समस्या है। इस समस्या के कई पक्ष हैं। क्या आलोचना और अनुसन्धान में कोई अन्तर है ? क्या अनुसन्धान को आलोचना के अन्तर्गत लिया जा सकता है ? क्या इन दोनों के हेतु समान हैं ? इसी प्रकार के अन्य कई प्रश्न प्रस्तुत समस्या के विवेचन में उठते रहते हैं।

एक बात स्पष्ट है। आलोचना और अनुसन्धान में मूलभूत अन्तर है। इस अन्तर को न समझने के कारण कई भ्रम प्रचलित हो रहे हैं। आजकल कुछ ऐसी स्थिति दिखायी देती है जिसमें प्रत्येक अनुसन्धाता अपने-आपको आलोचक समझने लगता है। इस प्रकार न तो आलोचना का सही रूप स्पष्ट हो पाता है और न ही अनुसन्धान के विषय में स्पष्ट रीति से विचार हो सकता है। आगे हम देखेंगे कि आलोचक के लिए जिन गुणों को अनिवार्य माना गया है, यह ज़रूरी नहीं है कि वे गुण सभी अनुसन्धाताओं में हों। वे हो भी सकते हैं और नहीं भी। प्रायः वे नहीं होते। नतीजा यह होता है कि अनुसन्धान उस स्तर तक नहीं पहुँच पाता जिस पर आलोचना पहुँचती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अनुसन्धान का महत्त्व नहीं है। उसका महत्त्व तो है किन्तु आलोचना का महत्त्व उससे कहीं अधिक है। सारा अनुसन्धान आलोचना नहीं कहा जा सकता। इसलिए सफल अनुसन्धान सफल आलोचना नहीं हुआ करता। कभी-कभी अनुसन्धान का ऐसा रूप भी दिखायी देता है कि जो आलोचना के स्तर तक पहुँच जाता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं

निकलता कि अनुसन्धान और आलोचना में कोई अन्तर नहीं। इसका संकेत तो केवल इतना है कि उस अनुसन्धाता-विशेष में आलोचक के गुण भी पाये जाते हैं। उसकी कृति इसलिए आलोचना नहीं है कि वह सफल अनुसन्धान है, वरन् वह आलोचना इसलिए है कि उसमें शोध के गुणों के अतिरिक्त आलोचना के गुण भी विद्यमान हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अनुसन्धान और आलोचना के पृथक्-पृथक् दो वर्ग किये जायँ और उनके अन्तर को कभी धूमिल न होने दिया जाय।

यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अनुसन्धान और आलोचना के भेद का आधार क्या है ? अथवा वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर आलोचना और अनुसन्धान का फ़र्क समझाया जा सकता है ?

समग्र ज्ञान-साधना के दो पक्ष हैं—एक तथ्यों की खोज, दूसरा तथ्यों की सम्बद्ध-व्याख्या। तथ्यों की सम्बद्ध व्याख्या में साधक विभिन्न तथा असम्बद्ध प्रतीत होने वाले तथा माने जाने वाले तथ्यों के सम्बन्धों की खोज करता है और इस प्रकार सृष्टि के विविध तत्त्वों के बीच जो सम्बन्ध-दर्शन की समस्या है उसके समाधान में योग देता है। इसे सम्बन्ध-ज्ञान कहा जा सकता है। तथ्यों की व्याख्या का दूसरा रूप वह है जहाँ क्लिष्ट या दुरूह कृति या घटना आदि को सरल बोधगम्य रूप में प्रस्तुत किया जाय। स्पष्टतः इन सब कार्यों में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्बन्ध-ज्ञान का है। इसका यह मतलब नहीं कि अन्य तत्त्वों का महत्त्व नहीं है किन्तु वे किसी-न-किसी रूप में ज्ञान की इस अन्तिम परिणति—सम्बन्ध-ज्ञान—में सहायक होते हैं। अतः ज्ञान साधना के तीन चरण हुए—तथ्यों की खोज, तथ्यों की व्याख्या और तथ्यों के बीच सम्बन्ध का आविष्कार।

अनुसन्धान में उपर्युक्त तीनों पक्ष उपलब्ध होते हैं। अनुसन्धान का एक रूप वह है जिसमें नवीन तथ्यों की खोज पर प्रधान बल होता है, दूसरा रूप वह है जिसमें तथ्यों की सरल व्याख्या पर दृष्टि केन्द्रित होती है और तीसरा रूप वह है जिसमें तथ्यों के सम्बन्धों का आविष्कार किया जाता है। इन तीन प्रकार के शोध में उत्कृष्ट रूप वही माना जाएगा जिसमें विभिन्न तथ्यों के बीच सम्बन्धों का आविष्कार किया जाता है। नवीन तथ्यों की खोज वाला अनुसन्धान द्वितीय श्रेणी का है और सबसे कम महत्त्व होता है उस शोध का जिसमें किसी दुरूह विषय की सरल व्याख्या की जाती है। यह सत्य है कि प्रायः ये तीनों कार्य एक ही कृति में भी लक्षित होते हैं किन्तु देखना यह है कि प्रधान बल किस पक्ष पर है। प्रधानता के आधार पर ही शोध-रचनाओं का वर्गीकरण किया जाना चाहिए।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपर्युक्त तीनों कार्यों के लिए

योग्यता के विभिन्न स्तरों की अपेक्षा होती है। दुरूह कृति की व्याख्या के लिए जिस योग्यता की अपेक्षा होती है उससे दूसरे प्रकार के प्रयास में सहायता मिलने का अधिक अवकाश नहीं होता। नवीन तथ्यों का ज्ञान प्रायः श्रमसाध्य होता है और कभी-कभी संयोग का फल भी होता है। इसलिए प्रायः नवीन तथ्यों के शोध के पीछे वर्षों का दीर्घ-गम्भीर प्रयास विद्यमान होता है। इन दोनों प्रकार के प्रयासों का प्रधान तत्त्व श्रम है। यह ठीक है कि यहाँ भी कुशाग्रता की अपेक्षा होती है परन्तु प्रधानता परिश्रम की ही रहती है। सम्बन्ध-ज्ञान के लिए केवल दीर्घ साधना ही पर्याप्त नहीं है। इस कार्य में सिद्धि पाने के लिए कुशाग्रता एवं प्रतिभा की अपेक्षा होती है। प्रतिभा की मात्रा जितनी अधिक होगी कार्य उतने ही कम समय में पूरा हो जाएगा। अतः इन गुणों के आधार पर यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय प्रकार का शोध ही उत्कृष्ट प्रकार का शोध होगा। अन्य दोनों कार्य तो इस कार्य की भूमिका मात्र हैं।

यह सम्बन्ध-ज्ञान कई प्रकार का हो सकता है। ज्ञात तथ्यों में नवीन सम्बन्धों का आविष्कार किया जा सकता है, अज्ञात तथ्यों का आविष्कार कर उनका ज्ञात के साथ नवीन सम्बन्ध खोजा जा सकता है अथवा तथ्यों के प्रसिद्ध सम्बन्धों का खण्डन कर उनके स्थान पर नवीन सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है। कम शोध-ग्रन्थ ऐसे होते हैं जिनका प्रधान उद्देश्य सम्बन्ध-ज्ञान होता है।

आलोचना अपने उत्कृष्ट रूप में सम्बन्ध-ज्ञान ही है। इसके लिए प्रतिभा की अपेक्षा होती है। बिना कुशाग्रता के, बिना अन्तर्दृष्टि के श्रेष्ठ आलोचना का जन्म नहीं हो सकता। किन्तु अनुसन्धान का अधिकांश रूप इस स्तर तक नहीं पहुँचता। स्पष्टतः ऐसे अनुसन्धान को आलोचना की भूमिका कहा जा सकता है। कारण यह है कि तथ्यों के सम्बन्ध-ज्ञान के लिए तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है। और यह ज्ञान प्राप्त होने का एक साधन है तथ्य-परक अनुसन्धान। इसी प्रकार व्याख्यात्मक अनुसन्धान भी सम्बन्ध-ज्ञान तक नहीं पहुँचता। उससे सम्बन्धों के आविष्कार तक पहुँचने में सहायता मिल सकती है।

आलोचना के लिए प्रतिभा अनिवार्य है। इस प्रतिभा का उपयोग केवल सम्बन्धों के आविष्कार में ही नहीं होता वरन् आलोचना की शैली आदि में भी होता है। इसलिए जहाँ तक शैली का प्रश्न है वहाँ भी आलोचना और अनुसन्धान का अधिकांश रूप एक ही कोटि में नहीं आते। यह अन्तर तो इतना स्पष्ट है कि कोई भी समीक्षक इसे सहज ही परख लेता है। हिन्दी के शोध-ग्रन्थों को देखने से इस कथन के लिए अपेक्षित प्रमाण स्वयमेव उपलब्ध हो जाता है। बहुत-से शोध-ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी शैली उत्कृष्ट कोटि की शैली

नहीं मानी जा सकती । वह शिथिल, प्रभावहीन, शुष्क एवं जड़ होती है। इस आधार पर उन शोध-ग्रन्थों को, जो आलोचना के गुणों से युक्त हैं, अन्य शोध-ग्रन्थों से सहज ही अलग किया जा सकता है ।

अनुसन्धान तथा आलोचना दोनों ही ज्ञान के विकास में सहायक हैं। किन्तु फिर भी एक स्तर पर दोनों में अन्तर हो जाता है । अनुसन्धान ज्ञान के विकास में सहायक तो होता है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि वह रचनात्मक भी हो । प्रायः रचनात्मक साहित्य-धारा उससे अछूती रहती है। पांडित्य के विकास में उसका योगदान होता है किन्तु सर्जना-शक्ति उससे विशेष प्रभाव ग्रहण नहीं करती । इसके विपरीत आलोचना का सृजनात्मक पक्ष उसका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है । आलोचना जीवन एवं कला दोनों को आधार तथा लक्ष्य बनाती है और इसीलिए वह इन दोनों क्षेत्रों में स्वस्थ रचनात्मक गतिविधियों को प्रेरित एवं पुष्ट करती है। अनुसन्धान और आलोचना में उतना ही अन्तर है जितना पांडित्य और कला में होता है। पांडित्य कला-विषयक हो सकता है और होता है किन्तु पांडित्य के आधार पर कला की सृष्टि नहीं हो सकती । कलाकार गम्भीर विद्वान हो सकता है और होता है किन्तु पंडित कलाकार नहीं होता । पांडित्य और कला दोनों का अपना-अपना महत्त्व है किन्तु जब हम अनुसन्धान और आलोचना के सम्बन्ध की मूर्त समस्या पर विचार करते हैं तो हम सापेक्षिक महत्त्व स्थिर करना आवश्यक समझते हैं ।

अनुसन्धान और आलोचना के अन्तर को स्पष्ट रूप से न समझने के कारण बड़ा उलझाव पैदा हो गया है । आलोचना पर वे दोष भी लगाये जाते हैं जो अनुसन्धान के प्रसंग में सही हो सकते हैं किन्तु आलोचना के लिए नहीं। एक बार दोनों में स्पष्ट विभाजन हो जाने के उपरान्त वातावरण अपेक्षाकृत साफ़ हो जायेगा ।

४ | आलोचना के प्रकार

प्रस्तुत विषय पर वैज्ञानिक रूप से विचार नहीं किया गया है। इसीलिए विविध लेखक सुविधानुसार आलोचना के दो, चार, दस या बारह प्रकार तक मान लेते हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण में संगति का कोई आधार प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया जाता। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संगति का कोई आधार है ही नहीं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करते हुए आलोचना के प्रकारों के वर्गीकरण का आधार खोजने का प्रयास किया जाय तो एक व्यवस्थित योजना तैयार की जा सकती है।

जहाँ तक आलोचना के प्रकारों का सवाल है उनसे सामान्य परिचय हो सकता है। इस प्रसंग में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक, व्याख्यात्मक, रचनात्मक तथा निर्णयात्मक और ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आदि आलोचनाओं का उल्लेख किया जाता है। किन्तु ये सभी प्रकार किस रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं या नहीं हैं इसका व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता। इसलिए पहले तो आलोचना के वर्गीकरण का प्रयास किया जाएगा।

इस सम्बन्ध में दो प्रकार प्रचलित हैं जिन्हें ग्रहण किया जा सकता है। वे हैं सैद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। व्यावहारिक आलोचना के तीन भेद किये जा सकते हैं—निर्णयात्मक आलोचना, रचनात्मक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना। व्याख्यात्मक आलोचना के पाँच भेद हैं—सामाजिक, जीवन-चरितात्मक, मनोवैज्ञानिक, रूपात्मक और प्रारूपात्मक। इस वर्गीकरण को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :
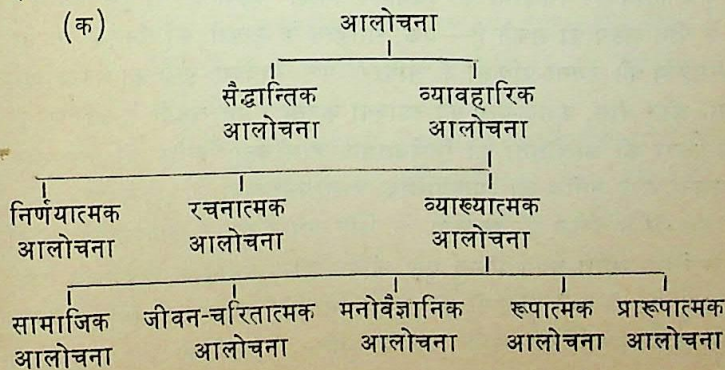
(ख) प्रभाववादी आलोचना।

(ग) सांस्कृतिक आलोचना।

यह सवाल किया जा सकता है कि इस वर्गीकरण का आधारभूत सिद्धान्त क्या है ?

ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि आरम्भ में प्रायः काव्य-ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना की जाती थी। (भरत इसके अपवाद हैं) और इस रीति से आज तक काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की जा रही है। इसलिए सैद्धान्तिक आलोचना को आलोचना का प्रथम प्रकार माना जा सकता है।

सिद्धान्तों की स्थापना प्रायः अनुगम विधि से की जाती है। सिद्धान्त-स्थापना के उपरान्त नवीन काव्य-ग्रन्थों की आलोचना में उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। जिस आलोचना में सिद्धान्तों का व्यवहार हो उसे व्यावहारिक आलोचना नाम दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए इसका जन्म सैद्धान्तिक आलोचना के बाद होता है। इसे आलोचना का दूसरा प्रकार माना जा सकता है।

सैद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना के सम्बन्ध के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक की प्रक्रिया काव्य से सिद्धान्त की ओर जाती है, दूसरी की प्रक्रिया सिद्धान्त से काव्य की ओर। एक में काव्य के आधार पर सिद्धान्त का निर्धारण किया जाता है। द्वितीय में सिद्धान्त के आधार पर काव्य की व्याख्या की जाती है या उस पर निर्णय दिया जाता है। इस प्रकार दोनों सम्बद्ध और परस्पर पूरक हैं। किन्तु कालान्तर में दोनों में विरोध भी उत्पन्न होने लगता है और तब नये सिरे से सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की अपेक्षा होती है। इस पक्ष का विस्तृत विवेचन उचित अवसर पर किया जाएगा।

जब काव्य पर सिद्धान्त का व्यवहार किया जाता है तो इस प्रयास के मूल में तीन लक्ष्य हो सकते हैं—एक, साहित्य के उत्कर्ष का निर्णय करना, दो, साहित्य की रचना-प्रक्रिया के आधार पर विवेच्य ग्रन्थ का पुनरुत्पादन करना, और तीन, काव्य-ग्रन्थ की व्याख्या करना। इन लक्ष्यों के आधार पर प्रथम प्रकार की आलोचना को निर्णयात्मक आलोचना, द्वितीय को रचनात्मक आलोचना और तृतीय को व्याख्यात्मक आलोचना कहा जा सकता है।

आरम्भ में काव्य की व्याख्या के लिए प्रधान रूप से काव्यशास्त्र का ही सहारा लिया जाता था। किन्तु युग, जीवन और चिन्तन के विकास के साथ-साथ व्याख्या की नयी दृष्टियों का उन्मेष हुआ और साहित्य की विविध प्रकार की व्याख्याएँ सामने आने लगीं। जब जन-जीवन की प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं

के आधार पर साहित्य की व्याख्या की जाती है तो उसे सामाजिक आलोचना कहा जाता है, जब साहित्यकार के जीवन के आधार पर साहित्य का विश्लेषण किया जाता है तो उसे जीवन-चरितात्मक आलोचना कहते हैं, जब मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य का स्पष्टीकरण किया जाता है तो उसे मनोवैज्ञानिक आलोचना कहा जाता है, जब काव्य को एक विशिष्ट रूप (फार्म) मानकर उसकी व्याख्या की जाती है तब उसे रूपात्मक आलोचना कहा जाता है, और जब जीवन के प्रारूपों (आर्किटाईप) के आधार पर साहित्य की व्याख्या की जाती है तो उसे प्रारूपात्मक आलोचना कहा जाता है। जिस क्रम में इन आलोचना-प्रकारों को रखा गया है उसमें काल-क्रम का भी ध्यान रखने का प्रयास किया गया है। उनमें से सामाजिक आलोचना को सबसे पुराना और प्रारूपात्मक आलोचना को सबसे नया रूप माना जा सकता है।

व्याख्यात्मक आलोचना के वर्गीकरण के बारे में दो बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम ऐतिहासिक आलोचना के स्थान के विषय में है, द्वितीय प्रत्येक आलोचना के लक्ष्य के बारे में है।

कुछ आलोचक ऐतिहासिक आलोचना को सामाजिक आलोचना से भिन्न मानते हैं। वे इन दोनों के मूल में दो मूल दृष्टियों की सत्ता स्वीकार करते हैं—एक ऐतिहासिक दृष्टि की, द्वितीय सामाजिक दृष्टि की। किन्तु क्या ये दोनों दृष्टियाँ विरोधी या भिन्न या असम्बद्ध हैं? क्या दोनों एक-दूसरे को परस्पर अन्तर्भूत नहीं करतीं? क्याऐ तिहासिक दृष्टि में मूलतः सामाजिक दृष्टि केन्द्र नहीं होती? क्या सामाजिक दृष्टि वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि पर आधारित नहीं होती? मेरे मत में ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टियाँ मूल रूप में एक-दूसरे को अन्तर्भूत करती हैं। समाज क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें काल-तत्त्व का, परम्परा के तथ्य का और विकास के सत्य का सहारा लेना पड़ेगा। बिना ऐतिहासिक दृष्टि को अपनाये हुए हम सामाजिक दृष्टि का सही मानों में इस्तेमाल कर ही नहीं सकते। इसी प्रकार बिना सामाजिक चेतना को समझे हुए ऐतिहासिक दृष्टि की बात करना बेकार है। ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों दृष्टियाँ एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। इसलिए वे दोनों दो नहीं हैं।

यह माना जा सकता है कि इतिहास में किसी वक्त इस बात की ज़रूरत महसूस हुई हो कि इन दोनों दृष्टियों को अलग-अलग स्वीकार किया जाये। किन्तु आज जब कि विकास के सत्य को सभी ने स्वीकार कर लिया है तब ये दोनों घुल-मिलकर एक ही हो गयी हैं। और इसलिए आज चाहे इसे सामाजिक आलोचना कहें, चाहे ऐतिहासिक आलोचना, दोनों एक ही हैं। सामाजिक आलोचना की व्याख्या के समय इस प्रश्न के अन्य पक्षों का विवेचन सम्भव होगा।

व्याख्यात्मक आलोचना के प्रकारों के बारे में एक दूसरा सवाल यह किया जा सकता है कि प्रत्येक आलोचना अपनी रीति से साहित्य का मूल्यांकन करती है। तो फिर वे निर्णयात्मक आलोचना से किस बात में भिन्न हैं ?

इस सम्बन्ध में यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि निर्णयात्मक आलोचना में निर्णय का आधार शुद्ध काव्यशास्त्र है और इसीलिए उसे सिद्धान्त के व्यवहार की प्रक्रिया में अन्तर्भूत किया गया है। व्याख्यात्मक आलोचना में मूल्यांकन का आधार एकमात्र काव्यशास्त्र ही नहीं, वरन् अन्य तत्त्व भी हैं। यहाँ मूल्यांकन का आधार काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं वरन् एक विशिष्ट व्याख्या है। इसलिए सामाजिक व्याख्या के आधार पर साहित्य का जो मूल्यांकन होगा वह निर्णयात्मक आलोचना के मूल्यांकन से मूलतः भिन्न होगा।

उपर्युक्त सभी आलोचना-प्रकारों से भिन्न प्रकार की आलोचना है प्रभाववादी आलोचना। इसमें आलोचक न तो काव्यशास्त्र से बँधा होता है और न ही आलोच्य रचना को वस्तुगत रूप से अपनी अभिव्यक्ति की सीमा बनने देता है। रचना को पढ़कर जो सहज-स्वच्छन्द प्रतिक्रिया होती है उसकी निर्बाध अभिव्यक्ति का नाम प्रभाववादी आलोचना है। यह आलोचक की स्वच्छन्द आत्माभिव्यक्ति है जिसकी रौ में प्रस्तुत रचना की चेतना भी बह जाती है। इसलिए इसे एक स्वतन्त्र आलोचना-प्रकार माना गया है।

सांस्कृतिक आलोचना भी इसी प्रकार उक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं से स्वतन्त्र है। यदि उसका सामीप्य किसी से है तो वह सामाजिक आलोचना है। किन्तु सामाजिक आलोचना का प्रधान केन्द्र साहित्य होता है और सांस्कृतिक आलोचना का प्रधान केन्द्र संस्कृति। सांस्कृतिक आलोचना वस्तुतः सामाजिक आलोचना का ही एक व्यापक तथा मूल रूप है। सामाजिक आलोचना प्रधानतया साहित्य-व्याख्यामूलक है और सांस्कृतिक आलोचना प्रधानतः जीवन-व्याख्यामूलक। चाहें तो सामाजिक आलोचना को कुछ हद तक सांस्कृतिक आलोचना का व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है।

(क) सैद्धान्तिक आलोचना

जब विचार आत्म-सजग होता है तो सिद्धान्त का जन्म होता है। यों तो मनुष्य में विचार-शक्ति का उन्मेष बहुत प्राचीन काल में ही मिलता है किन्तु विचार को सिद्धान्त या वाद के रूप में उपस्थित करना बाद की बात है। वैदिक ऋषि ने भी चिन्तन किया और शंकराचार्य आदि दार्शनिकों ने भी जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया। किन्तु प्रथम प्रयास और द्वितीय प्रयास में स्पष्ट अन्तर है। प्रथम प्रयास में विचार एवं विवेचन की शक्ति तो पर्याप्त रूप में है किन्तु विचार को सम्बद्ध-समन्वित सिद्धान्त या वाद के रूप में उपस्थित नहीं किया गया। इसके विपरीत शंकराचार्य आदि

दार्शनिकों ने जो विचार प्रस्तुत किया उसे उसके विविध पक्षों एवं आयामों के सहित सम्बद्ध रूप से प्रस्तुत किया। वे विचार के प्रति अधिक सजग एवं जागरूक थे और उनकी इस सजगता ने और अपने विचार विषयक विश्वास ने सिद्धान्त की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

काव्यशास्त्र के विकास में भी इसी प्रक्रिया को एक सीमा तक देखा जा सकता है। यद्यपि काव्यशास्त्र के आरम्भिक ग्रन्थों में ही हमें परवर्ती सिद्धान्तों के बीज मिल जाते हैं, किन्तु यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसाकि ब्रह्मसूत्र की विविध व्याख्याओं का ब्रह्मसूत्र या उपनिषद् के साथ है। मतलब यह है कि प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने जो बात कही उसको पूर्णता तक नहीं पहुँचाया और न ही यह प्रयास किया कि बात को ऐसी तर्कात्मक रीति पर कहा जाये जो जिज्ञासु पाठक को आश्वस्त कर सके। यही कारण है कि वे पुरानी बातें इतनी अनिर्दिष्ट रूप में कही गयी हैं कि विविध दृष्टियों से युक्त विविध आचार्यों ने एक ही बात की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार सही अर्थों में सिद्धान्त की स्थापना काव्यशास्त्र के उन्मेष के काफ़ी बाद की बात है।

आलोचना और विज्ञान : यहाँ इस बात का अवसर नहीं है कि हम काव्य-शास्त्र के विविध सिद्धान्तों की व्याख्या करें। इसका अवसर बाद में आयेगा। इस समय सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बद्ध सामान्य समस्याओं का विवेचन किया जायेगा। उदाहरण के तौर पर यह विचारणीय है कि सिद्धान्त की परिभाषा क्या है, सिद्धान्त का निर्माण कैसे होता है तथा विज्ञान के सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के सिद्धान्त में क्या अन्तर है?

सिद्धान्त की स्थापना मूलतः दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र की चीज़ है। जैसे-जैसे दर्शन और विज्ञान ने प्रगति की वैसे ही वैसे अन्य विषयों में भी सिद्धान्तों की स्थापना के प्रयास होने लगे। विज्ञान की प्रगति से पूर्व प्रायः दर्शन के प्रभाव से ही सिद्धान्त की स्थापना की प्रवृत्ति होती थी।

दार्शनिक सिद्धान्त और वैज्ञानिक सिद्धान्त में स्पष्ट तथा बुनियादी अन्तर है। दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना प्रधानतया वैचारिक धरातल पर होती है और उसके वास्तविक परीक्षण की सुविधा का सवाल ही नहीं पैदा होता। इसके विपरीत वैज्ञानिक सिद्धान्त जब तक परीक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तब तक वह सिद्धान्त कहला ही नहीं सकता। एक दार्शनिक के सामने तथ्य होते हैं और उनसे पूर्व ही उसकी मूल दृष्टि निर्मित-सी होती है। वह मूल दृष्टि के अनुरूप तथ्यों की व्याख्या का प्रयास करता है। उसे अपना कार्य करने के लिए कुछ आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार करके चलना होता है। यद्यपि वैज्ञानिक को भी कुछ मान्यताएँ स्वीकार करनी होती हैं किन्तु इन दोनों की मान्यताओं में अन्तर होता है। वैज्ञानिक की मान्यताएँ सार्वभौम

मान्यताएँ हैं जिन्हें स्वीकार करना प्रत्येक वैज्ञानिक के लिए अवश्यम्भावी है। इसके विपरीत दार्शनिक की मान्यताएँ सामान्य न होकर विशिष्ट मान्यताएँ हैं और यही कारण है कि एक दार्शनिक की जो मान्यताएँ हैं वे दूसरे दार्शनिक की मान्यताओं से भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए मूल सत्य एक है, दो हैं या असंख्य हैं अथवा वह स्थायी है या परिवर्तनशील, ये दार्शनिक मान्यताएँ हैं जो सभी दार्शनिकों में भिन्न-भिन्न रूप में लक्षित होती हैं। किन्तु कार्य-कारण सम्बन्ध या सृष्टि की नियमितता आदि ऐसी मान्यताएँ हैं जो सभी वैज्ञानिकों को समान रूप से माननी पड़ती हैं। इसलिए दार्शनिक और वैज्ञानिक की मान्यताओं में भी स्पष्ट अन्तर है।

सैद्धान्तिक आलोचना उस मूल धरातल पर कार्यशील नहीं होती जिस पर दर्शन या विज्ञान कार्य करते हैं। सैद्धान्तिक आलोचना का विषय जीवन नहीं, वरन् साहित्य है। वह साहित्य के धरातल पर कार्य करती हुई साहित्य-विषयक सिद्धान्तों की स्थापना करती है। यद्यपि सैद्धान्तिक आलोचना दार्शनिक सिद्धान्तों से सहायता लेती है, फिर भी उसका केन्द्र साहित्य ही है। साहित्य एक मूर्त रचना है, और सैद्धान्तिक आलोचक इस मूर्त रचना पर यथार्थ तथा प्रधानतया वस्तुवादी दृष्टिकोण से विचार करता है। इस रूप में उसका कार्य दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक के अधिक निकट पड़ता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक के सामने सृष्टि के तथ्य होते हैं जिनका अध्ययन कर वह सिद्धान्तों की स्थापना करता है उसी प्रकार आलोचक के लिए साहित्य तथ्य प्रदान करता है और इन तथ्यों के आधार पर ही वह ऐसे सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा का प्रयास करता है जो उनकी व्याख्या कर सकें। इस प्रकार तथ्यों की मूर्तता तथा दृष्टि की वस्तुवादिता के स्तर पर वैज्ञानिक और आलोचक का कार्य प्रायः समान ही है।

सिद्धान्त-निर्माण की प्रक्रिया की दृष्टि से भी आलोचक और वैज्ञानिक में समानता लक्षित होती है। विज्ञान की प्रक्रिया की दो प्रमुख विधियाँ हैं—एक, अनुगम विधि और द्वितीय, निगमन विधि। अनुगम विधि में वस्तुओं के अध्ययन के आधार पर सिद्धान्त बनाये जाते हैं और निगमन विधि में उन सिद्धान्तों के आधार पर सम्बद्ध तथ्यों अथवा घटनाओं की व्याख्या की जाती है। उदाहरण के तौर पर न्यूटन ने जब सेब को धरती पर गिरते देखा तो उसे जिज्ञासा पैदा हुई और उसने अनेक वस्तुओं को ऊँचे फेंककर यह देखा कि क्या सभी वस्तुएँ धरती की ओर ही आती हैं। और इस प्रकार जब यह परीक्षा कर ली गयी कि विविध वस्तुएँ फेंकने पर धरती की ओर ही आती हैं, उसकी विपरीत दिशा की ओर नहीं जातीं, तो यह निष्कर्ष निकाला गया कि धरती सभी वस्तुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस प्रकार अनेक

तथ्यों का परीक्षण करने के उपरान्त जो धरती की आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया गया इसकी प्रक्रिया को अनुगम विधि कहा जाता है।

इसके विपरीत धरती की आकर्षण-शक्ति के नियम के अनुसार अन्य वस्तुओं अथवा आविष्कारों की व्याख्या या योजना करना निगमन विधि कहलाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुगम विधि में सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है और निगमन विधि में उनका उपयोग किया जाता है।

यही बात साहित्य-विषयक सिद्धान्तों के बारे में कही जा सकती है। यद्यपि भरत मुनि ने यह कहा है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना में चारों वेदों से सहायता ली है, फिर भी परवर्ती काल में काव्यशास्त्रियों ने काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर ही सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। 'लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है' इस बहु-प्रचलित उक्ति से भी सैद्धान्तिक आलोचना में अनुगम विधि की स्वीकृति की व्यंजना होती है। नाटक, महाकाव्य आदि के लक्षणों का निरूपण करने के लिए आचार्य इन ग्रन्थों को ही आधार बनाया करते थे। इस प्रकार सैद्धान्तिक आलोचना में प्रायः अनुगम विधि से ही सिद्धान्तों की स्थापना की जाती थी।

सिद्धान्त की स्थापना के पश्चात् उसके प्रयोग की बात आती है। यह कार्य निर्णयात्मक आलोचना के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक आलोचना में रचना से सिद्धान्त की ओर जाने वाली अनुगम विधि का प्रयोग किया जाता है और निर्णयात्मक आलोचना में सिद्धान्त से रचना की ओर अग्रसर होने वाली निगमन विधि का उपयोग किया जाता है।

यह तो हुई सैद्धान्तिक आलोचना और विज्ञान की समानता की बात। साथ ही इन दोनों में मूलभूत अन्तर भी पाया जाता है। इसकी चर्चा किये बिना प्रस्तुत विवेचन पूर्ण नहीं होगा।

आलोचना और विज्ञान का पहला मूल अन्तर तो यह है कि आलोचक का दार्शनिक पूर्वाग्रह हो सकता है किन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि पूर्णतः वस्तुवादी ही होती है। यदि वैज्ञानिक की दृष्टि किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित है तो उसका प्रयास और निष्कर्ष ग्राह्य नहीं होंगे। किन्तु आलोचक का पूर्वाग्रह हो सकता है और होता है। उदाहरण के लिए रस-सिद्धान्त की जो विविध व्याख्याएँ हैं या काव्य-सम्बन्धी जो विविध सम्प्रदाय या सिद्धान्त हैं उन सबका मूल आलोचकों की विशिष्ट दृष्टि में ही माना जायेगा। आधुनिक युग में सैद्धान्तिक आलोचन के क्षेत्र में जो विविधता या विरोध पाया जाता है उसका आधार आलोचकों के विशिष्ट विश्वासों में ही है। यही कारण है कि कोई भी आलोचना का सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त के समान सार्वभौम स्वीकृति से भूषित नहीं हो पाया।

आलोचनात्मक सिद्धान्त और वैज्ञानिक सिद्धान्त का दूसरा मूल अन्तर यह है कि जब कि द्वितीय प्रकार के सिद्धान्त का प्रयोगात्मक परीक्षण हो सकता है, प्रथम प्रकार के सिद्धान्त में ऐसी योग्यता नहीं है। यह सवाल किया जा सकता है कि ऐसा क्यों सम्भव नहीं है ?

इसका एक कारण तो यह है कि आलोचक असीम साहित्य-राशि में से एक विशिष्ट प्रकार की साहित्य धारा को स्वीकार करता है, शेष को अस्वीकार करता है और स्वीकृत राशि के आधार पर ही सिद्धान्त की स्थापना करता है। यह जो साहित्य का चयन किया जाता है उसका आधार आलोचना की दृष्टि हुआ करती है। और इस प्रकार वह जो सिद्धान्त स्थापित करता है वह उसी सीमित साहित्य-राशि के लिए तथा उसी विशिष्ट दृष्टि के लिए उपयोगी होता है और इन्हीं सीमाओं में ही उस सिद्धान्त का परीक्षण हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि साहित्य की रचना और उसका आस्वाद दोनों ही सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाएँ हैं जो सरल न होकर संश्लिष्ट और संकुल हैं। आज का मनोविज्ञान अभी इतना विकसित नहीं हो पाया है कि वह साहित्य-निर्माण तथा साहित्य के आस्वाद जैसी दुरूह और संश्लिष्ट प्रक्रियाओं का परीक्षण कर सके या उन पर कोई प्रामाणिक प्रयोग कर सके। इसलिए भी साहित्य-विषयक सिद्धान्तों का प्रयोगात्मक परीक्षण सम्भव नहीं है।

आलोचना और विज्ञान में तीसरा बुनियादी फ़र्क यह है कि आलोचना का तथ्य—साहित्य—नित्य परिवर्तनशील है और इसलिए अनिवार्यतः आलोचनात्मक सिद्धान्त समय के बन्धन में जकड़ा रहता है लेकिन विज्ञान का तथ्य—भौतिक जगत—स्थायी है और इसलिए उसके नियम अधिक स्थायी होते हैं। यह बात दूसरी है कि नवीन तथ्यों के आविष्कार से विज्ञान को अपने नियम बदलने पड़ें लेकिन वे तथ्य आविष्कार से पहले भी विद्यमान थे लेकिन विज्ञान का अंग नहीं बन पाये थे। धरती की आकर्षण-शक्ति के सिद्धान्त को लीजिए। यह सिद्धान्त जितना न्यूटन के लिए सत्य था उतना ही आज भी सत्य है और यह सम्भावना है कि जब तक सृष्टि का वर्तमान क्रम बना रहेगा, यह नियम कमोबेश सत्य रहेगा। इस प्रकार विज्ञान का सम्बन्ध सृष्टि के उस पक्ष के साथ है जो स्थायी है और इसीलिए यदि उसके सिद्धान्त की स्थापना में कोई ग़लती नहीं हुई तो वह सिद्धान्त सर्वदा स्वीकृत किया जाता रहेगा। इसके विपरीत जिन विषयों का सम्बन्ध सृष्टि के परिवर्तनशील पक्ष—समाज—के साथ है उनके सिद्धान्त भी समाज के विकास के अनुरूप परिवर्तित होते रहेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक आलोचना और विज्ञान में जहाँ समानता है वहाँ अन्तर भी है। इसलिए हम आलोचना को विज्ञान नहीं मान सकते।

यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि यदि आलोचना विज्ञान नहीं है तो क्या वह कला है ?

कला वस्तुतः एक स्वतन्त्र निर्माण है। कलाकार सृष्टि के किसी भी अंश के साथ तादात्म्य करता है और उसे कल्पना-शक्ति के सहारे पुनः उत्पन्न करता है। कला की सामग्री तो सृष्टि है और इस सामग्री के आधार पर उसकी निर्मिति होती है। स्पष्ट है इस अर्थ में सैद्धान्तिक आलोचना पूर्णतः कला नहीं है। इसका आधार साहित्य है और उसके अध्ययन के फलस्वरूप ही आलोचक सिद्धान्त की स्थापना करता है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धान्त की निर्मिति के कारण ही यह भी एक कला है। कारण यह है कि कला का प्रधान केन्द्र होता है कलाकार और सैद्धान्तिक आलोचना का प्रधान केन्द्र है साहित्य। इसलिए दोनों में मूलभूत भिन्नता है। कलाकार सृष्टि का नहीं सृष्टि के बोध का प्रकाशन करता है। इसलिए वह सृष्टि को विस्मृत भी कर दे और केवल उसके बोध को ही धारण करे तो भी वह कला का निर्माण कर लेगा। कलाकार की साधना वहिर्मुखी नहीं अन्तर्मुखी होती है। इसके विपरीत सैद्धान्तिक आलोचक प्रधानतया वस्तुवादी दृष्टि का अनुसरण करते हुए साहित्य-विषयक सिद्धान्तों का उद्‌घाटन करता है। अतः सैद्धान्तिक आलोचना को कला नहीं कहा जा सकता।

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि आलोचना का कोई प्रकार कला नहीं है। वस्तुतः आलोचना के परवर्ती प्रकारों के विवेचन से स्पष्ट होगा कि आलोचना के दो प्रकार—प्रभाववादी आलोचना और सांस्कृतिक आलोचना—कला के समकक्ष रखे जा सकते हैं। इन आलोचनाओं में साहित्य का महत्त्व आनुषंगिक रूप से ही स्वीकृत होता है। प्रथम प्रकार की आलोचना में तो साहित्य विस्मृत ही हो जाता है और आलोचक स्वच्छन्द रूप से आत्माभि-व्यक्ति करता है। द्वितीय प्रकार की आलोचना के लिए वैसी ही शक्ति और कुशाग्रता की आवश्यकता होती है जैसी कि कलाकार को। सांस्कृतिक आलोचक का दृष्टिकोण साहित्यिक परम्परा तक ही सीमित नहीं होता वरन् वह समग्र सांस्कृतिक जीवन को आत्मसात किये रहता है।

यदि कला शब्द का सामान्य अर्थ में—कुशलता अथवा कुशाग्रता—के अर्थ में प्रयोग किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सिद्धान्त की स्थापना तो कला नहीं है वरन् उस सिद्धान्त का उपयोग अवश्य एक कला है। साहित्य एक चेतन सृष्टि है और उसकी व्याख्या, विश्लेषण या मूल्यांकन भी एक सजग व्यापार है। यहाँ सिद्धान्तों का यान्त्रिक प्रयोग सम्भव नहीं है, वरन् रचना के अनुरूप सिद्धान्तों का चयन तथा रचना के विविध दुरूह

पक्षों का ऐसा विवेचन कि उसका सिद्धान्त से विरोध या सामरस्य सहज ही सिद्ध हो जाय, निश्चित रूप से कुशाग्रता की अपेक्षा रखता है।

सैद्धान्तिक आलोचना के विषय : सैद्धान्तिक आलोचना के प्रमुख विषय हैं काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, तथा काव्य की आतमा। इन विषयों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विविध काव्यशास्त्रियों ने विचार किया है। जैसा कि इन विषयों के विस्तृत विवेचन में स्पष्ट होता है, विविध दृष्टियों के अनुरूप इन समस्याओं पर विविध मत उपलब्ध होते हैं। यह ठीक है कि विविध मतों का वर्गीकरण किया जा सकता है मगर यह वर्गीकरण प्रत्येक सूक्ष्म अवयव तक खरा नहीं उतरता।

सिद्धान्त-वैविध्य : उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में एकमत होने की सम्भावना नहीं होती। विविध रुचियों तथा विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों के अनुरूप विविध सिद्धान्तों की स्थापना होती रहती है। यह भी ज़रूरी नहीं रहा कि एक सिद्धान्त के मरने पर ही दूसरे सिद्धान्त का उदय हो। आज के युग के लिए यह बात खासतौर पर सत्य है। एक ही काल में अनेक सिद्धान्त प्रचलित रहते रहे हैं और उस अनेकरूपता का भी विकास ही होता गया है। ऐसे प्रयास भी किये गये हैं जिनमें इस अनेकता के मूल में स्थित किसी समान सूत्र का उद्घाटन कर एक समन्वित सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है। इन सब प्रकार के प्रयासों का यथावसर उल्लेख किया जायगा।

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना उपयोगी होगा कि इस सिद्धान्त-वैविध्य का क्या कारण है।

इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक दृष्टि-भेद और दूसरा साहित्य-भेद। विविध आलोचक एक ही प्रकार के साहित्य के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त तथा मत प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट है कि जहाँ तक साहित्य की प्रवृत्तियों का या तत्त्वों का तथा उनके संघटन या संयोजन का सवाल है, सभी आलोचकों का आलोच्य एक ही है। किन्तु आलोचक की दृष्टि-भेद के कारण सिद्धान्त में अन्तर आ जाता है। इसका कारण यह है कि आलोचक अपनी दृष्टि के अनुसार ही साहित्य के समग्र व्यक्तित्व में से कुछेक प्रवृत्तियों को आधारभूत मानकर उसका विवेचन करता है। नतीजा यह होता है कि विविध दृष्टियों वाले आलोचक एक ही साहित्य-राशि के विविध पक्षों को महत्त्व देते हुए विविध सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। जहाँ इस प्रकार के प्रयास हों, वहाँ स्पष्टतः समन्वय का आधार निकल सकता है। यह कहा जा सकता है कि साहित्य के विविध पक्षों को विभिन्न सिद्धान्तों में स्वीकृति मिली है और इसलिए साहित्य के सभी पक्षों का अध्ययन करने के लिए सभी सिद्धान्तों का

उपयोग अनिवार्य है। उदाहरण के लिए यदि 'कामायनी' को लिया जाय तो कुछ आलोचकों ने सांस्कृतिक दृष्टि से इसका अध्ययन किया है, कुछ ने रस-शास्त्रीय दृष्टि से, और कुछ ने रूपात्मक दृष्टि से। स्पष्टतः 'कामायनी' के समग्र व्यक्तित्व से परिचित होने के लिए उन सभी पक्षों का समवेत अध्ययन अनिवार्य है।

सिद्धान्त-भेद का दूसरा कारण है साहित्य-भेद। इसके दो रूप हैं। एक तो वह जिसका आधार काल है और दूसरा वह जिसका आधार समसामयिक धारा पर आस्था है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए स्पष्ट होता है कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व का साहित्य आज के साहित्य से भिन्न है और आज से चार सौ वर्ष पूर्व का साहित्य और भी अधिक भिन्नता लिये हुए है। अतः स्पष्ट है कि वे सिद्धान्त जिनका निर्माण आज से चार सौ वर्ष पूर्व के साहित्य के आधार पर किया गया था, आज के साहित्य-सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न होंगे। साहित्य-साधना जीवन-साधना का ही एक विशिष्ट रूप है और जीवन-साधना के विकास में साहित्य-साधना का विकास भी अन्तर्निहित है। इसलिए इस विकासशील सत्ता के लिए विकासशील सिद्धान्तों की अपेक्षा है।

साहित्य-भेद का एक दूसरा आधार भी है जिसे समसामयिक धारा विशेष पर आस्था कहा गया है। आज के हिन्दी-साहित्य में विविध साहित्य-धाराएँ प्रचलित हैं। गीत और नयी कविता को लीजिए या पुरानी कहानी और नयी कहानी को लीजिए। ये सभी साधनाएँ आज साथ-साथ चल रही हैं। मगर जिसकी आस्था पुरानी कहानी या गीत पर होगी उसके सिद्धान्त नयी कहानी और नयी कविता के आधार पर निर्मित सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न होंगे। स्पष्टतः यहाँ रुचि-भेद के अनुरूप समसामयिक साहित्य-धाराओं में से धारा-विशेष का चयन कर लिया जाता है और फिर सिद्धान्तों की घोषणा होती है। बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं। एक वर्ग के सिद्धान्तों के आधार पर ही समग्र साहित्य-साधना के मूल्यांकन का प्रयास किया जाता है। इससे उलझाव पैदा होता है और वातावरण संघर्षपूर्ण हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य-सिद्धान्त को पूरी ईमानदारी से समझने-समझाने के लिए उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काल, देश और व्यक्ति के भेद से सिद्धान्त-भेद हो जाता है। इसीलिए काव्यशास्त्र के इतिहास में विविध सिद्धान्तों का जमघट दिखायी देता है। एक ही काल अथवा युग में भी सिद्धान्त-वैविध्य देखने को मिलता है। आज के वातावरण में सैद्धान्तिक-भिन्नता के कारण तीव्र विरोध एवं संघर्ष लक्षित होता है। इसलिए जब साहित्य के मूल्यांकन

का सवाल सामने आता है तो कोई एक सरल-सीधा-सा उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह समस्या वस्तुतः निर्णयात्मक आलोचना की समस्या है और निर्णयात्मक आलोचना के विवेचन के अन्तर्गत इसके विविध पक्षों की व्याख्या अधिक संगत होगी।

(ख) व्यावहारिक आलोचना

प्रायः यह कहा जाता है कि व्यावहारिक आलोचना उसे कहते हैं जिसमें सिद्धान्तों का व्यवहार किया जाता है। यह बात ठीक है अगर ठीक तरह से समझी जाय। यहाँ 'सिद्धान्त' शब्द के अर्थ को सही-सही समझना होगा। 'सिद्धान्त' से अभिप्राय केवल काव्य-सिद्धान्त से ही नहीं है वरन् अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों से भी है। जहाँ काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य की व्याख्या या विवेचन का प्रयास होगा वह व्यावहारिक आलोचना कही ही जाएगी। लेकिन काव्यशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ अन्य शास्त्रों—समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य की व्याख्या की जाएगी उसे भी व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है।

प्रायः ऐसा होता है कि जब काव्य की व्याख्या के लिए अन्य शास्त्रों से सिद्धान्त उधार लिये जाते हैं तो पहले उन शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर सामान्य काव्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा कर ली जाती है। स्पष्टतः इस प्रकार के प्रयास के बिना साहित्यिक व्याख्या सम्भव ही नहीं है। मगर ध्यान देने की बात तो यह है कि इस प्रकार के प्रयास के लिए अपेक्षित आधार होना चाहिए। और वह आधार है उस शास्त्र के किसी पक्ष की काव्य से सम्बद्धता। जब तक कोई शास्त्र काव्य के किसी प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध विषय से संपृक्त नहीं होगा तब तक वह शास्त्र काव्य की व्याख्या के लिए उपयोगी नहीं होगा।

उदाहरण के लिए काव्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को ही लीजिए। इस व्याख्या में मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण के अचेतन या उपचेतन के सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। यह उपयोग तभी सम्भव हो सकता है जब हम काव्य को किसी-न-किसी रूप में उपचेतन या अचेतन से सम्बद्ध करेंगे। यह सम्बन्ध काव्य की सृजन-प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अतः यहाँ हम यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि काव्य के निर्माण में कवि के उपचेतन का कितना हाथ है। और इस व्याख्या के लिए हम पहले काव्य और उपचेतन के सम्बन्ध पर सामान्य धरातल पर विचार करते हुए कुछ आधारभूत सिद्धान्त बनाते हैं, मूल दृष्टि स्थिर कर लेते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस प्रकार के सिद्धान्तों और सैद्धान्तिक आलोचना के सिद्धान्तों में क्या अन्तर है।

वस्तुतः दोनों ही काव्य-सिद्धान्त हैं और इसलिए यह भ्रम हो सकता है

कि एक को सैद्धान्तिक आलोचना और दूसरे को व्याख्यात्मक आलोचना के रूप में पृथक करना असंगत है। वस्तुतः दोनों प्रकार के सिद्धान्तों में मूलभूत अन्तर है। सैद्धान्तिक आलोचना का केन्द्र साहित्य है और इसलिए वह साहित्य के अध्ययन के आधार पर ही सिद्धान्तों को स्थिर करती है। यह बात दूसरी है कि एक बार काव्य के अध्ययन के आधार पर सिद्धान्तों को स्थिर कर लेने के उपरान्त उनको दार्शनिक आदि धरातलों पर पुष्ट करने का प्रयास किया जाता है। किन्तु प्रधानतया वे काव्य पर आधारित सिद्धान्त ही माने जायेंगे। इसके विपरीत सामाजिक या मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मूलतः अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध हैं। उनकी स्थापना उन्हीं विषयों के विशेषज्ञों द्वारा की जाती है और फिर दूसरे चरण में उन सिद्धान्तों को काव्य से सम्बद्ध किया जाता है। इस प्रकार ये सिद्धान्त प्रधानतया काव्याश्रित न होकर शास्त्राश्रित ही हैं और इसलिए उन्हें सैद्धान्तिक आलोचना से भिन्न रूप में ही ग्रहण करना अपेक्षित है। इसीलिए उन्हें व्यावहारिक आलोचना में समाविष्ट किया गया है। यहाँ हमें उन मूल सिद्धान्तों की स्थापना आदि पर विचार नहीं करना है। हमें केवल यह देखना है कि उन सिद्धान्तों के आधार पर किस प्रकार साहित्य की व्याख्या का प्रयास किया गया है। और इसको समझने के लिए उन सिद्धान्तों का जितना सामान्य ज्ञान अपेक्षित है वह भी प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

व्यावहारिक आलोचना तीन प्रकार की है—निर्णयात्मक आलोचना, रचनात्मक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना। इसी क्रम से इनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जाएगा।

(ग) निर्णयात्मक आलोचना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है निर्णयात्मक आलोचना का आधार सैद्धान्तिक आलोचना है। किसी भी वस्तु या कार्य पर निर्णय देने के लिए हमें किसी ऐसे आधार की आवश्यकता होती है जिसके आलोक में निर्णय दिया जा सके। साहित्य के महत्त्व का निर्णय करने के लिए भी हमें ऐसी कसौटी की अपेक्षा है।

किन्तु सैद्धान्तिक आलोचना के विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के मूल्यांकन के लिए हमारे पास अनेक कसौटियाँ हैं, अनेक सिद्धान्त हैं और इसलिए साहित्य के बारे में कोई सर्वमान्य निर्णय देना असम्भव है। निर्णायक अपनी रुचि या आस्था के अनुसार सिद्धान्त विशेष को स्वीकार करता है और इसलिए उसका निर्णय भिन्न सिद्धान्त के आधार पर किये गये निर्णय से विषमता रखता है। जिस प्रकार सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में किसी एक सर्वमान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की सम्भावना नहीं प्रतीत होती उसी प्रकार साहित्य का सर्वसम्मत मूल्यांकन भी सम्भव नहीं प्रतीत होता। किसी भी

देश की आलोचना के इतिहास में हमें ऐसे असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ एक ही रचना, कवि या काल के विषय में आलोचकों में तीव्र मतभेद प्राप्त होता है।

हिन्दी आलोचना के इतिहास से हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कुछ निर्णयों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। उनकी रस-सिद्धान्त पर आस्था थी और वह साहित्य में लोक-मंगल की प्रतिष्ठा को अनिवार्य मानते थे। इसीलिए वह तुलसी को सूर से श्रेष्ठ मानते थे, रीतिकालीन प्रवृत्तियों के विरोधी थे और छायावाद के प्रति भी सशंक थे। महाकाव्य के सम्बन्ध में उनका आदर्श 'रामचरितमानस' था और इसलिए उन्होंने 'कामायनी' आदि को महाकाव्य नहीं माना। स्पष्टतः उनके ये निर्णय ऐसे हैं जिनको परवर्ती आलोचकों ने चुनौती दी और भिन्न निर्णय प्रस्तुत किये। कुछ लोगों ने सूर को तुलसी से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया, कुछेक ने रीतिकालीन प्रवृत्तियों के गौरव का उद्घाटन किया और बहुतों ने 'कामायनी' आदि को महाकाव्य माना। स्पष्टतः उनकी इन मान्यताओं के पीछे ऐसे सिद्धान्त कार्यशील थे जो आचार्य शुक्ल के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न थे।

यहाँ यह सवाल किया जा सकता है कि यदि निर्णय के विषय में एकमत सम्भव नहीं है, यदि विविध आलोचकों के सिद्धान्तों में भिन्नता ही नहीं विरोध भी पाया जाता है तो फिर निर्णय किया ही क्यों जाय? फिर निर्णयात्मक आलोचना की आवश्यकता ही क्या है?

वस्तुतः निर्णय का कार्य एक महत्त्वपूर्ण कार्य है और इसके लिए विशेष योग्यता और सावधानी की अपेक्षा होती है। यदि यह विशिष्ट योग्यता हो तो निर्णय करने में कोई हानि नहीं है। एक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करना अनिवार्य भी है।

मूल्यांकन का आधार क्या है? आलोचनात्मक सिद्धान्त। और आलोचनात्मक सिद्धान्त के विषय में एकमत होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। अतः सिद्धान्त-वैविध्य एक ऐसा सत्य है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। या तो हम यह कहें कि साहित्य-विषयक सिद्धान्तों का निर्माण ही नहीं होना चाहिए। अगर हम सिद्धान्तों की निर्मिति और सत्ता को स्वीकार करते हैं तो फिर मूल्यांकन की स्वीकृति में ही उसकी संगत परिणति मानी जाएगी। जब तक सिद्धान्त के स्तर पर मतभेद है तब तक मूल्यांकन के विषय में भी मतभेद होना स्वाभाविक ही है। और मैं समझता हूँ कि इसमें कोई हानि भी नहीं है।

मूल्यांकन के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि आलोचक को निष्पक्ष दृष्टि से यह कार्य करना चाहिए। निष्पक्षता का सही अर्थ क्या है इस पर पहले विचार हो चुका है। वस्तुतः निष्पक्षता का अर्थ यदि व्यक्तिगत निष्पक्षता

है तो वह ग्राह्य है और यदि इसका अर्थ सैद्धान्तिक निष्पक्षता है तो वह किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं है।

जहाँ भी मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद हो वहाँ आवश्यकता इस बात की है कि उस मतभेद के आधारभूत सिद्धान्तों तक पहुँचा जाय और इस सैद्धान्तिक धरातल पर ही संगति का परीक्षण किया जाय। यदि सिद्धान्तों में इतिहास-दोष या काल-दोष है तो उसका निराकरण तो सरलता से हो जाता है। उदाहरण के लिए आचार्य शुक्ल ने जो 'कामायनी' आदि को महाकाव्य स्वीकार नहीं किया इसका आधार है उनका वह सिद्धान्त जो 'मानस' पर आश्रित है। स्पष्टतः यह सिद्धान्त काल-दोष से ग्रस्त है क्योंकि तुलसीदास और प्रसाद के युगों में जो अन्तर है वह निश्चित रूप से उनकी कृतियों के रूप आदि में व्यक्त होगा ही। इसलिए जब समीक्षक इस काल-दोष को पहचान जाता है तो वह सही निष्कर्ष पर सुविधा से पहुँच जाता है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि जहाँ सिद्धान्त में काल-दोष न हो और जहाँ वह व्यक्तिगत रुचि पर आधारित हो वहाँ मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद को कैसे दूर किया जाय ?

जहाँ समसामयिक साहित्य के विषय में ही विविध सिद्धान्त और विविध मूल्यांकन उपलब्ध होते हों वहाँ उस विविधता को दूर करना प्रायः सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में आवश्यकता इस बात की होती है कि उस मत-भेद की जड़ तक पहुँचा जाय। जब तक बात सैद्धान्तिक धरातल तक ही रहेगी तब तक स्पष्टता नहीं आ पाएगी। ज़रूरत इस बात की है कि सिद्धान्त-भेद के आधार में जो दृष्टि-भेद है, जो जीवन-दर्शन का भेद है उसको पूरी तरह से समझा जाय। आलोचना एवं सिद्धान्त का आधार जीवन है इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता। वे भी नहीं जो साहित्य को जीवन से सर्वथा पृथक मानते हैं। इसलिए एक बार जब जीवन-दर्शन के धरातल पर मतभेद का साक्षात्कार कर लिया जाता है तब 'निष्पक्ष' समीक्षक के लिए अपना मत बनाना सरल हो जाता है। ऐसी अवस्था में या तो वह प्रचलित सिद्धान्तों में से किसी एक का समर्थन करता है अथवा यह भी सम्भव है कि वह सभी प्रचलित सिद्धान्तों के समकक्ष एक भिन्न सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करे। किन्तु यह प्रयास तभी ठोस और विकासशील माना जाएगा जब वह जीवन-दृष्टि की स्पष्ट रुपरेखा के आधार पर व्यक्त किया जाएगा।

मैथ्यू आर्नल्ड ने तीन प्रकार के साहित्यिक मूल्यांकन का उल्लेख किया है—ऐतिहासिक मूल्यांकन, व्यक्तिगत मूल्यांकन और यथार्थ मूल्यांकन। ऐतिहासिक मूल्यांकन का आधार युग-विशेष की परिस्थितियाँ एवं शक्तियाँ हैं, व्यक्तिगत मूल्यांकन का आधार साहित्यकार की अपने प्रयास में उपलब्धि

है और यथार्थ मूल्यांकन का आधार साहित्यकार का सांस्कृतिक प्रगति में योगदान है।

आज हमारे सामने साहित्य की द्विविध मूल्यांकन-प्रक्रिया विद्यमान है। एक को सामाजिक मूल्यांकन कहा जा सकता है और दूसरी को सैद्धान्तिक या रूपात्मक। इन आलोचना-प्रकारों के विवेचन में ये प्रक्रियाएँ पूर्ण रूप से स्पष्ट होंगी। प्रसंग की आवश्यकतानुसार यहाँ उनकी चर्चा आवश्यक है। सामाजिक मूल्यांकन प्रधानतया साहित्य के सामाजिक या सांस्कृतिक पक्ष के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर स्थित होता है। जो साहित्य जितनी निष्ठा, ईमानदारी तथा शक्ति के साथ युगीन यथार्थ के बोध का संप्रेषण करता है वह उतना ही उत्कृष्ट साहित्य माना जाता है। शर्त यह है कि साहित्य युगीन सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति द्वारा उनके परिष्कृत रूप में विकसित होने में सहायक हो। जो समाज की मुक्ति का, आवश्यकता और अभाव से मुक्ति का विश्वीय आन्दोलन चल रहा है, उसे साहित्य के द्वारा बल मिलना चाहिए, तभी साहित्य श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

इसके विपरीत रूपात्मक निर्णय का आधार यह विश्वास है कि साहित्य एक विशिष्ट रूपमय रचना है और उसके उत्कर्ष का आधार विषय नहीं, रूप है। उस रूप के अनेक पक्ष एवं तत्त्व हैं और उनसे सम्बद्ध नियमों के आधार पर जो साहित्य खरा उतरता है, वही श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के मूल्यांकनों के बीच जो विरोध है, वह इतना बुनियादी और उग्र है कि दोनों के समन्वय का कोई मूर्त आधार पाना सरल नहीं है।

किन्तु यह मतभेद चाहे कितना ही तीव्र क्यों न हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सैद्धान्तिक आग्रह की दृष्टि से तथा साहित्यिक विकास की दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन की आवश्यकता एवं महत्त्व कभी कम नहीं होगा। जब कोई विचारधारा संगठित एवं सशक्त रूप से किसी साहित्यिक प्रवृत्ति का पोषण तथा अन्य प्रवृत्तियों का विरोध करने लगती है तो समकालीन साहित्यिक चेतन और परवर्ती साहित्यिक विकास पर उसका निश्चित प्रभाव पड़ता है। इतिहास इस सत्य का साक्षी है और इसलिए आलोचक पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आ जाती है जिसे निभाने के लिए उसे पूर्ण रूप से सन्नद्ध और प्रबुद्ध रहना चाहिए।

कुछ लोग यह समझते हैं कि आलोचक अपना राग अलापते रहते हैं और साहित्यकार अपनी राह चला करते हैं। एक सीमा के भीतर यह बात ठीक हो सकती है। किन्तु उस सीमा का दायरा बहुत छोटा है। असली बात तो यह है कि आलोचक में कितना दम है, उसमें कितनी शक्ति है। और यदि

आलोचना में जान है तो कोई वजह नहीं है कि साहित्यिक विकास उसके प्रभाव से अपने-आपको अछूता रख सके।

(घ) रचनात्मक आलोचना :

आलोचना जहाँ साहित्य की व्याख्या करती है वहाँ यह भी दिखाने का प्रयास करती है कि विवेच्य रचना का आदर्श रूप कैसा हो सकता था। दूसरे शब्दों में वह रचनाकार के समान ही रचना की भावना करता है और उस अपने भावित रूप को प्रस्तुत रचना के सभी दोषों तथा सीमाओं से मुक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह आलोच्य रचना के समकक्ष उसी विषय-वस्तु तथा आदर्श से संघटित एक रचना-रूप प्रस्तुत करता है जो उन आक्षेपों से मुक्त होता है जो आलोच्य रचना पर लगाये जाते हैं। इस रचनात्मक प्रक्रिया के कारण ही इस प्रकार की आलोचना को रचनात्मक आलोचना कहा जाता है।

किन्तु इससे पहले कि हम रचनात्मक आलोचना के स्वरूप का विवेचन करें यह प्रश्न हमारे सामने आता है कि रचना और आलोचना का क्या सम्बन्ध है।

यह प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद रहा है और इसलिए इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करना उपयोगी होगा। इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते हैं—१. रचना आलोनना से अधिक महत्त्वपूर्ण है, २. आलोचना रचना से अधिक महत्त्वपूर्ण है, तथा ३. दोनों एक-दूसरे की पूरक तथा सहयोगी हैं। इतिहास में हमें तीनों प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से और उपयोगिता की दृष्टि से।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास का पर्यालोचन करने पर स्पष्ट होता है कि यह समस्या यहाँ प्राचीन काल में कभी उपस्थित नहीं हुई। कवि और काव्यशास्त्री दोनों की अदम्य प्रतिभा का गुणगान किया जाता रहा है। जहाँ एक ओर कवियों को सरस्वती-पुत्र कहा जाता था, वहाँ दूसरी ओर आचार्यों को सरस्वती का अवतार (मम्मट) भी माना जाता था। नाट्यशास्त्र के रचनाकार भरत थे जिन्हें भारतीय परम्परा मुनि मानती है। उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना चारों वेदों के आधार पर की थी और नाट्यशास्त्र को पाँचवाँ वेद कहा जाता है। उधर कविता के जन्मदाता वाल्मीकि ऋषि थे जिसकी सूचना पाकर 'उत्तररामचरितम्' में अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया गया है। इन सब बातों से यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि भारतीय परम्परा में आचार्य और कवि दोनों का ही समान महत्त्व था। दोनों में कभी प्रतिस्पर्द्धा का कोई विशेष उदाहरण देखने में नहीं आता। दोनों मिलकर तथा एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में कार्य करते थे। काव्य-हेतुओं की चर्चा में काव्यज्ञ की

शिक्षा के अनुसार अभ्यास को स्वीकार किया गया है। इससे निश्चित रूप से काव्यज्ञ के महत्त्व की स्वीकृति की व्यंजना होती है। कवि जब काव्य-रचना करता था तो वह निरन्तर आचार्य द्वारा निर्दिष्ट नियमों के पालन का प्रयास करता था। छन्द, रस, गुण, दोष, अलंकार आदि काव्य के सभी तत्त्वों का ध्यान रखना कवि के लिए आवश्यक था। इसके बावजूद भी कवि में जो दोष रहते थे उनका उल्लेख काव्यशास्त्री किया करते थे।

संस्कृत के काव्यशास्त्रों और काव्यों को देखने से एक बात स्पष्ट होती है। और वह यह कि यद्यपि दोनों में महत्त्व के विषय में कभी प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती थी, और काव्य के मूल्यांकन में आचार्य का निर्णय ही अन्तिम निर्णय था, फिर भी शास्त्री और कवि की शक्ति के रूप और कार्य-व्यापार में अन्तर था। आचार्य मेधावी एवं गम्भीर विद्वान् होता था और जीवन-भर की साधना के उपरान्त एक-दो काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की रचना करता था और उसी से अमर हो जाता था। स्पष्टतः उसमें विवेक, कुशाग्रता और दीर्घ-गम्भीर साधना का योग रहता था। इसके विपरीत कवि की शक्ति का प्रधान रूप वह था जिसे प्रतिभा या कल्पना कहा जा सकता है। इस शक्ति के सहारे ही कवि नये-नये रूपों का उन्मेष करता था तथा अपने काव्य को आस्वाद्य बनाता था। काव्यशास्त्री में प्रतिभा या कल्पना का महत्त्व गौण था और कवि में वैसी ज्ञान-साधना नहीं होती थी जैसी कि आचार्य में होती थी।

इसी प्रसंग में यह संकेत करना भी आवश्यक है कि जब काव्यशास्त्र दर्शनशास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हुआ और जब काव्यानुभूति को ब्रह्म-स्वादसहोदर कहा गया तब यह स्वाभाविक ही था कि कवि को भी दिव्य शक्ति से मण्डित किया जाय। 'कविर्मनीषी' आदि के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। ऐसी उक्तियों को अतिरंजना मात्र ही समझना चाहिए। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि भारत के मध्यकाल तक के साहित्यिक इतिहास में काव्यशास्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा और कवि रचना करते समय काव्यशास्त्र से विमुख नहीं हो सकता था। वह शास्त्रवादी प्रवृत्ति केवल काव्य में ही नहीं, जीवन में भी प्रभुत्व रखती थी। जीवन का नियमन भी कठोर था और निश्चित मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस किसी को भी न होता था। लोक-नेताओं द्वारा जो सामाजिक रीति-नीति निश्चित कर दी जाती थी सारी जनता पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ उसका पालन करती थी। यह विशेषता व्यक्तिवादी युग की विशेषता है। जब हमने एक बार समाज में कुछ व्यक्तियों को प्रधान मान लिया और जब सामाजिक जीवन की बागडोर उनके हाथों में सौंप दी तो फिर समाज के लिए इसके सिवाय और कोई इलाज ही नहीं रहता कि वह उनके निर्देशों का पालन करे।

ऐसी ही बात पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी लक्षित होती है। अरस्तू के काव्यशास्त्र के उपरान्त जो शास्त्रवादी धारा प्रवाहित हुई वह पुनरुत्थान के बाद नया रूप धारण करके चल निकली और स्वच्छन्दतावाद के उदय में ही समाप्त हुई। वहाँ भी शास्त्रवादी परम्परा में अरस्तू का एकछत्र साम्राज्य रहा और इस प्रकार आलोचना साहित्य के लिए आलोक-स्तम्भ का कार्य करती रही।

जन-जागरण के उपरान्त जब व्यक्ति ने अपनी आँखों से देखने और अपने दिमाग़ से सोचने का इरादा किया तो शास्त्रवादी परम्परा का कटु विरोध हुआ और इस प्रतिक्रिया में आलोचना को कुछ लोगों ने हीन दृष्टि से देखना आरम्भ किया। ड्राईडन ने तो यहाँ तक कह डाला कि जो व्यक्ति कविता-रचना में असफल हो जाता है, वह आलोचक बन बैठता है। इसके विपरीत पोप आदि ऐसे आलोचक भी हुए जिन्होंने यह माना कि कवि और आलोचक दोनों एक ही स्तर की प्रतिभाएँ हैं और दोनों ही दैवी प्रकाश से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आलोचना के महत्त्व के सम्बन्ध में तीव्र मतभेद का उदय हुआ जिसके समाहार का प्रयास टी० एस० इलियट आदि विचारकों ने किया जो रचना और आलोचना दोनों को एक-दूसरे की पूरक और सहयोगी मानते हैं।

यह तो हुआ ऐतिहासिक विवेचन। अब स्वतन्त्र दृष्टि से रचना और आलोचना के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

सबसे पहले यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि आलोचना और रचना में भिन्नता तो है किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या इस भिन्नता के कारण दोनों के महत्त्व में भी भिन्नता है ? क्या इस प्रचलित विश्वास को मान लिया जाय कि रचना का महत्त्व आलोचना के महत्त्व से अधिक है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले रचना और आलोचना के अन्तर को स्पष्ट कर लेना होगा। प्रसंगानुसार आलोचना के विविध प्रकारों का उल्लेख करना अनिवार्य होगा।

रचना और काव्यशास्त्र में पहला अन्तर तो यह है कि रचनाकार पूर्णतः स्वच्छन्द दृष्टि से वस्तु का चयन करता है। वह अपनी प्रवृत्ति, लक्ष्य एवं अनुभव के अनुसार अनुकूल क्षेत्र को अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करता है। इस कार्य में उस पर आन्तरिक रुचि आदि को छोड़कर किसी बाह्य तत्त्व का बन्धन नहीं होता। किन्तु काव्यशास्त्री के लिए रचना ही उसकी सीमा बन जाती है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सैद्धान्तिक आलोचना का आधार साहित्य है। इसी प्रकार रूपात्मक आलोचना—जो काव्यरूप को ही प्रधान तत्त्व मानती है—भी काव्य के बने बन्धनों से बाहर नहीं निकल सकती। जब हम काव्यरूप-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं

अथवा किसी काव्यरूप की व्याख्या और मूल्यांकन करते हैं तो स्पष्टतः हमें काव्यरूप तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के दायरे के भीतर ही रहना पड़ता है।

किन्तु आलोचना का एक भेद ऐसा भी है जो इस आधार पर रचना से पृथक् नहीं किया जा सकता। वह रूप सांस्कृतिक आलोचना का रूप है। यह आलोचना साहित्य के घेरे में ही चक्कर नहीं काटती रहती। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसका कार्य उतने ही व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ है जितना व्यापक क्षेत्र साहित्य का है। सांस्कृतिक आलोचक सांस्कृतिक धारा के बीच साहित्य को रखता है और इसी परिप्रेक्ष्य में साहित्य का अध्ययन करता है। इसलिए सांस्कृतिक आलोचक भी उतना भी स्वतन्त्र होता है जितना कि रचनाकार।

रचना और आलोचना में दूसरा प्रमुख अन्तर होता है ज्ञान की व्यापकता का। यद्यपि यह सर्वमान्य है कि रचनाकार तथा आलोचक दोनों को ही अनेक विषयों का ज्ञान होना चाहिए और दोनों की ही दृष्टि बड़ी व्यापक होनी चाहिए, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आलोचक का ज्ञान रचनाकार के ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक होना चाहिए। इसका प्रधान कारण तो यह है कि रचनाकार अपनी रुचि के अनुकूल विषयों का अध्ययन करता है और अपनी ज्ञान-साधना को साहित्य में संजो देता है मगर आलोचक को कई साहित्यकारों का तथा साहित्य-धाराओं का अध्ययन करना पड़ता है। उसकी नज़र एक रचनाकार या उसके युग तक ही सीमित नहीं रहती वरन् वह प्राचीन परम्पराओं तक भी जाती है और अनागत सम्भावनाओं पर भी। यह अन्तर प्रधानतया सांस्कृतिक आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक और रूपात्मक आलोचना को तो साहित्य के दायरे से बाहर निकलने की आवश्यकता ही नहीं होती।

यह तो हुई रचना और आलोचना की भिन्नता की बात। अब दोनों के सापेक्षिक महत्त्व पर विचार किया जाएगा।

इस समस्या पर विचार करते समय एक बात की ओर संकेत करना अनिवार्य है। पहले आलोचना के लक्षण, हेतु, प्रयोजन आदि पर विचार किया जा चुका है। यदि इस समस्या को उस विवेचन के आलोक में रख कर देखने का प्रयास किया जाएगा तो समाधान में सरलता होगी।

काव्यशास्त्र या व्याख्या का जहाँ तक सवाल है वे दोनों ही प्रधानतया साहित्य पर आश्रित हैं। किन्तु सांस्कृतिक आलोचना साहित्य पर आधारित नहीं है। सापेक्षिक महत्त्व की समस्या पर विचार करने के लिए पहले इस बात का निर्णय करना अनिवार्य है कि 'महत्त्व' से हमारा अभिप्राय क्या है। यह शब्द अपने-आप में कोई स्पष्ट अर्थ नहीं रखता। इसलिए इसे किसी

अन्य मूल्य के साथ सम्बद्ध करने पर ही इसका अर्थ स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त रूप से समझा जा सकता है। इस दृष्टि से देखते हुए महत्त्व के कई आधार हो सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जिसका प्रचार अधिक हो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह भी माना जा सकता है कि जो अधिक आनन्द प्रदान करे वह अधिक महत्त्वपूर्ण है और यह भी समझा जा सकता है कि जो व्यक्ति या समाज के लिए अधिक उपयोगी है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि आलोचना के वे रूप जो साहित्य पर आधारित हैं, साहित्य की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु ये सारे मत विवादास्पद हैं और इनके पक्ष तथा विपक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

यदि यह कहा जाय कि काव्यशास्त्र का महत्त्व काव्य से कम है क्योंकि वह काव्य पर आधारित है तो इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि केवल आधारित होने से ही महत्त्व कम हो जाता है तो वनस्पतिशास्त्र का महत्त्व वनस्पति से कम होना चाहिए। स्पष्टतः महत्त्व-निर्धारण के लिए यह आधार ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

आनन्द और उपयोगिता वाली बात लीजिए। यह तो स्पष्ट है कि यदि महत्त्व का आधार आनन्द है, तो साहित्य का आलोचना की अपेक्षा अधिक महत्त्व होना चाहिए। कारण यह है कि रचनात्मक साहित्य से जो आनन्द की प्राप्ति होती है, वह आलोचना से नहीं होती। जहाँ तक उपयोगिता का सवाल है इस पर प्रत्येक आलोचना-प्रकार के प्रसंग में पृथक् रूप से विचार करने की अपेक्षा होगी। सैद्धान्तिक आलोचना या रूपात्मक आलोचना आदि की उपयोगिता साहित्य की अपेक्षा कम है क्योंकि उनके अभाव में भी सामाजिक साहित्य का अध्ययन कर सकता है और करता है। यह तो ठीक है कि यदि पाठक को उन सिद्धान्तों का भी ज्ञान हो तो उसका साहित्य-अनुशीलन अधिक सूक्ष्म स्तर पर अग्रसर हो सकता है किन्तु उसके अभाव में भी पाठक अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार रचना का आस्वाद करेगा, उससे चमत्कृत होगा और उससे लाभान्वित भी होगा। व्याख्या के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मगर सांस्कृतिक आलोचना की उपयोगिता साहित्य से कम नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि इसका क्षेत्र साहित्य से भी व्यापक होता है और इसलिए वह न केवल साहित्य के अध्ययन को अधिक पूर्ण बनाती है वरन् साहित्य-साधना के विकास के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती है। मार्क्स और गांधी आदि पर आधारित सांस्कृतिक आलोचना ने साहित्यिक विकास को बहुत दूर तक प्रभावित किया है इनसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रचना और आलोचना के सापेक्षिक

महत्त्व का प्रश्न जटिल एवं विवादास्पद है। किन्तु मैं समझता हूँ कि आलोचना अपने उत्कृष्ट रूप में साहित्य के उत्कृष्ट रूप के समकक्ष रखी जा सकती है। इस समानता का आधार आनन्द या उपयोगिता नहीं वरन् रचनाकार और आलोचक की उद्बुद्ध प्रतिभा है जिसके अभाव में न श्रेष्ठ आलोचना सम्भव है और न ही श्रेष्ठ साहित्य-रचना। जिस प्रकार रचना के कई स्तर हैं उसी प्रकार आलोचना के भी। दोनों में अधम रूप भी मिलते हैं और उत्तम रूप भी। तुलना करते समय समान स्तर की कृतियों को सामने रखना चाहिए।

प्रतिभा और रुचि : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में रचना और आलोचना का विवेचन करते हुए प्रतिभा (जीनियस) और रुचि (टेस्ट) का उल्लेख किया जाता रहा है। प्राचीन काल में तो इन दोनों में विरोध माना जाता था किन्तु आज के समीक्षक दोनों को एक-दूसरे के सहयोगी और पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए प्लेटो ने काव्य-देवियों के प्रभाव का उल्लेख किया है। वे मानते थे कि कवि दो अवस्थाओं में जीता है। उसकी एक अवस्था तो साधारण या लौकिक अवस्था है जिसमें उसका व्यक्तित्व, उसके विचार आदि सामान्य मनुष्य के समान होते हैं। दूसरी अवस्था असाधारण तथा अलौकिक अवस्था है जिसमें कवि अनदेखी, अनसुनी घटनाओं का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली रूप में कर डालता है। इस असाधारण अवस्था का कारण क्या है? इसके उत्तर में प्लेटो का यह मत था कि इसका कारण काव्य-देवियाँ (म्यूसिस) हैं जो कवि के व्यक्तित्व को अविष्ट कर लेती हैं और इस दैवी आवेश की अवस्था में वह काव्य-रचना करता है। यह इस दैवी आवेश का ही प्रभाव है कि कवि अनदेखी-अनसुनी बातों को भी सजीव रूप से उपस्थित कर सकता है। इस अवस्था को काव्य-विक्षेप (पोइटिक मैडनेस) की अवस्था भी कहा गया है। इस अवस्था में कवि सभी प्रकार के लौकिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर स्वेच्छा से रचना करता है और उस पर कोई भी अंकुश हावी नहीं हो सकता।

कालान्तर में काव्य-देवियों का स्थान प्रतिभा (जीनियस) ने ले लिया और यह माना जाने लगा कि रचनात्मकता का मूल तत्त्व प्रतिभा है जिसके अभाव में रचना सम्भव ही नहीं है। प्रतिभा किसी भी नियम, मर्यादा अथवा परम्परा का पालन नहीं करती। यह पूर्ण स्वच्छन्द और यहाँ तक कि उच्छृंखल है। जो चाहती है चित्रित कर देती है। इसीलिए कवि सामाजिक रीति-नीति की उपेक्षा कर अपनी भावना के अनुसार रचना करता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसकी रचना समाज की नैतिक भावना को ठेस पहुँचाएगी अथवा सामाजिक क्षोभ या आक्रोश को प्रेरित करेगी।

समाज ने स्वेच्छाचारिता का हमेशा विरोध किया है। इसलिए प्रतिभा के विरुद्ध एक दूसरा तत्त्व प्रस्तुत किया गया जिसे रुचि (टेस्ट) कहा गया। यह आलोचना का आधारभूत तत्त्व माना गया। इसका कार्य यह था कि वह प्रतिभाजन्य स्वेच्छाचार का विरोध करे और सुरुचि को ठेस पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों का विरोध कर उनके दमन का प्रयास करे। इस रूप में रचना और आलोचना के बीच विरोध एवं संघर्ष का जन्म हुआ। वस्तुतः प्रतिभा और रुचि का यह विरोध साहित्य-चिन्तन के व्यापक विरोधों को संकेतित करता है। प्रतिभा स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता का प्रतीक है तो रुचि परम्परा-प्रेम और नैतिक विश्वास का। इस प्रकार कला और समाज तथा आनन्द एवं नैतिकता की समस्याएँ इस विरोध का ही एक रूप प्रस्तुत करती हैं।

साहित्यकार प्रतिभा के अनुरूप रचनाएँ प्रस्तुत करते थे और आलोचक रुचि के आग्रह से उनका मूल्यांकन करते थे। यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। किन्तु आधुनिक युग में जब विचारकों ने रचना और आलोचना के सम्बन्ध की समस्या पर नये सिरे से सोचा तो वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इन दोनों तत्त्वों का विरोध तात्त्विक विरोध नहीं है। कई ऐतिहासिक कारणों से यह विरोध चलता रहा किन्तु आधुनिक काल की परिस्थितियों ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर इस विरोध के शमन का प्रयास किया। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि आज हम कवि को और प्रतिभा को उस रहस्यवादी दृष्टि से नहीं देखते जिससे कि हम पहले उन्हें देखा करते थे। आज हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। जीवन एवं समाज की नयी शक्तियों के उदय के साथ-साथ ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

यहाँ महत्त्वपूर्ण सवाल तो यह है कि क्या रचनाकार रुचि से सर्वथा अपरिचित होता है और क्या आलोचक में प्रतिभा का सर्वथा अभाव होता है?

रचनाकार जब रचना करता है तो उसकी रचना-प्रक्रिया में आलोचना-प्रक्रिया भी अन्तर्भूत होती है। वह जब रचना की तैयारी करता है तो उस समय वह आलोचक के समान ही प्रत्येक तत्त्व तथा पक्ष के रूप की मीमांसा करता हुआ एक व्यापक रूपरेखा तैयार करता है। इस कार्य में वह इस बात का ध्यान रखता है कि वह जिस पात्र अथवा घटना को प्रस्तुत कर रहा है अथवा जिस चित्र तथा विचार को व्यक्त कर रहा है उसका उत्कृष्ट रूप कौन-सा है। इस बात पर विचार करते हुए उसके सामने कई विकल्प आते हैं और वह प्रत्येक विकल्प का परीक्षण करता हुआ उसकी शक्ति अथवा कमज़ोरी पर विचार करता है और अन्त में उस रूप को मन में निर्धारित करता है जो उसके मत में सर्वश्रेष्ठ है। हो सकता है कि आलोचक उस रूप में भी उनके दोष देखता हो, किन्तु रचनाकार की दृष्टि से वही रूप उत्कृष्ट

रूप है। इस प्रकार प्रतिभा उतनी स्वच्छन्द नहीं है जितनी कि वह पहले कभी मानी जाती थी।

प्रतिभा के सम्बन्ध में दूसरी बात, जो उपर्युक्त विशेषता से ही निसृत होती है, यह है कि उसकी रचनात्मकता आज उतनी सहज नहीं है जितनी कि वह पहले मानी जाती थी। इसीलिए ऊपर यह कहा गया है कि पुराना व्यक्ति कवि और कवि की शक्ति को रहस्यवादी दृष्टि से देखता था। इसका कारण यह है कि उसका ज्ञान सीमित था और उस सीमा के कारण जहाँ कहीं वह किसी तथ्य की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर पाता था वहीं दैवी तत्त्व को मान बैठता था। आज हम जिस सुविधा और संगति से मानसिक प्रक्रियाओं पर विचार कर सकते हैं, ऐसा पहले सम्भव नहीं था। आज का मनोविज्ञान यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है कि साहित्य-रचना सहज या दैवी शक्ति का फल नहीं है। वह तो वस्तुतः एक योग्य व्यक्ति की सप्रयास साधना का फल है, जिसकी व्याख्या बहुत-कुछ वैज्ञानिक स्पष्टता के साथ की जा सकती है। साहित्य-रचना में जो सहजता प्रतीत होती है उसके मूल में कितना संघर्ष होता है। कला के सामरस्य की प्राप्ति के लिए कलाकार की साधना कैसे वैषम्य से होकर गुज़रती है यह आज के विचारक के लिए बिलकुल अज्ञात नहीं है। और इसीलिए आज वह अवसर आ गया है जब कि साहित्य और साहित्य-हेतुओं के विषय में रहस्यवादी दृष्टि को तिलांजलि देकर स्पष्ट वैज्ञानिक रूप से व्याख्या की जाय। प्रस्तुत प्रयास के मूल में यही प्रधान उद्देश्य अन्तर्निहित है।

दूसरी ओर रुचि क्या है? उसकी यदि संगत व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रतिभा के अभाव में रुचि कार्य कर ही नहीं सकती। जब तक आलोचक को रचना-प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होगा, जब तक उसमें सर्जन-शक्ति को भावित करने की शक्ति नहीं होगी, तब तक वह सफल आलोचना करने में पूर्णतः असमर्थ सिद्ध होगा। जिस प्रकार रचनाकार आलोचक नहीं होता, उसी प्रकार आलोचक भी रचनाकार नहीं होता। लेकिन न तो रचनाकार आलोचक के कार्य से सर्वथा अनभिज्ञ होता है और न ही आलोचक रचनाकार की साधना से अपरिचित होता है। दोनों के बीच न टूटने वाली दीवार नहीं होती। अगर ऐसा होता तो कोई ऐसा बिन्दु या स्तर नहीं होता जहाँ दोनों एक-दूसरे को जान सकते। रचना और आलोचना एक-दूसरे से अजनबी नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस स्तर का स्पष्ट विवेचन किया जाय जहाँ ये दोनों मिलते प्रतीत होते हैं।

यह सवाल हो सकता है कि वे कौन-से स्तर हैं जहाँ प्रतिभा और रुचि, रचना और आलोचना की समानता का उद्घाटन किया जा सकता है।

आज तक की ज्ञान-साधना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे दो क्षेत्र हैं जहाँ रचना और आलोचना के साम्य का आविष्कार किया जा सकता है। एक क्षेत्र है मनोवैज्ञानिक और दूसरा है सामाजिक। मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक इन दोनों धरातलों का विशद विवेचन अपेक्षित है। इस विवेचन के आलोक में ही प्रस्तुत समस्या का समाधान हो सकता है। इस प्रकार के प्रयास की एक सीमा है जिसके कारण इस पुस्तक में हम उस सूक्ष्म विस्तार तक सम्भवतः नहीं पहुँच पायेंगे जहाँ तक पहुँचना सम्भव है, फिर भी इस पुस्तक की सीमाओं का ध्यान रखते हुए इस समस्या का विश्लेषण किया जाएगा।

रुचि और विवेक : अभी तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रतिभा और रुचि के आधार पर रचना और आलोचना का अन्तर नहीं समझा जा सकता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों के अन्तर पर नयी दृष्टि से विचार किया जाय।

यह सवाल हो सकता है कि नयी दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता ही क्यों पैदा हुई ?

इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ रचना और आलोचना के स्वरूप और महत्त्व में भी अन्तर आया है। दूसरा कारण यह है कि नवीन ज्ञान के आविष्कार के कारण आज यह सम्भव हो गया है कि हम इस नवीन प्रकाश में पुरानी समस्याओं पर विचार करें ताकि अधिक संगत निष्कर्षों पर पहुँचा जा सके।

यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि केवल नये प्रकाश का उपयोग करने-भर से ही पुरानी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाएगा। असल बात तो यह है कि नयी रोशनी का उपयोग कितनी सावधानी से किया जाता है। अपेक्षित कुशलता तथा सावधानी के अभाव में यह प्रयोग घातक भी सिद्ध हो सकता है।

प्रतिभा के आधार पर साहित्य का विवेचन सम्भव ही नहीं। कारण यह है कि प्रतिभा की वह व्याख्या और वह रूप आज मान्य ही नहीं है जो उसका परम्परा-सिद्ध वास्तविक रूप है। आज प्रतिभा को दैवी शक्ति नहीं माना जा सकता। वह एक योग्यता या प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो साहित्य-रचना से लगाव रखती है। और इस रूप में वह योग्यता अन्य विषयों की योग्यता से बहुत भिन्न नहीं है। इसका विवेचन पहले हो चुका है।

मैं समझता हूँ कि साहित्य-विवेचन में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व यदि कोई माना जा सकता है तो वह प्रतिभा ही है। प्रतिभा का दैवी रूप लेकर

प्राचीनों ने काव्य को अलौकिक तथा विलक्षण रहस्यात्मक गौरव से मण्डित करने का प्रयास किया है। इसलिए जहाँ कहीं प्रतिभा का उल्लेख होता है वहीं पाठक के मन में एक विलक्षण-अद्भुत दैवी शक्ति की अवधारणा उदित होती है। और इसके उदय के साथ ही समग्र साहित्य-चिन्तन कुण्ठित हो जाता है।

आज हम रुचि और विवेक के आधार पर रचना और आलोचना का अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं। इस बारे में पहली महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यहाँ रुचि का वह अर्थ नहीं है जो टेस्ट का है। यद्यपि अनुवाद की सीमाओं के कारण पीछे टेस्ट के लिए रुचि शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी वस्तुतः उसमें कुछ सुरुचि का-सा संस्कार है। प्रतिभा तो उच्छृंखल रूप से साहित्य-रचना करती थी और रुचि इस बात का निर्धारण करती थी कि वह रचना सुरुचिपूर्ण है या नहीं। हमने जो रुचि शब्द का प्रयोग किया है वह प्रवृत्ति या रुझान के अर्थ में है। विवेक का अर्थ स्वतः स्पष्ट है।

रचना का प्रधान तत्त्व रुचि है और आलोचना का प्रधान तत्त्व विवेक है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रुचि और विवेक विरोधी तत्त्व नहीं हैं। अन्तर केवल इतना है कि रचनाकार प्रधानतया रुचि द्वारा परिचालित होता है और विवेक रुचि का अनुसरण करता है, जब कि आलोचना का प्रधान गुण विवेक है और रुचि उसका अनुसरण करती है। जीवन के विविध रूप हैं, उसकी असंख्य समस्याएँ हैं मगर क्या कारण है कि विशिष्ट साहित्यकार जीवन के रूप-विशेष की ओर आकृष्ट होता है? प्रसाद ने क्यों ऐतिहासिक नाटक लिखे और प्रेमचन्द ने क्यों सामाजिक उपन्यास लिखे? इसका उत्तर उनके विवेक में नहीं, उनकी रुचि में है। अतः जहाँ तक विषय-चयन का सवाल है रचनाकार स्वतन्त्र है और वह अपनी रुचि द्वारा ही नियन्त्रित होता है तथा उस रुचि के क्षेत्र में उसका विवेक कार्यशील होता है और इस प्रकार कला रूप ग्रहण करती है।

रुचि-भेद के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रसाद आरम्भ से ही ऐसे वातावरण में रहे। उन्हें ऐसी रचनाएँ पढ़ने को उपलब्ध हुईं जिनके कारण उनके मन में अतीत गौरव के प्रति सम्मोहन पैदा हुआ। इसके विपरीत प्रेमचन्द का आरम्भिक जीवन देसी परिस्थितियों में पला कि उनकी चेतना आस-पास के समकालीन जीवन को रचनाबद्ध करने के लिए आकुल हो उठी। किन्तु रुचि की इस व्याख्या से रुचि-भेद की सत्ता का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रुचि का अर्थ सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह नहीं है। सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह तो आलोचक को भी होता है किन्तु इसे हम

रुचि नहीं कह सकते। तो फिर यह सवाल हो सकता है कि रुचि का सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह से क्या सम्बन्ध है ? वस्तुतः सिद्धान्त-विशेष के प्रति जो लगाव है वह रुचि के अन्तर्गत आता है। यह हो सकता है कि विविध सिद्धान्तों का परीक्षण करने के उपरान्त ही किसी साहित्यकार ने कोई सिद्धान्त स्थिर किया हो। किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और आरम्भ से ही साहित्यकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ लक्षित होने लगती हैं। और यदि सिद्धान्त का चयन विवेक के आधार पर ही किया जाय तो भी सिद्धान्त के प्रति जो गम्भीर लगाव है, वह रुचि के अन्तर्गत ही माना जाएगा। इस मान्यता की उपयोगिता आगे के विवेचन से स्पष्ट होगी।

आलोचक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है उसका विवेक। वह प्रधानतया विषयवस्तु को सभी दृष्टियों से समझने-समझाने का प्रयास करता है और प्रत्येक रूप या कृति के सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करता है। वह रचनाकार की अपेक्षा अधिक वस्तुपरक और समग्र दृष्टि का उपयोग करता है और इसीलिए प्रायः उसके निष्कर्ष और मूल्य वैसे एकांगी नहीं होते जैसे कि रचनाकार के। इसका यह अर्थ नहीं है कि आलोचक जो कुछ भी कहता है वह सभी की दृष्टि से मान्य होना चाहिए। कारण यह है कि आलोचक का भी अपना सिद्धान्त होता है और इसलिए पूर्ण निष्पक्षता तो एक ऐसा आदर्श है जो व्यवहार के धरातल पर अनुपयोगी है। कोई भी आलोचक, यदि वह आलोचक है तो, पूर्ण रूप से निष्पक्ष नहीं होता।

यह सवाल हो सकता है कि जब आलोचक और रचनाकार दोनों में ही सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह होता है, दोनों के ही मूल्य और निष्कर्ष उस रीति या पद्धति पर आधारित हैं जिसे उसकी विचारधारा निर्णीत करती है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि रचनाकार और आलोचक में रुचि और विवेक के आधार पर अन्तर होता है ?

सामान्य रूप से उपर्युक्त आक्षेप सही प्रतीत हो सकता है किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। रचनाकार प्रायः यह मानकर चलता है कि उसका सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है, उसकी रीति और शिल्प ही सबसे अच्छी है और इसलिए उसे अन्य दृष्टियों को देखने-परखने की ज़रूरत ही नहीं है। बहुत से रचनाकार ऐसे हैं जिनका अध्ययन सीमित है। इसके कई कारण हो सकते हैं। मगर इन अनेक कारणों में से एक यह भी है कि रचनाकार प्रायः अध्ययन को अपनी रचना के लिए बाधक मानता है। यह कोशिश करता है कि उसने जिसे स्वीकार किया है उसी को ही व्यावहारिक मूर्त रूप प्रदान करे। इस प्रकार उस पर अध्ययन के लिए न तो उतना समय होता है और न ही अपेक्षित प्रवृत्ति। इसीलिए रचनाकार की दृष्टि विशिष्ट-मार्गीय दृष्टि है जो

इस बात का अन्वेषण करती है कि गृहीत मार्ग को किस प्रकार रचना के माध्यम से व्यक्त किया जाय।

व्यापक दृष्टि से देखते हुए इसे रचनाकार की सीमा कहा जा सकता है। किन्तु रचनाकार की दृष्टि से यह एक काम्य विशेषता है। बात यह है कि रचनाकार के लिए एक विशिष्ट प्रकार की एकाग्रता और संवृत्ति की आवश्यकता होती है। इसकी विशिष्टता इस बात में है कि रचनाकार का उद्देश्य केवल विषय का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं है वरन् उसका मूर्तीकरण भी है और इस मूर्तीकरण के कारण उसकी एकाग्रता इतनी सामग्री-विषयक नहीं होती जितनी निर्माण-विषयक होती है। यह एक सूक्ष्म अन्तर है जिसे समझना अनिवार्य है। विचारक के लिए तो विषय का प्रत्यक्षीकरण ही उसकी सफलता है। एक बार जब विषय का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, विवेच्य तत्त्व के सभी तत्त्व, अंग और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हो जाता है, तब व्याख्या और मूल्यांकन का कार्य आसान हो जाता है। इस प्रकार आलोचक की संवृत्ति का केन्द्र विषय है, और रचनाकार की संवृत्ति का केन्द्र विषय का मूर्तीकरण। एक यह देखता है कि विषय कैसा है और क्यों है, दूसरा प्रधानतया यह देखता है कि वह साहित्य-रूप में उस विषय का आविष्कार कैसे करे।

इस अन्तर से एक निष्कर्ष निकलता है जिससे साहित्य-विषयक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या के समाधान में सहायता ली जा सकती है। इस संवृत्ति के विषय-भेद के कारण ही प्रायः ऐसा होता है कि साहित्यकार की अपेक्षा आलोचक विषय को अधिक सूक्ष्मता और गम्भीरता से पकड़ पाता है और इसलिए वह अधिक विश्वास के साथ विषय की सीमाओं तथा उपलब्धियों का उद्घाटन कर सकता है। विषय के मूर्तीकरण की प्रक्रिया के स्वरूप का विवेचन करते समय यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है रुचि और विवेक का पार्थक्य निरपेक्ष या आत्यन्तिक न होकर सापेक्षिक और तुलनात्मक है। रचनाकार और आलोचक दोनों में ये दोनों विशेषताएँ कमोबेश पायी जाती हैं। अन्तर इतना है कि रचनाकार में रुचि ही प्रधान है, और विवेक उसका अनुसरण करता है। आलोचक में विवेक पथ-प्रदर्शन करता है और रुचि उसका अनुसरण करती है। एक में रुचि के नियन्त्रण में विवेक पलता है, द्वितीय में विवेक की छाया में रुचि विकसित होती है। वैसे इतिहास में ऐसे रचनाकारों की कमी नहीं जिनका विवेक अत्यन्त प्रबुद्ध था और ऐसे आलोचक भी हुए हैं जिन्होंने रुचि की प्रेरणा से ऐसे निष्कर्ष उपस्थित किये हैं जिनकी स्वीकृति सीमित ही रही। किन्तु इसके मूल में भी प्रस्तुत अन्तर को दिखाया जा सकता है।

तुलसीदास और आचार्य शुक्ल का उदाहरण लिया जा सकता है। एक ओर तुलसीदास का दार्शनिक ज्ञान व्यापक और गम्भीर है, दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल ने रुचि के कारण तुलसी को सूर से श्रेष्ठ कहा। यद्यपि ऊपरी नज़र से यह बात सही प्रतीत होती है, फिर भी वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है। गोस्वामीजी ने क्यों राम को ही अपने काव्य का विषय बनाया इसका कारण उनकी रुचि ही है जिसकी निर्मिति विशिष्ट वातावरण में हुई होगी। दूसरी ओर आचार्य शुक्ल में तो राम को श्रेष्ठ मानने की रुचि प्रतीत होती ही है। वस्तुतः उसका सैद्धान्तिक आधार उनके लोकमंगल की अवधारणा में मिलता है। यह कहा जा सकता है कि लोकमंगल की भावना का यही आधार जो स्वामी जी की रुचि के मूल में भी देखा जा सकता है। यह तो ठीक है। किन्तु सवाल यह है कि गोस्वामी जी ने राम को ही आधार क्यों बनाया ? कृष्ण या शिव को बना सकते थे। कृष्ण और शिव को आधार बनाकर भी लोकमंगल की भावना का मूर्तीकरण किया जाता रहा है। फिर क्यों गोस्वामी जी ने राम को ही आधार तथा माध्यम बनाया ? इसका उत्तर स्पष्टतः उनकी रुचि में ही मिलेगा।

यदि वर्तमान स्थिति से उदाहरण लेकर प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाय तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी।

प्राचीन काल में आलोचक और रचनाकार का कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् था और इसलिए दोनों की कृतियों को समझने-परखने में एक सुविधा थी। किन्तु जब दोनों व्यक्तित्वों का सम्मिलन होने लगा तो स्पष्टतः एक नया प्रश्न उपस्थित हो गया जिस पर नयी दृष्टि से विचार करने की अपेक्षा थी। यह प्रश्न तो उठाया गया किन्तु उस पर पूर्ण रूप से विवेचन नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि प्रश्न को उसके सभी आयामों में नहीं देखा जा सका। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवि, कवि और काव्यशास्त्री दोनों ही बनने का प्रयास करता था। वह प्रायः रीति-ग्रन्थ भी लिखता था और काव्य-रचना भी करता था। किन्तु इसे सभी स्वीकार करते हैं कि उसका काव्यशास्त्री का रूप गौण रूप ही था। वह या तो प्रधानतया कवि था या वह न कवि था और न आचार्य। कारण यह है कि उसकी साधना विषय को नहीं, विषय के मूर्तीकरण को, उसके काव्यकरण को प्रधान लक्ष्य मानती थी। इसलिए काव्यशास्त्र को उसकी यदि कोई देन है तो केवल इतनी कि उसकी रचनाओं में काव्य के विविध अंगों के उदाहरण मिल जाते हैं और कभी-कभी अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। ऐसा क्यों हुआ है, इसका वैज्ञानिक विवेचन आज तक नहीं हुआ।

यदि वर्तमान स्थिति की ओर देखें तो बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

आज कवि और आलोचक जिस रूप में एक हुए हैं, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। आज का कवि बिना आलोचना के एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। ऐसी अवस्था में जहाँ एक व्यक्ति कवि और आलोचक दोनों ही है, यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक ही है कि उसका प्रधान रूप कौन-सा है। व्यक्ति-विशेष को आधार बनाकर यह विवेचन करना तो सरल है लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि इस विवेचन के आधार-स्वरूप किसी सामान्य सिद्धान्त की स्थापना की जाय। इस दिशा में अभी कोई सही प्रयास नहीं हुआ।

जब एक ही व्यक्ति कवि और आलोचक दोनों के रूप में सामने आता है तो यह निर्णय करना अत्यन्त अनिवार्य है कि उसका प्रधान रूप कौन-सा है। इस निर्णय पर पहुँचने से बहुत से भ्रम और उलझनें दूर की जा सकेंगी। ऐसी स्थिति में होता यह है कि कुछ व्यक्ति तो प्रधानतः आलोचक होते हैं जो कवि बनने की धुन में बहक जाते हैं, कुछ मूलतः कवि होते हैं और स्वयं अपना दृष्टिकोण आलोचना के माध्यम से स्पष्ट करना ज्यादा ज़रूरी समझते हैं और कुछ न तो आलोचक होते हैं और न ही कवि। यही कारण है कि किसी स्पष्ट आधार के अभाव के कारण इनके प्रयासों को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर नहीं देखा जाता और कविता तथा आलोचना दोनों क्षेत्रों में अनाचार, उच्छृंखलता और असंगति का दौर-दौरा हो जाता है।

उपर्युक्त तीन वर्गों में से एक वर्ग के बारे में तो विवेचन करना अनावश्यक-सा है। जो न कवि हैं, न आलोचक, उनका निश्चय तो कोई भी जागरूक और सजग पाठक कर सकता है। आजकल इस प्रकार के काफ़ी लेखक पैदा हो गये हैं। किन्तु अन्य दोनों वर्गों का विवेचन होना चाहिए।

जब एक ही व्यक्ति रचना और आलोचना दोनों की सर्जना करता है तो या तो वह अपनी रचना में आलोचना को सिद्ध करता है या आलोचना में अपनी कविता की वकालत करता है। प्रथम प्रकार का व्यक्ति आलोचक तो है किन्तु कवि नहीं और दूसरा व्यक्ति कवि है मगर आलोचक नहीं। यह तो हो सकता है कि उक्त दोनों प्रकार के प्रयासों में रचना तथा आलोचना की विशेषताएँ उपलब्ध हों लेकिन इनसे हानि अधिक और लाभ कम होता है।

उदाहरण के लिए रामचन्द्र शुक्ल एक सफल आलोचक हैं। इसमें किसी भी अक्लमन्द आदमी को शक नहीं है। लेकिन उन्होंने जो 'बुद्धचरित' की रचना की वह यद्यपि उनके गम्भीर आलोचना-सिद्धान्तों की कसौटी पर खरा उतरता है, फिर भी वह काव्य के श्रेष्ठ रूप में नहीं आता। कारण यह है कि शुक्ल जी ने चाहे 'बुद्धचरित' में अपने आलोचनादर्शों को सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु इससे वह काव्य नहीं हो जाता।

आज हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें ऐसी ही विषमता

लक्षित होती है। और संकट यह है कि आज के ऐसे लेखक तो आलोचक भी नहीं हैं। उन्हें कुछ आलोचना-सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाता है उसे ही व्यक्त करते हैं और एक कृति को आलोचना कहते हैं, दूसरी को रचना। वस्तुतः न वह आलोचना है और न ही रचना। आलोचक या तथाकथित आलोचक जब भी रचना की ओर उन्मुख होगा तो वह निश्चित ही अपने मतों के आधार पर काव्य का रूप खड़ा करने की कोशिश करेगा। किन्तु इस प्रकार के प्रचारात्मक एवं नकली प्रयास से किसी को कोई लाभ नहीं होता, इस सत्य को मानने से वह इन्कार करता है। किन्तु उसे इस इन्कार से भी कोई फायदा नहीं होगा। हाँ, एक भ्रम का शीशमहल चाहे खड़ा हो जाय।

इसके विपरीत आज की अवस्था को देखते हुए बहुत-से प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने आलोचना लिखी है। यथार्थ के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस वर्ग के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आते हैं। इस वर्ग में आने वाले लेखकों के कारण जो उलझनें पैदा होती हैं उनका निरसन उतना आसान नहीं है। कारण यह है कि वे एक क्षेत्र में—रचना के क्षेत्र में तो प्रतिष्ठित हैं ही और इसलिए जब वह आलोचना के क्षेत्र में भी घुस पड़ते हैं तो वे जो कुछ कहते हैं उसे लोग जरा अधिक निष्ठा से देखते हैं। इस प्रकार रचना द्वारा अर्जित सम्मान के प्रभाव से उनकी आलोचना को भी कुछ गौरव मिलने लगता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उनकी आलोचनात्मक उपलब्धि की सीमाओं को सही-सही समझा जाय।

वस्तुतः ऐसी स्थिति में लेखक अपनी रुचि द्वारा ही परिचालित होते हैं और इसलिए एक ऐसा आलोचना-साहित्य भी हमारे सामने आता है जो विवेक पर नहीं, रुचि पर आधारित होता है। लेखक बिना व्यापक गम्भीर परीक्षण के ही अपने मत की व्याख्या तथा पुष्टि करने लगता है और आलोचना के सामान्य धरातल पर भी विशिष्ट रचना-पद्धति या धारा की वकालत करने लगता है। उनकी आलोचना को वस्तुतः उनकी रचना के परिप्रेक्ष्य में ही रखकर देखना चाहिए। उससे बाहर उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसी आलोचना में विशिष्ट रचनाकार या रचना-धारा की प्रवृत्तियों की व्याख्या या स्पष्टीकरण में आंशिक सहायता मिलने की सम्भावना हो सकती है किन्तु स्वस्थ-स्वतन्त्र आलोचना के विकास में वह बाधा बन जाती है और यही सबसे बड़ा ख़तरा है जिसका सामना आज हम कर रहे हैं। ऐसे लेखों में (वे लेख ही हैं, आलोचना नहीं) एक धारा विशेष की व्याख्या भर होती है और इतना ही नहीं, अन्य सब धाराओं का खण्डन एवं विरोध होता है। यह वकालत और खण्डन रुचि के आधार पर ही होता है, विवेक के आधार पर नहीं। इसीलिए इन लेखों में तर्क-पुष्ट निष्कर्षों के आधार पर मतों की अभि-

व्यक्ति ही अधिक होती है और इन मतों का आधार विशिष्ट रचना-धारा ही होती है। आज यह प्रयास अधिक संगठित-सम्मिलित रूप से भी करने की कोशिश की जा रही है। इससे चाहे कुछ लोगों को सस्ती मशहूरी भले ही मिल जाय लेकिन साहित्यिक विकास की स्वस्थ धारा अवश्य ही विकृत होगी।

रुचि के आधार पर आलोचना की रचना नहीं हो सकती। आलोचना का एकमात्र पुष्ट आधार विवेक है। मैं यह नहीं कहता कि रचनाकार जो आलोचना लिखते हैं, उनमें विवेक का अभाव होता है। लेकिन उनका विवेक रुचि पर आधृत होने के कारण एकांगी और अपूर्ण होता है और अन्य दृष्टियों के सम्यक् परीक्षण के बिना ही उनसे अरुचि के आधार पर उनका खण्डन किया जाता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाय कि आज के रचनाकार जो आलोचना लिख रहे हैं वह शुद्ध-पुष्ट आलोचना नहीं है। वह ऐकांतिक एवं एकांगी है। सजग और जागरूक चिन्तक वही कहलायेगा जो विशिष्ट रचना-धारा के धरातल पर स्थित इस तथाकथित आलोचना से भ्रमित नहीं होगा और उसकी सीमित उपयोगिता के भीतर रखकर ही उसे देखेगा। उनसे हानि होने की महान आशंका है इसलिए इन तथाकथित आलोचनाओं से सावधान रहने की आवश्यकता है।

रचना का धरातल विशिष्ट एवं सीमित है, आलोचना का धरातल सामान्य तथा असीम। इसलिए जो आलोचना को संकुचित प्रवृत्तियों में बाँधने का प्रयास कर रहे हैं उन्हें यह बात सोचनी चाहिए कि उनके प्रयासों से साहित्यिक चेतना का महान अपकार हो सकता है और हो रहा है। सजग, स्वस्थ, स्वतन्त्र दृष्टि ही इस बात को समझ सकती है और साहित्यिक विकास की धारा में निश्चित ही ऐसी दृष्टि का उन्मेष होता रहता है। रचनाकार आलोचना लिखते समय प्रधानतया बुद्धि या विवेक का सहारा नहीं लेते वरन् व्यक्तिगत रुचि को ही प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं। कुशल व्यक्ति यह कार्य इतने प्रच्छन्न रूप से करता है कि सामान्य पाठक भ्रमित हो जाता है। किन्तु जिसमें स्वतन्त्र रूप से सोचने की शक्ति है, जिसमें आत्म-विश्वास है, जो जीवन और अपनी रचनात्मक दृष्टि के प्रति आश्वस्त है, जिसका भाव-बोध दूषित नहीं है, जो स्वस्थ और आकर्षक आवरण को भेदकर विकृत और कुत्सित को परखने की शक्ति रखता है वह इस शक्तिशाली तथा प्रचारात्मक लेखन के बीच भी विवेक से विचलित नहीं होगा।

जिन प्रवृत्तियों को आधार बनाकर रचनाकार आलोचना करते हैं, उन्हें समझने में भी उन आलोचनाओं की उपयोगिता बहुत सीमित ही होती है। कारण यह है कि एक ओर तो अपनी रचना-धारा का अत्युक्तिपूर्ण स्तवन किया जाता है, दूसरी ओर भिन्न दृष्टियों का उपहास किया जाता है तथा

इस प्रकार बिना गम्भीर तर्क दिये हुए उग्र शब्दों में उनकी निन्दा करते हुए उनके विरुद्ध वातावरण तैयार करने की कोशिश की जाती है। स्पष्टतः इस प्रयास से जहाँ अन्य रचना-धाराओं के स्वरूप को समझना कठिन है, वहाँ गृहीत रचना-धारा के स्वरूप को सही-सही समझना भी मुश्किल है। और इस प्रकार साहित्य-सम्बन्धी सामान्य आलोचना के विकास में अवरोध पैदा हो जाता है।

मैं यह नहीं कहता कि रचनाकार को अपनी रचना या अपने विश्वास की वकालत करने का अधिकार नहीं है। अच्छा तो यही है कि यह काम आलोचक द्वारा ही किया जाय। किन्तु यदि रचनाकार स्वयं ही आत्म-व्याख्या करना चाहता है तो वह उस सीमा तक नहीं पहुँचनी चाहिए जहाँ वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आत्म-प्रशंसा बन जाय। अन्य सभी प्रवृत्तियों और साहित्यकारों की अवमानना के मूल में यही प्रवृत्ति लक्षित होती है जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। जब काम ईमानदारी के साथ नहीं किया जाता तो उसका विरोध होना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य ही है। ऐसी अवस्था में एकमात्र सहारा स्वतन्त्र-स्वस्थ दृष्टि है जिसकी ओर नवचेतना को उन्मुख होना चाहिए।

बौद्धिक अनुभव और कलात्मक अनुभव

डीवे के अनुसार बौद्धिक अनुभव और कलात्मक अनुभव में समानता है। आलोचना और रचना के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए इसका विश्लेषण अनिवार्य प्रतीत होता है। कारण यह है कि किसी रचनात्मक क्रिया में बौद्धिक प्रक्रिया कमोबेश पायी ही जाती है। यह तो हो सकता है कि कहीं बौद्धिक प्रक्रिया प्रधान और व्यापक रूप से उपलब्ध हो और कहीं वह सीमित एवं अंग रूप में हो। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में उसकी सत्ता तथा प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। जहाँ उसका रूप सीमित होता है वहाँ भी उसकी गम्भीरता और शक्ति का असर समूचे कार्य-व्यापार पर पड़ता है और इस रूप में उस समग्र कार्य की अनुभूति में बौद्धिक अनुभूति एक आधार-स्तम्भ के रूप में अवस्थित होती है।

उपर्युक्त विवेचन को पूर्णतः समझने के लिए यह मूल सत्य जान लेना ज़रूरी है कि रचनात्मक व्यापार में बौद्धिक तथा भावात्मक तत्त्व मिले-जुले होते हैं। और जब तक रचनात्मक चिन्तन उन सभी तत्त्वों को सम्बद्ध-समन्वित रूप में आत्मसात नहीं कर लेता तब तक रचनात्मक व्यापार की आविष्कृति नहीं होती। फलित व्यापार के स्वरूप को समझने के लिए रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण के अन्तर्गत विविध तत्त्वों की पृथक्-पृथक् अनुभूति और साक्षात्कार तथा उनके परस्पर सम्बन्धों के विश्लेषण का जो परवर्ती महत्त्वपूर्ण कार्य होता है उसकी लपेट में रचना की मूलभूत एकता एवं अन्विति का विस्मरण एक

घातक दोष होगा जो अवास्तविक समस्याओं एवं विवादों को जन्म देता हुआ दुरूहता और आक्रोश का प्रवर्त्तन करेगा ।

बौद्धिक अनुभव और कलात्मक अनुभव दो विरोधी अनुभव नहीं हैं। वस्तुतः कलात्मक अनुभव के अन्तर्गत बौद्धिक अनुभव भी एक तत्त्व के रूप में स्थित होता है । किन्तु ऐसे आलोचक और सौन्दर्यशास्त्री हुए हैं जो इन दोनों अनुभवों को दो जातियों का अनुभव मानते हैं और एक-दूसरे को परस्पर विरोध के या भिन्नता के स्तर पर परखने का आग्रह करते हैं । जान डीवे ने यथासम्भव मनोवैज्ञानिक आधार पर इन दोनों अनुभवों का विवेचन किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों में पर्याप्त समानता है ।

उनका तर्क इस प्रकार चलता है । किसी भी कार्य को जब सजग रूप से किया जाता है तो व्यक्ति उसके अन्तर्गत आनेवाली सभी रुकावटों को तथा सभी स्थितियों को समझता-परखता हुआ और कहीं उनसे बचता हुआ, कहीं उन्हें स्वीकारता हुआ चलता है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक जितने भी सोपान या ठहराव आते हैं वे एक लड़ी की कड़ी के समान परस्पर सम्बद्ध होते हैं । शुरू से आखिर तक एक अन्विति दिखायी देती है । जब काम शुरू किया जाता है तब कई ऐसी स्थितियों की ओर ध्यान नहीं जाता जो काम के दौरान में सामने आती हैं । उन सब स्थितियों को कार्य से सम्बद्ध करना तथा उन्हें कार्य के लिए उपयोगी बनाना अथवा उनका तिरस्कार करना ज़रूरी हो जाता है । इस प्रकार का कोई भी अनुभव, चाहे वह तर्कशास्त्र की पहेली के समाधान में हो, चाहे वह गणित की किसी जटिलता का खुलासा हो, डीवे के शब्दों में विशिष्ट अनुभव (एन एक्सपीरियेन्स) है । विशिष्ट अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह विविध तत्त्वों को स्वीकार करता हुआ चलता है और उसकी विविधता में भी एक क्रम या अन्विति का तत्त्व पाया जाता है। डीवे के अनुसार यह विशेषता एक इस्थैटिक विशेषता है। और इस रूप में कोई भी अनुभव इस्थैटिक अनुभव से समानता रखता है । कला की निर्मिति में भी यही ख़ूबी दिखायी देती है । एक कलाकृति के अनुभव में भी अनेक तत्त्वों का संश्लेष होना ज़रूरी है। और यह संश्लेष सजग साधना का परिणाम है । यही विशेषता हरेक अनुभव में पायी जाती है ।

किन्तु हम समझते हैं कि डीवे का यह विवेचन मान्य नहीं है। कारण यह है कि सवाल किन्हीं तत्त्वों की समानता का नहीं, सवाल तो यह है कि वे तत्त्व उस वस्तु या अनुभव में क्या महत्त्व रखते हैं । डीवे की यह मान्यता कि जिस कार्य में अन्विति हो तथा जिसमें विविध स्थितियों या सोपानों का संश्लेष है, वह इस्थैटिक विशेषता से युक्त है, वस्तुतः इस्थैटिक की अत्यन्त व्यापक परिभाषा पर आधारित है । यह विशेषता तो कुम्हार की कला में भी

है और सामान्य बढ़ई की कला में भी। तो क्या इस विशेषता के कारण उनको भी इस्थैटिक गुण से युक्त माना जा सकता है ?

इतना तो माना जा सकता है कि जहाँ तक चिन्तन, योजना तथा व्यवस्था का सवाल है बौद्धिक अनुभव और इस्थैटिक अनुभव दोनों में समानता है। लेकिन इस योजना और व्यवस्था को इस्थैटिक विशेषता मानना संगत नहीं प्रतीत होता।

बुनियादी सवाल तो यह है कि चिन्तन में अन्विति का क्या महत्त्व है और कला में अन्विति का क्या महत्त्व है ? यह तो स्पष्ट है कि दोनों में ही अन्विति प्रायः अनिवार्य समझी जाती है। प्रायः इसलिए कि आज एक ऐसी धारणा भी सामने आयी है जो कविता में अन्विति को अनिवार्य नहीं मानती। स्पष्टतः यह धारणा और डीवे का मत तो परस्पर विरोधी हैं। लेकिन जो लोग कला में अन्विति को अनिवार्य मानते हैं क्या वे कला में उसे वही स्थान प्रदान करने के लिए प्रस्तुत होंगे जो स्थान उसे चिन्तन में मिला है ? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। यद्यपि अन्विति कला के लिए अनिवार्य है किन्तु वह कला का प्राण-तत्त्व नहीं है। दूसरी ओर चिन्तन में अन्विति प्राण-तत्त्व ही है।

अगर ज़रा और गहराई में जाकर देखें तो चिन्तन की 'अन्विति' और कला की 'अन्विति' समानार्थक नहीं हैं। यहाँ अन्विति शब्द की व्युत्पत्ति की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इस लिहाज़ से तो अर्थ एक ही है। लेकिन एक प्रसंग में उसका जो अर्थ और जो अभिप्राय है, वह दूसरे प्रसंग में नहीं है। 'अन्विति' अवधारणा का महत्त्व तो उन तत्त्वों पर भी आधारित है जो अन्वित होते हैं। एक हायर सेकण्डरी के विद्यार्थी के निबन्ध की 'अन्विति' और आचार्य शुक्ल के निबन्ध की अन्विति समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से आलोचना की प्रक्रिया का एक पक्ष स्पष्ट होता है। वह यह कि अगर डीवे के मत को इस प्रसंग में रखकर देखा जाय तो वे आलोचना को भी इस्थैटिक विशेषता से युक्त मानेंगे। प्रस्तुत विवेचन के लिए एक विचारणीय मत होने के कारण ही इसकी चर्चा की गयी है।

आलोचना कला है या विज्ञान : अभी तक जो विवेचन किया जा चुका है उसके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जा सकता है।

कला शब्द बहु-अर्थक है। यहाँ कला शब्द का प्रयोग सुन्दर निर्मिति के लिए नहीं, वरन् व्यापार या अभ्यास के विशिष्ट रूप के लिए किया गया है। सभी व्यापार कला के अन्तर्गत नहीं आते। केवल वे व्यापार ही कला के अन्दर स्वीकार किये जा सकते हैं जिनमें सजगता एवं कुशलता दिखायी दे। यह हो सकता है कि सिद्ध कलाकार के लिए यह सजगता तथा कुशलता सहज ही बन जाय। लेकिन इस सहजता में भी सजगता और कुशलता को

परखा जा सकता है। क्या आलोचना में यह सजगता और कुशलता दिखायी देती है ?

इससे पहले कि हम इस सवाल का जवाब दें, विज्ञान के स्वरूप पर फिर विचार कर लेना चाहिए।

विज्ञान के तीन गुण प्रधान हैं : वस्तुपरकता, प्रयोगात्मकता और सामान्यता। वैज्ञानिक वस्तुओं का तटस्थ रूप से निरीक्षण करता है। इस निरीक्षण के व्यापार में वह प्रयोग का सहारा लेता है और यथासम्भव उसका प्रयास यह होता है कि उसका प्रत्येक निष्कर्ष प्रयोग पर आश्रित हो, जो बात वह कहे उसे प्रत्यक्ष रूप से देख-दिखाकर प्रमाणित किया जा सके। और यही कारण है कि विज्ञान के निष्कर्ष सामान्य निष्कर्ष हैं और वे सिद्धान्त प्रायः व्यक्ति, देश तथा काल की सीमाओं में नहीं बाँधे जा सकते।

इसके विपरीत कला विषयीगत, सूक्ष्म एवं प्रयोग से परे तथा विशिष्ट होती है। कलाकार वस्तु को नहीं, वस्तु के बोध को महत्त्व देता है। यह बोध वस्तु और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया का समन्वित रूप समझा जा सकता है। वह वस्तु को, जैसी कि वह है, देखता है, लेकिन साथ ही साथ वह उसे अपने सिद्धान्त तथा अपनी दृष्टि से रंगीन बनाकर भी देखता है। उसके लिए यह दूसरा पक्ष ही अधिक महत्त्व रखता है। यही कारण है कि कलाकार के बोध में ऐसे सूक्ष्म तत्त्व शामिल होते हैं जिनके कारण उसके कार्य-व्यापार को प्रयोगात्मक रीति पर प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। यह एक वस्तुपरक प्रक्रिया न होकर एक सूक्ष्म मानसिक प्रतिक्रिया है। यह सूक्ष्मता इसका ऐसा अभिन्न अंग है कि उससे रहित अवस्था में वह पकड़ में ही नहीं आ सकती। और इसका फल यह होता है कि कला सदैव विशिष्ट होती है। यह नहीं कि मैं साधारणीकरण को नहीं मानता या कला के सामान्य मूल्यों की उपेक्षा करता हूँ। लेकिन निर्मिति की दृष्टि से कला विशिष्ट ही हुआ करती है। उस पर व्यक्ति इस प्रकार छाया होता है कि उसे व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। कला की विशिष्टता उसका एक प्रधान तत्त्व है।

यही कारण है कि कभी दो सधे कलाकारों की कला समान नहीं होती, हो ही नहीं सकती। कला का स्रोत उसका व्यक्तित्व ही है और दो व्यक्तित्व एक-से होते नहीं। यही वजह है कि कला अनुकृति भी नहीं है। चिन्तन के आदिम युग के विचारक ने अगर कला में अनुकरण को स्वीकार किया है तो वह एक बड़े स्थूल और मोटे धरातल पर ही। उसमें चिन्तन की सूक्ष्मता का अभाव है, कला के व्यक्तित्व के अन्तरंग तत्त्व में झाँकने की असमर्थता है। अनुकृति और विशिष्टता परस्पर-विरोधी हैं और एक-दूसरे का निषेध करते हैं। दरअसल कला विशिष्ट ही होती है।

इस दृष्टि के आधार पर आलोचना पर विचार किया जा सकता है। आलोचना कोई एकरूप साधना नहीं है। उसके कई रूप हैं और प्रत्येक रूप का अपना अस्तित्व है, अपनी दृष्टि और अपनी सीमाएँ हैं। इसलिए सामान्य आलोचना के नाम से कोई अवधारणा पैदा ही नहीं होती।

आलोचना के दो रूप साफ़ हैं। एक वह जो साहित्य पर आश्रित है और एक वह जो जीवन पर आश्रित है। सैद्धान्तिक आलोचना प्रधानतः पहले प्रकार की आलोचना है। इसकी दृष्टि विज्ञान के निकट पड़ती है। विविध काव्य-रूपों का अध्ययन कर उनके समान तत्त्वों के उद्‌घाटन के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना ही इसका उद्देश्य है। इसलिए इस आलोचना में विज्ञान की-सी प्रक्रिया दिखायी देती है।

दूसरे रूप में आलोचना जीवन पर आधारित है। यहाँ आलोचक साहित्य को जीवन के व्यापक परिवेश में रखकर देखता है। साहित्य तथा जीवन के प्रसंग में ही उसकी दृष्टि काम करती है। यहाँ जितना महत्त्व साहित्य तथा जीवन का है उतना ही महत्त्व दृष्टि का भी है। आलोचना के इस रूप पर आलोचक का व्यक्तित्व छाया रहता है और इस प्रकार यह प्रकार आलोचक के व्यक्तित्व और साहित्य तथा जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस रूप में आलोचना कला के निकट पड़ती है। इसमें कला के तीनों गुण—विषयपरकता, सूक्ष्मता और विशिष्टता पाये जाते हैं। एक ही रचना पर विविध आलोचकों की आलोचना देखने से यह प्रमाणित हो जाता है।

यद्यपि हमने आलोचना के विविध रूपों और प्रकारों की चर्चा की है, फिर भी यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि आलोचना के ये विविध रूप परस्पर मिलकर भी कार्य कर सकते हैं और करते हैं। आलोचनात्मक निबन्धों तथा प्रबन्धों में सिद्धान्त-निर्माण के साथ-साथ व्याख्या एवं मूल्यांकन की कोशिश भी रहती ही है। लेकिन इस तथ्य से उपर्युक्त विवेचन की संगति पर कोई असर नहीं पड़ता।

आलोचना के इस मिश्र रूप के आधार पर ही आलोचना और कला का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। कला में जहाँ मूलतः एक ही दृष्टि—विशिष्ट एवं व्यक्तिगत—काम करती है, वहाँ आलोचना में दोनों दृष्टियाँ कार्य करती हैं और कभी-कभी मिलकर करती हैं।

आलोचक और कवि : प्राचीन काल में प्रायः आलोचक और कवि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुआ करते थे। इसका कारण यह है कि आलोचना अपने आरम्भिक रूप में वैज्ञानिक रही है। उस युग का आलोचक काव्य के विविध रूपों का अध्ययन करने के उपरान्त ही उनके सम्बन्ध में कोई मत निश्चित करता था तथा सिद्धान्त बनाने का प्रयास करता था।

लेकिन आधुनिक युग में आलोचक और कवि में वह पार्थक्य नहीं रहा। ऐसे कई व्यक्ति हुए हैं जो कवि एवं आलोचक दोनों ही हैं। ऐसी स्थिति में तीन ही विकल्प हो सकते हैं। या तो वे व्यक्ति प्रधानतया आलोचक होते हैं, या वे प्रधानतया कवि होते हैं अथवा वे प्रधानतया कुछ भी नहीं होते।

यदि वे व्यक्ति प्रधान रूप से आलोचक हैं तो स्पष्ट है कि वे अपनी काव्य-साधना में अपनी आलोचना को रूप देने का प्रयास करेंगे। ऐसा हुआ भी है। रामचन्द्र शुक्ल प्रधानतया आलोचक थे। उन्होंने 'बुद्धचरित' काव्य की रचना की। यद्यपि इस काव्य में उनके सभी आलोचना-सिद्धान्तों को मूर्त रूप देने का प्रयास किया गया है, तो भी यह काव्य सफल नहीं हो सका। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनके आलोचनादर्श ग़लत थे। इससे यही साबित होता है कि उनकी शक्ति आलोचना की दिशा में जितनी प्रबुद्ध रूप से अग्रसर हुई है, साहित्य-रचना की दिशा में उतनी सृजनात्मक रूप से अग्रसर नहीं हुई। सफल आलोचक होने से ही कोई सफल कवि नहीं हो जाता।

यदि वे व्यक्ति प्रधान रूप से कवि हैं तो उनकी आलोचनाओं में उनकी काव्य-दृष्टि की व्याख्या ही उपलब्ध होती है। चाहे वे कितने ही तटस्थ होकर क्यों न आलोचना करें, फिर भी अपनी काव्य-धारा की विरोधी काव्य-धारा के प्रति वे उतनी उदार-दृष्टि नहीं रख सकते जितनी कि एक आलोचक को रखनी चाहिए। इसलिए उनकी आलोचनात्मक उपलब्धि शुद्ध आलोचना की दृष्टि से सीमित ही समझनी चाहिए। इधर नयी कविता, और नयी कहानी के साथ-साथ नयी आलोचना का भी प्रवर्तन हुआ है। यह नयी आलोचना उन्हीं सीमाओं से ग्रस्त है जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। ये कवि अपनी काव्य-दृष्टि की व्याख्या एवं स्थापना की झोंक में समस्त प्राचीन को अस्वीकार करने की घोषणा करते हैं। यह आलोचना विशिष्टता एवं व्यक्तिपरकता के भार से अधिक आक्रान्त रहती है। ऐसा भी नहीं है कि इस आलोचना की कोई उपयोगिता ही नहीं है। इसकी उपयोगिता है उन कवियों की अपनी काव्य-दृष्टि तथा जीवन-दृष्टि के प्रसंग में। वह उनके काव्य की आलोचनात्मक व्याख्या—प्रत्यक्ष या परोक्ष—अधिक है और आलोचना कम।

(ङ) व्याख्यात्मक आलोचना

अस्पष्ट एवं दुरूह तथ्यों को स्पष्ट एवं सरल रूप से व्यक्त करना व्याख्या कहलाता है। साहित्य एक संसृष्टि है। इतिहास, नीति, मनोविज्ञान, समाज आदि के अनेक क्षेत्रों में उसकी सीमाएँ व्याप्त हैं। जैसे-जैसे जीवन एवं संस्कृति के स्वरूप एवं विकास के विषय में नये आयामों का उद्घाटन हो रहा है वैसे ही वैसे जीवन से सम्बद्ध सभी साधनाओं के भी नये पहलुओं पर रोशनी पड़ रही है। उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में

साहित्य को प्रायः सामान्य चेतन धरातल पर ही रखकर देखा जाता था। कारण यह था कि तब तक जीवन के चेतन पहलू का ही ज्ञान था। लेकिन जब जीवन में उपचेतन और अचेतन के तत्त्वों की जानकारी हुई तो विद्वानों ने इस दिशा की ओर भी सोचने का प्रयास किया कि इन नवीन तत्त्वों का साहित्य-रचना में क्या हाथ है। इस प्रकार साहित्य को एक नयी नज़र से देखने का प्रयास किया गया।

साहित्य से सम्बद्ध विविध ज्ञान-साधनाओं के विद्वानों ने अपनी-अपनी विशिष्ट दृष्टि से साहित्य को देखकर समझने-समझाने का प्रयास किया है। इस प्रकार विविध विशिष्ट दृष्टियों ने साहित्य के विविध पहलुओं को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता दी है। अतः ये सब दृष्टियाँ व्याख्यात्मक आलोचना के मूल में कार्य करती दिखायी देती हैं। इन दृष्टियों के अनुसार ही व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप निर्धारित होता है।

यह सवाल हो सकता है कि कौन-कौन-सी विविध दृष्टियों से साहित्य की व्याख्या की जा सकती है ?

इसका उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य को उसके सभी प्रसंगों में रखकर देखना पड़ेगा।

सबसे पहले इस सत्य की ओर ध्यान जाता है कि साहित्य की निर्मिति मनुष्य द्वारा होती है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए मनुष्य के निर्माण में समाज का बहुत गहरा हाथ रहता है और यह साफ़ है कि उसके सभी कार्य-व्यापार—चाहे वे महत्त्वपूर्ण हों चाहे न हों—किसी-न-किसी रूप में समाज द्वारा मर्यादित होते हैं। उनका छोर कहीं-न-कहीं समाज में दिखायी देता है। साहित्य को इस सामाजिक परिवेश में रखकर देखने का प्रयास करने वाली आलोचना को सामाजिक आलोचना कहा जाता है।

इससे सामाजिक आलोचना की मूल दृष्टि का परिचय मिलता है। लेकिन यहीं से और सवाल पैदा होते हैं। पहला सवाल तो यही है कि समाज क्या है तथा सामाजिक जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व कौन-सा है ? इस प्रश्न के उत्तर के अनुरूप ही सामाजिक आलोचना के रूप में भी भेद हो जायगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात है सामाजिक विकास के सत्य की स्वीकृति। किसी भी एक युग का समाज अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं होता, उसके पीछे अपनी एक परम्परा होती है—सांस्कृतिक परम्परा भी और साहित्यिक परम्परा भी। युगीन समाज को इस परम्परा से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसा सत्य है जिसे सभी मानवीय विषयों के अध्ययन में

स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि को ऐतिहासिक दृष्टि कहा जाता है और जब आलोचना इसका सहारा लेती है तो ऐतिहासिक आलोचना कहलाती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक आलोचना और ऐतिहासिक आलोचना दो भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ नहीं हैं। कारण स्पष्ट है। दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं तथा एक ही वस्तु को दो सम्बद्ध दृष्टियों से देखने के प्रयास के परिणाम हैं। क्या ऐतिहासिक आलोचना सामाजिक—समाजाश्रित—नहीं होती ? स्पष्टतः होती है। क्या सामाजिक आलोचना ऐतिहासिक दृष्टि के उपयोग के अभाव में पूर्ण कही जा सकती है ? स्पष्टतः नहीं कही जा सकती। इसलिए जो लोग सामाजिक और ऐतिहासिक आलोचना को अलग-अलग प्रकार की आलोचनाएँ मानते हैं वे सम्भवतः इन दोनों के आधारों की गहराइयों में आने की कोशिश नहीं करते। तेन अथवा मार्क्स ने साहित्य की जो ऐतिहासिक व्याख्या की है वह सामाजिक जीवन को पूरी तरह से स्वीकार करती है।

उपर्युक्त दोनों आलोचनाओं के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार की आलोचना का उल्लेख भी किया जाता है। इसे नैतिक आलोचना कहा जाता है तथा कुछ लोग इसे सामाजिक तथा ऐतिहासिक आलोचना से भिन्न प्रकार की आलोचना मानते हैं। अगर ध्यान से देखा जाय तो यह मान्यता भी वैसी ही असंगत है जैसी कि उपर्युक्त मान्यता जिसमें सामाजिक तथा ऐतिहासिक आलोचना को दो अलग-अलग प्रकार माना जाता है।

सामाजिक, ऐतिहासिक और नैतिक इन तीनों शब्दों में से सामाजिक शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। इसलिए इन तीनों आलोचनाओं को सामाजिक आलोचना के अन्तर्गत ही शामिल किया गया है। अभिन्न रूप से सम्बद्ध होने की वजह से इन तीनों का एक साथ विवेचन करने पर ही सभी समस्याएँ सुलझायी जा सकेंगी।

समाज के बाद साहित्य के विवेचन में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है व्यक्ति। साहित्यकार का अपना जीवन साहित्य को प्रभावित करता है। साहित्य वस्तुतः साहित्यकार की साधना का फल होने के कारण उसके जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। यह सत्य साहित्य की व्याख्या के लिए एक नयी दृष्टि उपस्थित करता है जिसे जीवन-चरितात्मक दृष्टि कहा जा सकता है। इस दृष्टि को आधार बनाकर चलने वाली आलोचना जीवन-चरितात्मक आलोचना कही जाती है। सेन्ट ब्यव ने साहित्य की व्याख्या की जीवन-चरितात्मक पद्धति को गम्भीर रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

मनोविश्लेषण-शास्त्र के विकास ने साहित्यिक व्याख्या के लिए एक नयी दृष्टि उपस्थित की। जीवन-चरितात्मक पद्धति में तो जीवन के सामान्य धरातल

को ही स्वीकार किया गया था लेकिन इस दृष्टि ने जीवन के सूक्ष्म स्तरों पर उतरने की सुविधा प्रदान की, उपचेतन तथा अचेतन की ग्रन्थियों के सत्य की ओर संकेत किया। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य की व्याख्या में उपचेतन और अचेतन की अवधारणाओं का उपयोग होने लगा और मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषक आलोचना का उदय हुआ। मनोवैज्ञानिक शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। इसलिए आलोचना के इस रूप को मनोविश्लेषक आलोचना न कहकर मनोवैज्ञानिक आलोचना ही कहा जाता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की व्याख्याओं में तो साहित्य को किसी दूसरे के परिवेश में रखकर देखने का प्रयास किया जाता है। किन्तु यह सवाल हो सकता है कि क्या इन व्याख्याओं के बाद साहित्य का कोई भी तत्त्व अछूता नहीं रह जाता ? क्या सामाजिक, जीवन-चरितात्मक और मनोविश्लेषक दृष्टियाँ साहित्य के सभी पक्षों को स्पष्ट करने में समर्थ हैं ? आज के अधिकांश आलोचक ऐसा नहीं मानते। साहित्य का अपना एक विशिष्ट रूप होता है जिसमें भाषा और जीवन की सामग्री का उपयोग होता है। उपर्युक्त व्याख्याओं के बाद भी इस रूप की व्याख्या शेष रह जाती है और आलोचना का वह प्रकार जो इस रूप की व्याख्या को प्रधान मानता है रूपात्मक आलोचना कहलाता है।

इधर परिचय में एक नयी प्रकार की आलोचना का जन्म हुआ है जिसे प्रारूपात्मक आलोचना (आर्किटाइप क्रिटिसिज़्म) कहा जाता है जिसमें साहित्य में आयी हुई नयी घटनाओं को पुरा-कथाओं की पृष्ठभूमि पर रखकर देखने का प्रयास किया जाता है।

१. सामाजिक आलोचना

यहाँ सामाजिक आलोचना को व्यापक रूप में स्वीकार करना चाहिए। समाज के व्यापक रूप के अन्तर्गत इतिहास और नैतिकता दोनों का ही समावेश है। समाज अपने किसी विशिष्ट युग में ही पूर्ण नहीं होता। उसके पीछे एक परम्परा होती है और उसके आगे एक सम्भावना। बिना इस परम्परा और सम्भावना को समझे हुए युगीन समाज को समझना नामुमकिन है। सच तो यह है कि जब भी कोई व्यक्ति समाज को पूरी तरह से समझने की कोशिश करेगा तो उससे परम्परा और सम्भावना की उपेक्षा करते नहीं बनेगा। इसीलिए ऐतिहासिक तथा नैतिक आलोचना को भी सामाजिक आलोचना के ही दो पक्षों के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

सामाजिक आलोचना के स्वरूप पर विचार करने से पहले कुछ बुनियादी सवालों पर विचार करना ज़रूरी है।

सबसे पहला सवाल तो यह है कि समाज क्या है ? तथा सामाजिकता के अन्तर्गत किन-किन तत्त्वों को शामिल किया जाता है ?

पहले पक्ष का तो जवाब आसान है। मनुष्यों का संगठित समूह ही समाज है। इसलिए समाज को समझने के लिए संगठन के स्वरूप को समझना बहुत ज़रूरी है।

अब सवाल यह रह जाता है कि सामाजिकता का अर्थ क्या है ?

सामाजिकता का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक अर्थ तो वह है जिसका प्रयोग हम सामाजिक रीति-रिवाजों के—विवाह आदि संस्कारों, वर्गों, वर्णों, पेशों आदि के—अर्थ में करते हैं। यह सामाजिकता का सीमित अर्थ है।

दूसरा अर्थ वह है जिसमें जीवन के सभी पहलू, जीवन के सारे धरातल शामिल कर लिये जाते हैं। इस अर्थ में समाज का जीवन सांस्कृतिक जीवन का रूप ग्रहण कर लेता है। इस व्यापक अर्थ में समाज के रीति-रिवाज, राजनीतिक परिस्थितियाँ, धार्मिक-दार्शनिक चेतना आदि सभी समाहित हैं। इस व्यापक अर्थ में 'सांस्कृतिक जीवन' का प्रयोग किया जाएगा।

जैसे ही हम यह कहते हैं कि समाज व्यक्तियों का संगठित समूह है, तो हमारे सामने यह बुनियादी सवाल पैदा होता है कि व्यक्ति और समाज का क्या रिश्ता है ?

यह सवाल जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही मुश्किल भी। अगर गहराई में जाकर देखें तो इस सवाल की जड़ें इच्छा की स्वाधीनता की समस्या में हैं। क्या व्यक्ति की इच्छा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? क्या व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों का फल है या उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है ? क्या वह आस-पास के जीवन से पूरी तरह ऊपर उठकर कार्य करता है ?

इस सवाल के दो जवाब हैं। एक तो यह कि व्यक्ति की इच्छा पूरी तरह से आज़ाद है और दूसरा यह कि व्यक्ति पूरी तरह से अपनी परिस्थितियों का ग़ुलाम है। दोनों ही मतों के पास अपने-अपने तर्क हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है। अगर यह माना जाय कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियों का दास है तो इसका नतीजा यह होगा कि हम किसी भी आदमी को उसकी बुराई के लिए ज़िम्मेवार नहीं ठहरा सकते। जब यह एक प्राकृतिक नियम है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व अपने आप में कुछ है ही नहीं और वह वैसा ही रूप ग्रहण करता है जैसी उसकी परिस्थितियाँ होती हैं तो यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति की बुराइयों की ज़िम्मेवारी उस पर नहीं, उसकी परिस्थितियों पर है। इसकी संगत-तार्किक परिणति इस स्थिति में होगी जहाँ दण्ड के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा और जहाँ किसी भी बुराई के लिए व्यक्ति को दण्डित करना अन्याय होगा। और इस प्रकार सारी सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा ही बदल जायेगा। यदि हम इस स्थिति से बचना चाहें तो व्यक्ति को स्वाधीनता प्रदान करनी होगी।

इच्छा की स्वतन्त्रता के पक्ष में एक दूसरा तर्क भी दिया जा सकता है। यह सभी मानते हैं कि जानवर अपनी प्रकृति या स्वभाव के दास होते हैं। उनकी इच्छा परतन्त्र है और विवेक अल्प है। यही कारण है कि एक वर्ग के जानवरों में बुनियादी तौर पर समानता पायी जाती है। लेकिन मनुष्य के प्रसंग में ऐसा नहीं है। जितने मनुष्य हैं उतने ही स्वभाव हैं। ऐसे दो मनुष्य मिलना बहुत मुश्किल है जिनके स्वभाव बिलकुल एक-से हों। इससे क्या साबित होता है? यही कि आदमी अपने स्वभाव का दास नहीं है। उसमें कर्म करने की, बाहरी परिस्थितियों के प्रति क्रियाशील होने की आज़ादी है। उसके स्वभाव में ही कोई ऐसा तत्त्व मौजूद है जो उसे अनेकरूपता प्रदान करता है। और इस तथ्य की संगति के लिए यह मानना ज़रूरी है कि व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है।

इसके ख़िलाफ़ जो लोग व्यक्ति को पूरी तरह से परिस्थितियों द्वारा नियन्त्रित मानते हैं, उनका यह कहना है कि व्यक्ति और व्यक्ति में जो भिन्नता पायी जाती है इसका कारण उसकी स्वभावगत स्वतन्त्रता नहीं वरन् परिस्थितियों की भिन्नता है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज के बीच रहता है। उसके चारों ओर जीवन का एक घेरा होता है और वह घेरा उसकी चेतना को प्रभावित करता है। उस घेरे में जो भी हलचल होती है वह अपने स्वरूप के अनुसार व्यक्ति की चेतना पर अपना निशान छोड़ जाती है। और ये निशान ही व्यक्ति को 'व्यक्तित्व' देते हैं। अगर दुनिया में हमें अलग-अलग व्यक्तित्व वाले लोग दिखायी देते हैं तो उसका कारण यही है कि जिन परिस्थितियों में वे जन्म से पले और बढ़े हैं वे परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं। परिस्थितियों की भिन्नता के कारण यही वह व्यक्तित्व-भेद दिखायी देता है। इसलिए व्यक्ति पूरी तरह से परिस्थितियों का दास है।

एक बात तो साफ़ है। इससे कोई भी इन्कार नहीं करता कि व्यक्ति की परिस्थितियाँ उसके जीवन पर पूरा-पूरा असर डालती हैं। आज की मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर यह बात साबित हो चुकी है। लेकिन यह मान्यता कि व्यक्ति का जीवन पूरी तरह परिस्थितियों से प्रभावित है आज भी बहुत-से लोगों को मान्य नहीं है और वे बड़े आग्रह के साथ इच्छा की आज़ादी का नारा लगाते हैं।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की समस्या पर एक नयी दृष्टि से भी विचार करने की ज़रूरत है।

क्या व्यक्ति और समाज दो बिलकुल अलग-अलग इकाइयाँ हैं? क्या व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दो बिलकुल अलग-अलग तत्त्व हैं? स्पष्टतः नहीं। ऊपर जिन विरोधी मतों की चर्चा की गयी है उनके उलझाव

का एक बड़ा कारण यही है कि वहाँ इन दोनों को दो अलग-अलग इकाइयाँ मान लिया जाता है और फिर दोनों के सम्बन्ध पर इस तरह विचार किया जाता है जैसे कि हम दो जड़ वस्तुओं—पत्थर और पहाड़ या ईंट और मकान के सम्बन्ध पर विचार कर रहे हैं। इस जड़ अलगाव के धरातल पर स्थित होकर गतिशील चैतन्य की समस्या पर विचार नहीं किया जा सकता। इस सवाल को सोचने के लिए हमें एक सही दृष्टि अपनानी पड़ेगी। और सही दृष्टि यही है कि व्यक्ति और समाज असलियत में एक ही सत्ता को दो छोरों से देखने के प्रयास से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में अलगाव दृष्टि के दो छोरों में है, जीवन में नहीं।

इस सही दृष्टि को समझ लेने के बाद ही हम जन्म से ही समाज और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया को साफ़-साफ़ देख सकते हैं। व्यक्ति सजग और चेतन है। उसकी परिस्थितियाँ सजग और चेतन भी हैं तथा जड़ भी। परिस्थितियों का प्रभाव होता है और व्यक्ति की प्रतिक्रिया होती है। परिस्थितियाँ क्रियात्मक हैं और व्यक्ति प्रतिक्रियात्मक। इस प्रकार जन्म से ही समाज व्यक्ति की चेतना में धीरे-धीरे रिसने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति प्रतिक्रियात्मक है क्योंकि वह चेतन तो है मगर सजग नहीं। यह सम्बन्ध एक सीमा तक चलता रहता है।

फिर एक स्थिति वह आ जाती है जब समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध के स्वरूप में परिवर्तन आने लगता है। इस सीमा पर समाज केवल क्रियात्मक नहीं रहता और व्यक्ति केवल प्रतिक्रियात्मक नहीं रहता। बल्कि व्यक्ति क्रियात्मक भी होने लगता है और समाज में उसकी प्रतिक्रिया भी होने लगती है। इस प्रकार आरम्भ में व्यक्तित्व क्रियात्मक समाज और प्रतिक्रियात्मक व्यक्ति का समन्वित रूप होता है। कुछ समय के बाद व्यक्तित्व क्रियात्मक बनने लगता है और समाज में उसकी प्रतिक्रिया होती है। इस अवस्था में पहले व्यापार—समाज की क्रियात्मकता और व्यक्ति की प्रतिक्रियात्मकता—भी चलते रहते हैं मगर साथ ही ये नये व्यापार भी चल निकलते हैं जो व्यापारों की विपरीत दिशा में गतिमान होते हैं। इसमें इतनी बात और समझ लेनी चाहिए कि दूसरे वर्ग के व्यापारों का आधार व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व में जितना प्रभाव और जितनी शक्ति है उसके अनुरूप ही समाज में प्रतिक्रिया होगी।

सजग सक्रियता प्रौढ़ व्यक्ति का प्रधान गुण है। यह सजग सक्रियता व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती है। गहराई से देखें तो व्यक्ति का व्यक्तित्व व्यक्ति का नहीं, उसकी सामाजिकता का होता है। व्यक्ति जितना अधिक सजग, उदार और सक्रिय होगा सामाजिकता का अंश उतना ही अधिक होगा। इस दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि व्यक्ति सामाजिकता का माध्यम

है, उसका वाहक है। सामाजिकता का रूप चाहे जो भी हो, इसके विवाद में पड़ने का अवकाश नहीं है। लेकिन यह सच है कि जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व जितनी व्यापक सामाजिकता का वाहक होता है वह उतना ही 'बड़ा' व्यक्ति माना जाता है।

'व्यक्ति सामाजिकता का माध्यम है' यह मानने का यह मतलब नहीं कि उसमें व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है। उसमें अपना प्यार और नफ़रत दोनों ही हैं, वह अपनी प्राकृतिक आकांक्षाओं की तृप्ति करता है। लेकिन इसे हम व्यक्तित्व का बहुत गौण पक्ष समझते हैं। जिसमें यह जितना प्रधान होता है, वह व्यक्ति उतना ही छोटा होता है।

व्यक्ति को सजग सक्रियता के परिवेश में रखकर ही उसकी रचना को समझने की कोशिश करनी चाहिए। इस दृष्टि से साहित्य साहित्यकार के व्यक्ति की सामाजिकता के दायरे के अन्तर्गत आता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि साहित्यकार के व्यक्तित्व की निजी रुचि और आकांक्षा का इसमें हाथ नहीं होता। ये तो व्यक्तित्व के भीतर शामिल ही हैं।

साहित्य की सत्ता केवल रचनात्मक ही नहीं है। वह प्रभावात्मक भी है। रचनात्मकता और प्रभावात्मकता ये साहित्य के दो जुज़ हैं, उसके दो पहलू हैं। इन दोनों में से किसी एक की उपेक्षा करने का मतलब होगा साहित्य के व्यक्तित्व की पूर्णता की उपेक्षा। इससे साहित्य का अधूरा और कभी-कभी विकृत रूप ही सामने आता है और इससे चिन्तन के वातावरण में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। इस असन्तुलन से बचने का यही एक तरीका है कि साहित्य को रचनात्मक-प्रभावात्मक रूप में देखा जाय। इस बात की अधिक व्याख्या की ज़रूरत है।

रचनात्मकता का सम्बन्ध साहित्यकार के व्यक्तित्व के साथ है और प्रभावात्मकता का पाठक-वर्ग या समाज के साथ। अतः एक में व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता है, दूसरे में सामाजिकता पर बल है। क्या ये दोनों पक्ष तत्त्वतः भिन्न हैं?

ऐसी बात नहीं है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, व्यक्ति की निर्मिति में वातावरण और वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आरम्भ से ही व्यक्ति-चेतना वातावरण के प्रभाव को ग्रहण करती रहती है। इसी रूप में व्यक्ति को वातावरण का माध्यम या वाहक कहा गया है। मगर व्यक्ति के विकास में एक स्थिति ऐसी भी आती है जबकि व्यक्ति वातावरण को सहज रूप से नहीं, सजग रूप से ग्रहण करता है। इस ग्रहण में वस्तुपरकता के साथ-साथ व्यक्तिपरकता भी मिली हुई है। इस ग्रहण का रूप वातावरण द्वारा ही नियन्त्रित नहीं होता वरन् व्यक्ति द्वारा भी प्रभावित होता है।

व्यक्ति अपनी रुचि और दृष्टि के अनुसार ही व्यापक सामाजिक बोध के कुछ तत्त्वों को ग्रहण करता है, उन्हें अपने अनुसार देखता हुआ उन पर सोच-विचार करता है और फिर उन्हें स्वीकारता या अस्वीकारता है। व्यक्तित्व के विकास के किस बिन्दु पर ऐसा होना शुरू होता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

तो ऐसा व्यक्तित्व है जो साहित्य को जन्म देता है। यह व्यक्तित्व वातावरण का वाहक होता हुआ भी एक ख़ास व्यक्तित्व हो सकता है क्योंकि वह वातावरण के प्रति एक ख़ास रुख रख सकता है। इसी से साहित्य का रचनात्मक पक्ष सम्बद्ध है। इस प्रकार रचनात्मकता एक दृष्टि से व्यक्तिमूलक होती हुई भी दूसरी दृष्टि से समाजमूलक होती है। और इसलिए साहित्य भी अपनी रचनात्मकता में विशिष्ट प्रकार की सामाजिकता का माध्यम या वाहक सिद्ध होता है।

साहित्य का प्रभावात्मक पक्ष उसी सामाजिकता द्वारा शासित होता है। इस बात को न तो झुठलाया जा सकता है और न ही अस्वीकारा जा सकता है। रचनात्मकता तक ही साहित्य की सत्ता की इयत्ता नहीं है। जो केवल यहीं तक साहित्य की सत्ता मानते हैं वे अधूरी बात को ही पूरी मान बैठते हैं। जब एक रचना, निर्मिति के बाद समाज के बाज़ार में आती है तो यह भी उसके जीवन का ही एक पक्ष होता है। साहित्य की कहानी रचना के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती। इस कहानी का दूसरा दौर तो सामाजिकता के बाज़ार में शुरू होता है। कुछ व्यक्ति इसे चाहे अस्वीकार करने की कोशिश करें, समाज और इतिहास उसे हमेशा से स्वीकार करता आया है और करता रहेगा। उन व्यक्तियों के विरोधी प्रयास समाज और इतिहास की धारा में डूबते रहे हैं।

साहित्य जीवन के उस चरण की उपलब्धि है जब व्यक्ति क्रियात्मक और समाज प्रतिक्रियात्मक भी हो जाता है। इसलिए साहित्य को व्यक्ति के क्रियात्मक अंश में स्वीकृत किया जाता है। साहित्य की क्रियात्मकता जिस सामाजिक प्रतिक्रिया को जन्म देती है, वह साहित्य की ताक़त या कमज़ोरी की व्यंजक हुआ करती है। क्रिया की शक्ति प्रतिक्रिया की शक्ति के बराबर हुआ करती है। और ऐसी स्थिति में जब कि क्रिया की शक्ति को नापने के लिए कोई सीधा तरीका नहीं है, प्रतिक्रिया की ताक़त के सहारे क्रिया की शक्ति का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

यह मत कि साहित्य ऐसी साधना है जिसकी सिद्धि साहित्यकार की चेतना में ही हो जाती है और साहित्यकार के बाहर के वातावरण या समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, धार्मिक-दार्शनिक साधना की उस धारा का

साहित्यिक प्रतिरूप-सा माना जा सकता है जिसे हठयोग कहते हैं। हठयोग की-सी रहस्यात्मकता और गुह्यता इस मत के विवेचन में पायी जाती है। कुछ मूल धारणाओं के आधार पर यह मत स्थित है। उन धारणाओं को सहज सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है और फिर तर्क का सहारा लेकर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। असल बात तो यह है कि मूल धारणाएँ ही असंगत होती हैं और इसलिए इस बुनियादी धरातल पर ही ऐसे मतों का खण्डन किया जाना चाहिए। साहित्य का रचनात्मक-प्रभावात्मक रूप ही उसका बुनियादी रूप है और कोई भी सन्तुलित आलोचना सिद्धान्त इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

यदि सांस्कृतिक विकास के परिवेश में रखकर साहित्य को देखा जाय तो साहित्य का सही रूप स्पष्ट हो जायेगा। साहित्य चाहे अपने युग-जीवन के कितने ही विरोध में जन्म ले, चाहे वह कितना ही ऐकान्तिक और एकपक्षीय क्यों न हो उसका अपना एक ऐतिहासिक रोल होता है। यह बात चाहे समसामयिक काल में पूर्ण रूप से स्वीकार्य न हो, लेकिन परवर्ती काल में जब उस काल का इतिहास लिखा जाता है तो यह सत्य सहज के रूप में स्वीकृत होता है। इसलिए यदि सांस्कृतिक विकास-संक्रान्ति और द्वन्द्व तथा परम्परा और प्रयोग के परिवेश में रखकर साहित्य का विवेचन किया जाय तो साहित्य के वास्तविक स्वरूप की जानकारी में आसानी होगी।

प्रस्तुत प्रयास के लिए दो प्रकार का विवेचन दरकार है। एक तो संक्रान्ति और द्वन्द्व तथा परम्परा एवं प्रयोग का सैद्धान्तिक विवेचन और द्वितीय इस सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर साहित्य का विवेचन। सबसे पहले संक्रान्ति और द्वन्द्व का स्वरूप स्पष्ट किया जायेगा।

संक्रान्ति और द्वन्द्व[1] : विकास की गाथा में प्राचीन और नवीन दो विराम-चिह्नों का कार्य करते हैं। इन दो विराम-चिह्नों के बीच का वाक्य ही संक्रान्ति है। जितने विराम-चिह्न होंगे उतने ही वाक्य होंगे। जितने प्राचीन और नवीन के ठहराव होंगे उतनी ही संक्रान्तियाँ होंगी। नये ठहराव और नयी संक्रान्तियाँ, बस यह ही विकास-गाथा के संयोजक तत्त्व हैं।

संक्रान्ति ही गति है जो प्राचीन और नवीन के विरामों को जोड़ती है। इसलिए स्पष्ट है कि विकास के विवेचन में मूल तत्त्व संक्रान्ति का विवेचन ही है। संक्रान्ति के कई रूप हो सकते हैं। वह धीरे-धीरे बहती हुई नदी भी हो सकती है और बाढ़ की लहर भी। अनेक तत्त्वों का संयोग होता है और उस

---

१ यह निबन्ध किरोड़ीमल कॉलेज की शोध-पत्रिका 'स्पेकुलम' में प्रकाशित हो चुका है।

संयोग का भी एक विशिष्ट रूप होता है जो संक्रान्ति के रूप का निर्धारण करता है। इसलिए संक्रान्ति के सम्यक् अध्ययन में केवल तत्त्वों का परिगणन या व्याख्या ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उनके संयोग के विशिष्ट रूप का अध्ययन भी अनिवार्य है।

प्राचीन और नवीन का सम्बन्ध संक्रान्ति के रूप पर ही आधारित होता है। फिर भी नवीन के ठहराव पर पहुँचकर प्राचीन के तीन रूप दिखायी देते हैं, जिनके आग्रही तीन दल होते हैं। एक दल तो यह कहता है कि जो नवीन है वह सर्वथा उपेक्षणीय और बेमाने है तथा प्राचीन अपने पूर्ण-वास्तविक रूप में ही सर्वथा ग्राह्य एवं काम्य है। दूसरा दल संक्रान्ति को स्वीकार करता हुआ नवीन परिस्थितियों एवं सम्भावनाओं को मानता हुआ भी प्राचीन पर केन्द्रित रहकर उसमें सुधार-संशोधन करता है, और उस संशोधित प्राचीन को ही नवीन के अनुरूप स्वीकार्य बनाने की प्रवृत्ति से पेश करता है। तीसरा दल संक्रान्ति को केन्द्र मानता हुआ प्राचीन को सर्वथा त्यागकर नवीन मूल्यों की घोषणा करता है। पहला दल परम्परावादियों का है, दूसरा संशोधन-वादियों का है और तीसरा नवीनतावादियों का है। तीनों एक-दूसरे के विरोधी हैं और अपनी ग्राह्य प्रतिष्ठा एवं विकास के लिए प्रकृति के गुणों के समान ही अन्य दोनों को पराभूत करना अनिवार्य मानते हैं।

मानव की विकास-गाथा में आदि से आज तक अनेक ठहराव आये, अनेक संक्रान्तियाँ आयीं। सभी का गम्भीरता और व्यापकता की दृष्टि से अपना-अपना स्थान है। किन्तु आज का मानव जिस संक्रान्ति से गुज़र रहा है वह गम्भीरता, व्यापकता और अनेकरूपता में अनन्य है। यद्यपि इस विषय में मतभेद के लिए अवकाश नहीं है फिर भी इसके स्वरूप का सम्यक् स्पष्टीकरण जितना जटिल एवं दुरूह है उतना ही अपेक्षित भी।

वर्तमान काल वस्तुतः संक्रान्ति का युग नहीं है वरन् यह संक्रान्ति-दर-संक्रान्ति का युग है। इसका कारण आज की असीम रूप से विकसित गतिमान भौतिक जगत की चेतना है।

विज्ञान-पूर्व युग में भौतिक जगत की सीमाएँ तो वही थीं जो आज हैं, किन्तु उन सीमाओं की चेतना वही नहीं थी जो आज है। पुराना आदमी अपने गाँव या नगर को सीमाओं की भौतिक चेतना से शायद ही ऊपर उठ पाता था। औद्योगिक विकास और यान्त्रिक समृद्धि ने भौतिक जगत के विस्तार को संकुचित कर दिया है। उन सीमाओं के संकोच का अभिप्राय यह है कि वे सीमाएँ व्यक्ति-चेतना में समाने लगीं। वह व्यक्ति जो ग्राम या नगर की चेतना में ही जीवित रहता था, अब विश्व और ब्रह्माण्ड की चेतना में विचरण करने लगा, या उसके जंजाल में फँस गया। इस प्रकार जहाँ एक ओर भौतिक जगत

की सीमाएँ संकुचित होने लगीं, दूसरी ओर व्यक्ति-चेतना की सीमाएँ व्यापक होने लगीं। यह संकोच-विस्तार इतनी द्रुतगति से और इतने वास्तविक रूप में हुआ कि इस व्यापार को तुरन्त पूर्ण रूप से समझना या धारण करना असम्भव-सा हो गया। व्यक्ति उसकी अनेकरूप गति के कारण उसे एकाएक सहन न कर सका।

व्यक्ति-चेतना ने साधना का द्वन्द्व पहले भी देखा था। वह साधना दार्शनिक-धार्मिक सरणियों के माध्यम से व्यक्त हुई थी। और इसमें सन्देह नहीं कि वह साधना अत्यन्त प्रखर साधना थी। किन्तु व्यक्ति उसे सहन करता रहा, उसकी आस्था उस पर बनी रही। इसका कारण यह है कि वह साधना केवल सृष्टि के एक केन्द्र—चैतन्य—पर अवस्थित थी और उसमें पदार्थ के संश्लिष्ट रूप की समस्याओं की वास्तविकता प्रश्न बनकर नहीं वरन् विघ्न बनकर उपस्थित हुई थी। इस प्रकार यथार्थ संसार एक विघ्न था जिसे दूर करना उस साधना का लक्ष्य था। उसका एकमात्र केन्द्र चैतन्य था। यों तो सृष्टि समग्र रूप में आध्यात्मिक साधना के मार्ग में बाधा के रूप में उपस्थित होती थी, या उस सृष्टि की सामान्य चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाकर उसकी एक विशिष्ट भावना की प्राप्ति का प्रयास किया जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह चेतना 'सियाराम मय सब जग जानी' वाली चेतना है। दोनों ही अवस्थाओं में यथार्थ संसार अपनी सहज चेतना के साथ विघ्न है, उपेक्षणीय एवं त्याज्य है।

इसके विपरीत आधुनिक व्यक्ति की साधना के दो केन्द्र हैं—एक पदार्थ की वास्तविकता, द्वितीय चैतन्य की सत्ता। यद्यपि आज के युग में भी ऐसे वाद हुए जिन्होंने इन दोनों में से किसी एक पर प्रधान बल दिया किन्तु अधिकांशतः दोनों को अन्योन्याश्रित रूप में ही लिया गया। किन्तु यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि उन दोनों को अन्योन्याश्रित रूप में लेने पर भी दृष्टि-भेद से प्रक्रिया-भेद और प्रक्रिया-भेद से मतभेद का उदय हुआ। यहाँ उन सब दृष्टि-भेदों और वाद-भेदों के विवेचन का प्रसंग नहीं है। संकेत-भर के लिए विकासवाद, मार्क्सवाद, गांधीवाद और फ्रायडवाद आदि का नाम लिया जा सकता है। उन वादों में भी व्याख्या-जन्य भेद दृष्टिगत होने लगे हैं। हमारा वर्तमान जिस संक्रान्ति से होकर गुज़र रहा है ये तथा अन्य सभी वाद उसी के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आज की संक्रान्ति एक सरल संक्रान्ति नहीं है, वरन् एक जटिल संक्रान्ति है।

वस्तुतः यदि देखा जाय तो आधुनिक काल में—विज्ञान काल में, हमने प्रत्येक नवीन वाद की नवीन दृष्टि के पीछे एक संक्रान्ति की अवधारणा की और उस वाद की दृष्टि को ही आदर्श मान लिया। किन्तु व्यापक दृष्टि रखने वाला चिन्तक यह जानता है कि वे वाद भी संक्रान्ति के अन्तर्गत ही हैं, संक्रान्ति के

बाद के ठहराव नहीं हैं। यद्यपि हमारा व्यक्ति उन वादों पर ठहरता रहा है किन्तु वह ठहराव विराम नहीं था, वरन् अर्द्ध-विराम था। इस सत्य को न समझने के कारण संक्रान्ति काल के अन्तर्गत उदित वादों में ही संघर्ष आरम्भ हो गया और इस प्रकार द्वन्द्व का जीवन अनेकरूप और उग्र हो उठा।

आज के व्यक्ति के सामने भौतिक जगत की सीमाएँ बहुत संकुचित हो गयी हैं और संकुचित होती जा रही हैं। उसके अनुरूप ही व्यक्ति-चेतना की सीमाएँ निरन्तर विकासशील हैं। आज के व्यक्ति का द्वन्द्व एक ओर बाह्य जगत की अनेकरूपता का स्पर्श करता है और दूसरी ओर चैतन्य जगत की समस्याओं को भी सुलझाना चाहता है। यही कारण है कि वह अनेकरूप है और अनेक प्रकार से प्रस्तुत समस्याओं के समाधान का प्रयास करता है। जहाँ भी उसे प्रकाश की किरण दिखायी देती है वह उसी ओर लपक पड़ता है।

अभी तक की व्यक्ति-साधना में जो समाधान हमारे सामने उपस्थित हुए उनमें से कुछेक ने चैतन्य की समस्याओं का समाधान किया और इस प्रक्रिया में भौतिक संसार की सत्ता को सरल-सहज रूप से चलता कर दिया। इसके विपरीत कुछ लोगों ने भौतिक जीवन की दुविधाओं को हल किया और इस प्रयास में चैतन्य की सत्ता को सरल-सहज रूप से चलता कर दिया। नतीजा यह हुआ कि कोई भी समाधान आज के व्यक्ति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आज का व्यक्ति भौतिक संसार को भी पूर्ण संश्लिष्ट-जटिल रूप में आत्मसात करना चाहता है तथा चैतन्य को भी उसकी अवचेतन और उपचेतन की ग्रन्थियों के सहित ग्रहण करना चाहता है। यही कारण है कि उसकी साधना इतनी बीहड़ और द्वन्द्व इतना भड़का हुआ है। आज का व्यक्ति इस तथ्य से सजग हो या न हो, वस्तुस्थिति यही है।

जीवन का पक्षों या तत्त्वों में बँटवारा करने के बाद किसी एक पक्ष की समस्याओं के आधार पर शेष पक्षों की उपेक्षा कर समग्र जीवन के लिए निश्चित मार्ग के निर्माण का काम अपनी एकांगिता में निश्चित ही असफल होता और ऐसा होता रहा। किन्तु यह प्रक्रिया चलती रही और आज भी चलने का प्रयास कर रही है। वस्तुतः इसका प्रथम सोपान ही, जो परवर्ती साधना का आधार है, दूषित है। जीवन का इस प्रकार का बँटवारा करने का अधिकार किसी को नहीं है।

यदि हम भारत में दार्शनिक चिन्तन के इतिहास को देखें तो उपर्युक्त विवेचन और भी स्पष्ट हो जायेगा। इस इतिहास में नवीनता का प्रथम विराम है बौद्ध-दर्शन जिसने पूर्ण प्राचीन परम्परा को अस्वीकार कर चैतन्य के आधार पर जीवन की समस्याओं का समाधान करना चाहा। इस बात की चरम परिणति हुई शून्यवाद में। 'शून्य' एक अभावात्मक-भावात्मक तत्त्व है। अभि-

प्राय यह है कि वह वस्तुतः भावात्मक होते हुए भी सांसारिक यथार्थ दृष्टि के अनुसार अभावात्मक ही है और इसलिए इसमें किसी भी प्रमाण की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया। यदि शून्यवाद को हम दार्शनिक चिन्तन का प्रथम सोपान मान लें तो प्रस्तुत विवेचन में संगत ही होगा।

शून्यवाद के उपरान्त अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हुई। यद्यपि अद्वय तत्त्व शून्य तत्त्व के समान ही यथार्थ संसारी दृष्टि से अभावात्मक ही है फिर भी इसकी प्रतिष्ठा में उसे शून्य तत्त्व की अपेक्षा अधिक भावात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। शंकराचार्य ने प्रमाणों को स्वीकार किया। यद्यपि प्रमाणों की यह स्वीकृति शब्द प्रमाण की स्वीकृति के कारण पूर्ण स्वीकृति नहीं कही जा सकती क्योंकि शब्द प्रमाण अन्य सभी प्रमाणों से प्रबलतर हैं और उस पर अन्य प्रमाण आक्षेप करने की योग्यता नहीं रखते।

स्पष्ट है कि शून्यवाद से अद्वैतवाद के विकास में अति सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर, कम भावात्मक से अधिक भावात्मक की ओर तथा मानव-शक्ति की प्रमाणहीनता से प्रमाण-सम्पन्नता की ओर प्रगति हुई। भौतिक संसार दोनों के लिए ही असत् है। इसलिए यहाँ तक स्थूल की वास्तविक स्वीकृति का सवाल ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए इनका प्रधान केन्द्र था चैतन्य।

अद्वैतवाद के बाद वैष्णव आचार्यों में इसकी प्रतिक्रिया हुई और विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और द्वैतवाद आदि की प्रतिष्ठा हुई। यद्यपि इन वादों का प्रधान केन्द्र चैतन्य ही था, फिर भी स्थूल संसार को सत्य रूप में स्वीकार किया गया। स्थूल की यह स्वीकृति यथार्थ-लौकिक स्वीकृति नहीं थी वरन् एक विशिष्ट स्वीकृति थी। ब्रह्म के शरीर के रूप में ही संसार को स्वीकार किया गया और फिर द्वैत में उसकी आपेक्षिक स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृति मिली। किन्तु प्रधान बल चैतन्य पर ही रहा। त्रैतवाद में आकर आध्यात्मिक दर्शन का स्थूल के प्रति विकास पूर्णता प्राप्त कर लेता है। सभी में अवतारों की कल्पना की गयी।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उक्त दार्शनिक चेतना के विकास के विषय में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) यह विकास 'अभावात्मक' प्रक्रिया से 'भावात्मक' प्रक्रिया की ओर हुआ।

(२) इस विकास में धीरे-धीरे मानव-विवेक को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। किन्तु फिर भी उसे वह महत्त्व नही मिला जो आज माना जाता है।

(३) शब्द प्रमाण के रूप में लोकोत्तर शक्ति या सहजानुभूति की स्वीकृति हुई।

(४) विवेचन का प्रधान केन्द्र चैतन्य रहा।

(५) धीरे-धीरे स्थूल संसार को वास्तविकता प्राप्त होती गयी ।

(६) पारमार्थिक सत्य शून्य या शुद्ध चैतन्य से विकसित होकर कृष्ण, राम आदि के स्थूल पार्थिव रूप तक पहुँचा। इस प्रकार चिन्तन की गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर उन्मुख होती रही ।

(७) पहले संसार को मिथ्या माना, फिर उसे अर्द्ध-सत्य माना और फिर उसे पूर्ण सत्य मान लिया गया ।

यदि हम बौद्ध-दर्शन से पूर्व की अवस्था पर विचार करें तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें हमारे सामने आयेंगी । पहली बात तो यह है कि तब संसार सत्य माना जाता था और व्यक्ति के विवेक को आंशिक स्वीकृति थी जो कि श्रुतियों की सत्ता से प्रमाणित होती थी । यदि इस आलोक में उपर्युक्त निष्कर्षों को देखा जाय तो इनमें और उनमें पर्याप्त समानता लक्षित होगी । दो महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में तो समानता स्पष्ट ही है : सृष्टि की सत्यता के विषय में और मानव के रूप और विवेक के महत्त्व के विषय में । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त दार्शनिक चिन्तन के वृत्त ने हमें फिर वैसी ही भूमि पर ला खड़ा किया जैसी भूमि से वह आरम्भ हुआ था । अन्तर इतना है कि प्रथम भूमि वाक्य से पूर्व का विराम है और द्वितीय भूमि वाक्य के बाद का । इन दो ठहरावों के बीच की संक्रान्ति ने आगे के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया ।

सूक्ष्म से स्थूल की ओर प्रगति तथा मानव के महत्त्व की स्वीकृति परस्पर सम्बद्ध हैं, क्योंकि हम जितना ही स्थूल को अधिक महत्त्व देंगे उतना ही मानव का महत्त्व बढ़ेगा ।

यह प्रायः कहा जाता है कि मध्य-काल के उपरान्त भारतीय दार्शनिक साधना अवरुद्ध-सी हो गयी और सिवाय पुराने वादों की नवीन व्याख्या के कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयास लक्षित नहीं होता । इसका कारण यह है कि त्रैतवाद की स्थापना के उपरान्त उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्याओं की नवीन सम्भावनाएँ समाप्त-सी हो गयीं और इसलिए दार्शनिक चेतना ने वादों के सम्बद्ध-समन्वित स्पष्टीकरण में ही सन्तोष किया। किन्तु मानव की विकास-गाथा निरन्तर प्रवहमान रही ।

भक्ति-काल के साहित्य में अधिकांश दार्शनिक मत-मतान्तरों का प्रभाव लक्षित होता है । यहाँ पर भी विकास का क्रम कुछ वैसा ही रहा जैसा दर्शन में रहा था । सिद्धों और नाथों की ज्ञानवादी परम्परा के प्रभाव में कबीरदास ने साहित्य में निर्गुण भक्ति और ज्ञान की धारा प्रवाहित की । सूफी प्रभाव से जायसी आदि ने भी लौकिक प्रतीकों के माध्यय से निर्गुण अव्यक्त के प्रति प्रेम को मुखर किया । इस प्रकार कबीर का निर्गुण भक्ति और ज्ञान का आलम्बन

है तथा जायसी का निर्गुण प्रेम का। जायसी का परम तत्त्व कबीर के परम तत्त्व की अपेक्षा लोक के अधिक निकट है।

वैष्णव भक्त कवियों ने वैष्णव आचार्यों से प्रेरणा लेकर साहित्य में अवतारवाद की प्रतिष्ठा की, और इस प्रकार सगुण भक्ति का आरम्भ हुआ। दर्शन के क्षेत्र में जिस प्रकार शंकराचार्य से रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य तक सूक्ष्म से स्थूल की ओर, निर्गुण से सगुण की ओर प्रगति हुई उसी प्रकार साहित्य में भी कबीर से सूर-तुलसी तक सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल की स्थापना हुई। इस प्रकार भक्तिकालीन साहित्य में काव्य-चेतना दार्शनिक चेतना के अनुरूप ही सूक्ष्म से चलकर स्थूल तक पहुँच चुकी थी, निर्गुण ब्रह्म से चलकर कृष्ण और राम को अंगीकार कर चकी थी। किन्तु यह स्थूल भी भक्ति का आलम्बन होने के कारण लोकोत्तर स्थूल ही था। यद्यपि उसकी रचना लौकिक थी, सांसारिक सौन्दर्य के परम तत्त्वों की योजना से हुई थी, फिर भी वह एक प्रकार से सूक्ष्म-स्थूल रूप ही था। यद्यपि संस्कृत-काव्य-चेतना लौकिक स्थूल को—राजाओं-सामन्तों को—काव्य का विषय बना चुकी थी किन्तु भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य ने तत्कालीन दर्शन और भक्ति की व्यापक साधना-धारा से प्रभावित होकर काव्य-चेतना को दर्शन तथा भक्ति से बाँध दिया था। इतना ही नहीं 'प्राकृत जन गुन गाना' का निषेध भी किया गया। किन्तु यह निषेध सफल न हुआ।

प्राचीन परम्परा में राजा इहलोक में ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। इसलिए स्वाभाविक ही था कि काव्य-चेतना के परवर्ती विकास में सगुण का स्थान इस संसार में उसके प्रतिनिधि राजा को प्राप्त होता। रीतिकालीन साहित्य-विकास के इस सोपान तक पहुँच गया।

आधुनिक काल से पूर्व की काव्य-चेतना राजाश्रित रही। वह लौकिक होकर भी लौकिक न हो पायी। वह मनुष्य तक तो पहुँची किन्तु समाज तक नहीं। काव्य-चेतना के विकास का अन्तिम सोपान था उसमें समाज की प्रतिष्ठा—मनुष्य मात्र के समग्र जीवन की प्रतिष्ठा। यह कार्य आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सम्पन्न किया। भारतेन्दु के साथ ही हिन्दी-काव्य-साधना में मानव-जीवन का सामान्य यथार्थ रूप अपनी समग्र संकुलता एवं जटिलता के साथ अनुस्यूत होने लगा, और यह क्रम आज तक चल रहा है।

एक ओर भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग तथा दूसरी ओर छायावादी युग एक-दूसरे के पूरक हैं। द्विवेदी युग तक कवि की दृष्टि जीवन के बाह्य पक्ष पर केन्द्रित रही और उसे यथातथ्य रूप में अंकित करने का प्रयास किया गया। इसे इतिवृत्तात्मक काव्य का युग माना गया। छायावादी कवियों ने जीवन के इस बाह्य-पक्ष की अपेक्षा अन्तस् की ओर झाँका। उन्होंने स्थूल बाह्य से आगे बढ़कर सूक्ष्म अन्तरंग को मुखर किया। और इस प्रकार छायावादी काव्य तक

मानव-जीवन का यथार्थ अपने बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों से समन्वित रूप में काव्य में प्रतिष्ठित हो चुका था। इसके उपरान्त मार्क्सवाद के प्रभाव से एक बार फिर बाह्य पक्ष का महत्त्व बढ़ा किन्तु उधर मनोविश्लेषण-शास्त्र के उदय एवं विकास के साथ ही भावजगत की सत्ता की ओर भी प्रमुख लेखक आकृष्ट हुए। इस प्रकार एक बार फिर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का प्रयास किया गया। नयी कविता में भी यही सूक्ष्म प्रधान रूप से बोलता दिखायी देता है।

छायावाद तक के विकास में और उसके बाद के विकास में एक स्पष्ट अन्तर है। छायावाद तक के विकास का रूप तो यह रहा कि प्राचीन प्रवृत्ति के स्थान पर नवीन प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु छायावाद के बाद के साहित्यिक विकास में ऐसा नहीं हुआ और साहित्य-साधना की इस परम्परा में जो प्रवृत्तियाँ उभरीं वे एक दूसरे की स्थानापन्न होकर नहीं आयीं वरन् युगपत् प्रवाहित होती रहीं। इसलिए इस काल का संघर्ष और द्वन्द्व प्राचीन कालों के संघर्ष से अधिक तीव्र और बहुमुखी है। इन अनेक प्रवृत्तियों में से प्रत्येक के पोषक उसे समग्र साहित्य-साधना का प्राण मानते हुए न केवल अन्य समकालीन साहित्यिक-प्रवृत्तियों को अस्वीकार करते हैं वरन् प्राचीन को भी उसी प्रवृत्ति की कसौटी से नापते हैं। इसके मूल में जो भावना कार्यशील है वह आज की परिस्थितियों का ही फल है।

भौतिक चेतना की सीमाओं के संकोच और व्यक्ति-चेतना की सीमाओं के युगपत् विस्तार के कारण आज की साधना का क्षेत्र असीम हो गया है। साधना-क्षेत्र की व्यापकता के साथ ही साथ महत्त्वाकांक्षा भी अत्यधिक उद्दीप्त हो उठी है और वह भी उतनी ही निस्सीम हो गयी है। जैसे-जैसे मानव-साधना का प्रांगण विस्तृत हुआ वैसे ही वैसे साधना के रूप, उसकी प्रेरणा और लक्ष्य का भी उच्चता की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक ही था। महत्त्वाकांक्षा की सीमा भौतिक जगत की चेतना के अनुरूप विकसित होती रही। जब भौतिक जगत की चेतना सीमित थी तब महत्त्वाकांक्षा का प्रधान क्षेत्र चैतन्य जगत रहा। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। किन्तु जब दार्शनिक चेतना चेतन से पदार्थ की ओर, सूक्ष्म से स्थूल की ओर अग्रसर हुई तो मानव की महत्त्वाकांक्षा का क्षेत्र भी बदला और वह सूक्ष्म चैतन्य के जगत से निकलकर स्थूल यथार्थ सृष्टि के प्रांगण में विचरण करने लगी और उसकी सीमाओं के विस्तार के साथ ही उद्दीप्त होने लगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि युग-चेतना के विकास की परम्परा में संक्रान्ति नवीन रूप लेकर उभरी, उससे द्वन्द्व ने नवीन रूप ग्रहण किया और महत्त्वाकांक्षा के रूप और कार्यक्षेत्र में भी समुचित परिवर्तन हुआ। संक्रान्ति

काल स्वयं एक द्वन्द्व का काल होता है। वस्तुतः द्वन्द्व को जब प्राचीन और नवीन की कड़ी के रूप में देखा जाता है तब उसे ही संक्रान्ति कह दिया जाता है। संक्रान्ति द्वन्द्व का वह रूप है जो प्राचीन के स्थान पर नवीन की प्रतिष्ठा करता है। संक्रान्ति काल के द्वन्द्व का एक चिरपरिचित रूप तो है प्राचीन और नवीन का द्वन्द्व। इसे हमने सरल संक्रान्ति कहा है। आधुनिक काल में संक्रान्ति में केवल प्राचीन और नवीन का ही संघर्ष नहीं है वरन् इस बीच उभरे हुए विविध मूल्य भी परस्पर संघर्षलीन हैं। इसलिए इसे जटिल संक्रान्ति कहा गया है। इसके स्वरूप को पूर्ण रूप से समझना उपयोगी होगा।

जब हम यह मानते हैं कि संक्रान्ति काल प्राचीन और नवीन का संघर्ष है तो यह मान्यता सहज-सिद्ध है कि हम प्राचीन को भी जानते हैं और नवीन को भी। जहाँ तक प्राचीन के ज्ञान का सवाल है, इस विषय में किसी तात्त्विक या मूलभूत मतभेद की गुंजायश नहीं। प्राचीन काल के विकास में नवीन के विषय में भी कोई मूलभूत अन्तर नहीं रहा करता था। किन्तु आज यह बात नहीं है। आज हम इस विषय पर सहमत नहीं हैं कि नवीन का रूप क्या है। अलग-अलग चिन्तक उस नवीन की अलग-अलग व्याख्या करते हैं। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा कलात्मक आदर्शों के विषय में मूलभूत अन्तर लक्षित होता है और इस प्रकार सभी क्षेत्रों के नवीन के एकाधिक रूप मिलते हैं। ऐसी अवस्था में द्वन्द्व के दो रूप होना स्वाभाविक ही है। एक तो वह परम्परा-सिद्ध प्राचीन और नवीन का संघर्ष क्योंकि आज भी इन सभी क्षेत्रों में प्राचीन को उसी रूप में ग्रहण करने वाले विद्वान विद्यमान हैं। और द्वन्द्व का दूसरा रूप वह है जो इस नवीन के विविध रूपों के बीच लक्षित होता है। इस प्रकार आज के द्वन्द्व का रूप सरल नहीं, जटिल है और इसकी समीक्षा में विशेष सावधानी एवं गाम्भीर्य की अपेक्षा है।

आज की जीवन-साधना के विश्लेषण के मार्ग में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि इस संक्रान्ति काल के अन्तर्गत उभरने वाली सभी चिन्ता-धाराएँ अपने-आपको वर्तमान आकांक्षाओं को तृप्त करने वाले नवीन का प्रतीक मानती हैं। साहित्य के प्रसंग में इस प्रकार की धाराओं में अस्तित्ववाद, उपचेतन-अचेतनवाद तथा मार्क्सवाद का उल्लेख किया जा सकता है। आज का विचार-बोझिल और समस्या-आक्रान्त मन तृप्ति एवं सन्तुलन की आकांक्षा में इन सभी विचार-वीथियों में भटकता रहता है। कभी वह एक धारा में शीतलता प्राप्त करने का प्रयास करता है और कभी दूसरी धारा में। मगर नये आदमी को कहीं तुष्टि नहीं मिलती। किन्तु साथ ही आत्माभिव्यक्ति-जन्य तुष्टि तथा विचारधारा-जन्य तुष्टि के सम्मिश्रित रूप के सम्मोहन से उसमें विशिष्ट सिद्धान्ताग्रह का उन्मेष होने लगता है। वर्तमान असन्तोष

और नवीनता की सम्भावना पर आस्था के कारण प्राचीन के प्रति प्रचण्ड विद्रोह का भड़क उठना स्वाभाविक ही है। नवीन की सम्भावना तो है और उस सम्भावना पर आस्था भी है किन्तु उसके रूप के विषय में कोई निश्चित चित्र नहीं उभरता। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो वर्तमान चिन्ता-धारा को समझने के लिए आलोक-स्तम्भ है।

उपर्युक्त विवेचन से नयी साधना के विषय में दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम, प्राचीन और वर्तमान मूल्यों के प्रति असन्तोष की उद्विग्न अभिव्यक्ति तथा द्वितीय, नवीन के रूप की परिभाषा का अभाव। नवीन के रूप की व्यापक परिभाषा का अभाव भी स्वयं वर्तमान अशान्ति और खीझ का एक कारण बनता प्रतीत होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि नवीन को मूर्त रूप में रूपायित करने का प्रयास क्यों नहीं किया गया ? अथवा यदि यह प्रयास किया गया है तो वह क्यों असफल हुआ है ? इस प्रश्न के साथ ही हम एक अत्यन्त दुरूह, विवादास्पद और नाजुक समस्या पर आ जाते हैं।

वस्तुतः सभी अर्वाचीन चिन्ता-धाराएँ अपने-अपने दृष्टिकोण से नवीन की परिभाषा करने का प्रयास करती हैं। किन्तु नवीनतम विचारधारा के अनुसार उन सभी प्रवासों को सन्देह और अनास्था की दृष्टि से देखा जाता है। इसके औचित्य के पक्ष में आज तक के समग्र चिन्तन के इतिहास को प्रस्तुत किया जाता है। इस विषय में सन्देह का अवकाश नहीं कि सुकरात, प्लेटो, नागार्जुन तथा शंकराचार्य, स्पिनोज़ा तथा काण्ट आदि विश्व की ऐसी मेधाएँ हैं जिनकी सूक्ष्म गम्भीरता अनन्य है। उन्होंने जीवन के विषय में सिद्धान्त प्रस्तुत किये जो दार्शनिक सम्बद्धता और तार्किक प्रौढ़ता की उच्चतम सीमा का स्पर्श करते हैं। किन्तु क्या वे सिद्धान्त हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान कर सके ? क्या आज मानव-समाज को उनकी निष्ठा से कुछ शान्ति प्राप्त होती है ? आज के उद्विग्न और भड़कते हुए समाज को क्या उनसे कुछ सहारा मिलता है ? स्पष्ट है कि इन सभी दृष्टियों से वे सिद्धान्त असफल ही सिद्ध हुए हैं। यह असफलता उन सिद्धान्तों या उनके प्रतिष्ठापकों की अवहेलना का संकेत नहीं है। उनके मतों को अस्वीकार करने वाला भी उनकी अप्रतिम प्रतिभा के सामने अपने-आपको पराभूत मानता है। उनकी महिमा का आधार उनके चिन्तन की उस सम्बद्धता में है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म धरातल पर भी विचलित नहीं होती, प्रयास की उस अन्विति में है जो विषम से विषम विषयों के संयोजन में कम्पित नहीं होती। किन्तु वे आज के आकुल मन को धीरज देने में असमर्थ हैं।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी इस असमर्थता में आज के व्यक्ति की अपनी असमर्थता अन्तर्निहित है। जब जगत का प्रौढ़तम चिन्तन

जगत की ज्वाला को चिरशान्ति प्रदान नहीं कर सका तो स्पष्ट है कि उसका दोष प्रौढ़ता में नहीं, उस पद्धति पर ही है जिस पर वह अग्रसर हुई। अतएव आवश्यकता इस बात की प्रतीत हुई कि चिन्तन की पद्धति बदल दी जाय। नयी दृष्टि का उपयोग किया जाय और इस कार्य की सिद्धि के लिए प्रथम अनिवार्य सोपान है प्राचीनता के समक्ष नवीनता की प्रतिष्ठा। चाहे उस नवीन को परिभाषित न किया जाय, फिर भी उसकी सम्भावना पर निष्ठा अवश्य होनी चाहिए। यह अन्तर्विरोधी बात प्रतीत होती है। गहराई में उतरने पर सिद्ध होगा कि यह अन्तर्विरोध आज के जीवन के अन्तर्विरोधों की ही एक अभिव्यक्ति है। और इसके अतिरिक्त उसका एक अन्य कारण है प्राचीन सुस्पष्ट मतों की असफलता। यदि मन को प्राचीन से सन्तोष नहीं होता, यदि प्राचीन व्यक्ति और समाज के जीवन की समस्याओं के समाधान में, बल्कि उन समस्याओं को उन्हीं के धरातल पर समझने में असमर्थ रहा है, तो इसकी यह स्पष्ट ध्वनि है कि प्राचीन के स्थान पर नवीन की प्रतिष्ठा की अपेक्षा है। असन्तोष जितना अधिक होगा यह नवीन ध्वनि उतनी ही अधिक स्फूर्तिमय होगी। असन्तोष की वृद्धि के साथ-साथ यह ध्वनि भी बलवान होती चली गयी और नवीनता की ओर एक सहज आकर्षण हो गया। समस्याओं को नवीन रूपों में, नवीन धरातलों पर, नवीन दृष्टियों से नवीन अभिव्यक्तियों के द्वारा नवीन जीवन के समकक्ष उपस्थित करने की धूम मचने लगी। किन्तु फिर वही सवाल सामने आता है। 'नवीन' का रूप क्या है ? नवीन की परिभाषा क्या है ? इसका भावात्मक उत्तर देना न तो सरल है और न ही काम्य। क्योंकि इसके भावात्मक उत्तर का रूप होगा एक सिद्धान्त की स्थापना। और सिद्धान्त की स्थापना का परिणाम यह होगा कि वह सिद्धान्तों की पुरानी परम्परा के अन्तर्गत आकर पुराना हो जाएगा। चाहे उसमें ऐसे विचार भी हों जो कि नवीन हों किन्तु विचारों को सिद्धान्त के रूप में संयोजित करने की यह पद्धति पुरानी पद्धति है जो इतिहास के साक्ष्य के अनुसार असफल सिद्ध हो चुकी है। इसलिए अनेक चिन्तकों ने नवीन को परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया।

तर्क और भाव जीवन-साधना की प्रगति के दो सम्बद्ध चरण हैं। कभी तर्क की प्रधानता होती है तो कभी भाव की। आज का युग तर्क-प्रधान युग है। परम्परागत मूल्य यथार्थ से टकराकर बिखरते प्रतीत हुए। नवीन मूल्यों का उदय कुछ तो समय की बात है, कुछ तर्क की। अतएव एक ओर तो परम्परागत मूल्यों पर अनास्था उत्पन्न हो गयी, दूसरी ओर नवीन मूल्यों का उदय नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि मानव-आस्था को कोई आलम्बन न मिला और वह भावात्मक रूप में अग्रसर होने में असमर्थ हो गयी। उसका सृजनात्मक पक्ष उसके आलम्बन के अभाव के कारण धराशायी हो गया। आस्था के इस

प्रकार अस्त हो जाने पर शेष तत्त्व रहा अनास्था। यह अनास्था परम्परागत मूल्यों की ओर एक शक्तिशाली रूप में उन्मुख हुई। जैसे-जैसे यह अनास्था तीव्र हुई वैसे ही वैसे मानव-मन विचलित हुआ, उद्विग्न हुआ। उस उद्वेग के लिए अभिव्यक्ति का साधन चाहिए। यदि इसको अभिव्यक्ति का साधन न मिले तो वह मानसिक सन्तुलन को खण्डित कर देता है। इसलिए वह उद्वेग मानव के आचरण में और उसकी साधना में व्यक्त होने लगा। उद्वेग की इस अभिव्यक्ति का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार का है। कारण यह है कि यह उद्वेग अनास्था-जनित है। और इसलिए यह अभिव्यक्ति मूलतः अनास्था की कृति है। 'अनास्था की कृति' में अन्तर्विरोध प्रतीत होता है। किन्तु है यह सत्य। प्रायः यह माना जाता है कि रचना तो आस्था से उदित है। यह बात दूसरी है कि आस्थाजन्य रचना और अनास्थाजन्य रचना के स्वरूप में बहुत अधिक अन्तर है। यद्यपि सहअस्तित्व की स्वीकृति प्रकट रूप से राजनीतिक धरातल पर ही हुई है किन्तु प्रच्छन्न तथा सशक्त रूप से वह समग्र जीवन-रूप में कार्यशील है। जिन विरोधी व्यवस्थाओं ने परस्पर सहअस्तित्व को स्वीकार किया है उनका रूप केवल राजनीतिक ही नहीं है वरन् वे तो समग्र जीवन की व्यवस्थाएँ हैं। उनका राजनीतिक व्यवहार तो जीवन-रूप का एक अभिन्न अंग है और पूर्ण रूप से उसके द्वारा नियन्त्रित, अतः उसका व्यंजक है। क्योंकि कभी भी जीवन का राजनीतिक पक्ष उसके अन्य पक्षों से असंपृक्त रूप से स्थित नहीं रहा। वह तो जीवन को देखने की एक दृष्टि है, एक कोण है। इस सत्य को न समझने वाले अनेक प्रकार की भ्रान्तियों के शिकार हो जाते हैं। क्योंकि जो अखण्ड एवं अभिन्न है उसे जब हम खण्ड-खण्ड रूप में देखने लगते हैं, इतना ही नहीं प्रत्येक खण्ड को एक स्वतः पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण कर लेते हैं, तो स्पष्ट ही है कि इस आधार पर जो सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये जायेंगे या जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए जायेंगे वे असत्य अथवा अर्द्धसत्य होंगे।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि चाहे हम सहअस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करें या न करें, चाहे हम उसके प्रति सजग हों चाहे न हों, वह कार्यशील तो रहता ही है। किसी वस्तु या सिद्धान्त की सत्ता उसके ज्ञान पर आधारित नहीं होती। और यह ज़रूरी भी नहीं कि प्रत्येक सत्ता का ज्ञान हो ही जाय। इसलिए जो अज्ञात है वह सत्ताविहीन है यह नहीं कहा जा सकता। किसी का ज्ञान उसकी सत्ता का प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिए यद्यपि यह सत्य है कि सहअस्तित्व के अस्तित्व और उसके कार्य का ज्ञान आज हुआ है, फिर भी इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सहअस्तित्व की सत्ता उसके ज्ञान से पहले प्राचीन मानव-विकास में प्रभावी नहीं थी, सर्वथा असंगत होगा। सहअस्तित्व के पूर्ण स्वरूप के विश्लेषण की ओर अभी अपेक्षित प्रयास नहीं हुआ और न ही प्रस्तुत प्रसंग

में यह हमारा प्रतिपाद्य है। किन्तु इसकी स्वीकृति से एक बात जो सिद्ध होती है और जो प्रस्तुत प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है तर्क की असमर्थता। सहअस्तित्व की स्वीकृति में यद्यपि स्वीकार करने वाले अपने-अपने मत पर पूर्ण आस्था एवं विश्वास रखते हैं और यह भी आशा करते हैं कि अन्त में विजय उन्हीं के सिद्धान्तों की होगी, फिर भी यह बात तो स्पष्ट है कि इस अन्तिम विजय के लिए वे तर्क का सहारा नहीं लेते वरन् काल का ही सहारा लेते हैं। चाहे वे कहें या न कहें उनका भाव यह है कि समय ही बतायेगा कि हमारी जीवन-व्यवस्था ही अधिक जीवन्त और काम्य है। विश्व की भावी एवं अन्तिम जीवन-व्यवस्था के सफल आविर्भाव में कालतत्त्व की स्वीकृति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। मैंने इसे अन्तिम जीवन-व्यवस्था इसलिए कहा है कि धीरे-धीरे मानव-चेतना एक-सी ही संस्कृति की ओर अग्रसर हो रही है और वर्तमान संक्रान्ति काल के उपरान्त जो व्यवस्था उदित होगी वह सम्भवतः एक विश्व-संस्कृति का रूप ही धारण कर लेगी। इस संस्कृति के उदय में चाहे कितनी ही देर लगे और चाहे इस बीच कितना ही व्यापक और भयानक संघर्ष क्यों न हो, इसका फल यही होगा। और वही वास्तव में नवीन का मूर्त रूप होगा।

नवीन के मूर्त रूप के उदय में कालतत्त्व की यह स्वीकृति एक अन्य स्वीकृति को भी अन्तभूर्त किये हुए है। वह है समाज की महत्त्व की स्वीकृति। यह एक दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राचीन युग बहुत सीमित शिक्षा का युग था। गिने-चुने व्यक्तियों को पढ़ने-लिखने की सुविधाएँ मिलती थीं और उनमें से कुछेक प्रतिभावान ही जीवन-व्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण-नियमन आदि किया करते थे। किन्तु आज का युग व्यापक शिक्षा का युग है। एक विशिष्ट स्तर तक की शिक्षा तो सभी व्यक्तियों को प्राप्त होती है या हो रही है। यह वह स्तर तो नहीं है जहाँ सभी नये विचारों की भावना कर सकें किन्तु यह वह स्तर अवश्य है जहाँ विचारों को समझ सकें, मन में बिठा सकें। ऐसी अवस्था में प्राचीन पद्धति का अस्वीकृत होना स्वाभाविक ही है। आज सच्चे अर्थों में एक युगचेता और लोकनायक दुर्लभ ही है। वह ज़माना लद गया जब कि एक व्यक्ति व्यवस्था देता था और सारा समाज उस पर श्रद्धा करता हुआ उसका अनुसरण करता था। आज असंख्य व्यक्ति हैं जो युगचेता होने का दावा करते हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है यदि एक सीमा तक रहे। यदि सीमा का अतिक्रमण भी कर जाय और उसे आतंकित करने वाली शक्ति का सहयोग प्राप्त न हो तो वह केवल उस चिन्तक के लिए हानिकर सिद्ध होगी। सम्भवतः इससे समाज की भी कुछ क्षति हो किन्तु वास्तविक हानि तो चिन्तक की ही होगी। चिन्तकों की उद्बुद्ध प्रतिभा ने निश्चित रूप से आज के चिन्तक

को तीव्र गति से विकासगामी बनाया है। इसीलिए आज दृष्टि-भेद और विचार-भेद इतना अनेक-रूप एवं तीव्र है।

समाज अधिक विकसित एवं व्यापक शिक्षा के कारण सभी विचारों को समझने की शक्ति रखता है। इसलिए व्यक्ति का चिन्तन तब तक प्रभावी नहीं बन सकता जब तक समाज उसे ग्रहण नहीं करता। और समाज उसे तब ग्रहण करता है जब कि वह विचार रचनात्मक हो, व्यवहार के द्वारा सिद्ध एवं फल के द्वारा पुष्ट हो। इसलिए आज विचार के लिए सामाजिक स्वीकृति अनिवार्य है। और यह स्वीकृति विचार की सामाजिक उपयोगिता पर ही निर्भर करती है। इसलिए यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज की सामाजिक व्यवस्था का रचनाकार समाज है, व्यक्ति नहीं। विचार तो व्यक्ति ही देता है लेकिन व्यक्ति विचार के सामाजिक पक्ष की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि वह उसकी उपेक्षा करता है तो वह व्यक्ति और विचार दोनों ही उपेक्षित रहेंगे। इस प्रकार उद्‌बुद्ध प्रजातन्त्र ही समाज-तन्त्र है इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता। मतभेद होता है, यह दूसरी बात है। इसके कई कारण हैं जिनके विवेचन का यहाँ अवकाश नहीं है। इस प्रकार शिक्षित-विकसित समाज अपनी व्यवस्था की रचना स्वयं ही करता है। इस रचना में व्यक्ति का योगदान सरल शब्दों में यह है कि वह समाज को स्पष्ट रूप से यह बताता है कि वह क्या चाहता है और जो वह चाहता है उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है। जब तक व्यक्ति समाज की नब्ज़ नहीं पहचानता, जब तक विचार समाज की नस को नहीं पकड़ता तब तक उसकी स्वीकृति भी नहीं होती। इस प्रकार सहअस्तित्व के मूल में जो कालतत्त्व की स्वीकृति है, उसकी जड़ समाज में रक्षित होती है।

तर्क के प्रति अनास्था तथा काल एवं समाज की निर्णायक के रूप में स्वीकृति के बावजूद भी कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिन पर उनके अनुयायियों की आस्था है। मगर वे सिद्धान्त भी एक अवस्था पर पहुँचकर तर्क को ताक में धर देते हैं। वे इस बात का प्रयास नहीं करते कि वे तर्क के बल पर अपने सिद्धान्त को दूसरों पर आरोपित करें। उन्हें आश्वस्त करने का प्रयास तो करते हैं मगर सहअस्तित्व को स्वीकार कर काल तथा समाज के महत्त्व को स्वीकृति देते हैं। ऐसे सिद्धान्तों में भी रूढ़िवादियों एवं उदारचेताओं के दो वर्ग बन गये हैं जो एक-दूसरे को असत्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

इसके विपरीत दूसरा वर्ग उन चिन्तकों का है जो प्राचीन सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर देता है, नवीन सिद्धान्तों या सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा का प्रयास ही नहीं करता और प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य की घोषणा करता है। इस सिद्धान्त में स्वतन्त्र चिन्तन और व्यक्तित्व के विकास के अधिक अवसर लक्ष्य कर अनेक उत्साही चिन्तक इस मत की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

यह नवीन की कोई व्याख्या नहीं करता। उसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना ही नवीन है जो भावात्मक कम और अभावात्मक अधिक है। इन दो चिन्तन-वर्गों का उदय ऐतिहासिक विकास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था है। एक ओर तो ऐसे सिद्धान्त हैं जो पूर्ण समाज के लिए एक निश्चित-मर्यादित जीवन-व्यवस्था का निरूपण एवं प्रचार करते हैं। इन सिद्धान्तों में जीवन का प्रत्येक पक्ष एक निश्चित पद्धति पर कार्यशील होता है। जीवन के सभी पक्षों का एक वैज्ञानिक सन्तुलन है जो अपनी सहजता में इतना दृढ़ है कि उसका उल्लंघन ही सम्भव नहीं है। दूसरी ओर वे सिद्धान्त हैं जो इस प्रकार की किसी निश्चित-मर्यादित व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इनमें जीवन का प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक तत्त्व अपनी वांछित दिशा की ओर अग्रसर हो सकता है। किसी प्रकार की कोई बाधा, कोई विघ्न सिद्धान्त की ओर से नहीं है। और वे मत जो विघ्न रूप हैं उन्हें तो पहले ही अस्वीकार कर दिया जाता है। स्पष्ट है मानव-साधना की ये दो चरम परिणतियाँ हैं जो आज संघर्षलीन हैं। समय और समाज ही इनके भविष्य का निर्णय करेगा।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि विज्ञान के द्रुत विकास के फलस्वरूप बाह्य का संकोच और अंतस् का विस्तार भी उतनी ही द्रुत गति से हुआ है। वस्तुतः यह नये व्यक्तित्व के विकास की व्याख्या ही है। बाह्य सृष्टि की चेतना जैसे-जैसे सीमित हुई वैसे ही वैसे मानव की आकांक्षा की सीमा का विस्तार हुआ। और आज यह आकांक्षा समग्र सृष्टि के ओर-छोर छू रही है। व्यक्ति-साधना यह चाहती है कि उसका प्रचार सारे विश्व में हो जाय। पुराना व्यक्ति परम्परावादी था। परम्परा पर आस्था होने के कारण वह उसी के निर्वाह में अपनी प्रतिभा की सफलता मानता था। इस परम्परावादी आग्रह का ही फल है कि वह विभिन्न युगों के प्राचीन मतों एवं सिद्धान्तों की व्याख्याओं से ही सन्तुष्ट हो गया। उनकी साधना के लिए नियत मार्ग बने हुए थे जो उनकी परम्परा-विषयक आस्था ने निर्मित किये थे। किन्तु आज का व्यक्ति परम्परा पर अनास्था रखने के कारण, आकांक्षा की अप्रतिम उद्दीप्ति के कारण प्राचीन की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी आकांक्षा और प्राचीन विषयक उसकी अनास्था उसे कुछ नवीन और मौलिक करने को उकसाती है। और पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के वातावरण में प्रत्येक साधक अपना नवीन, अपना मौलिक खोजने का प्रयास करता है। यह नवीन एक ओर प्राचीन से सर्वथा भिन्न होना चाहिए और उसके साथ ही साथ व्यापक आकांक्षा की तृप्ति का साधक भी। इसलिए मौलिकता और नवीनता की धूम मची हुई है।

नवीन मौलिक की स्थापना के लिए प्राचीन परम्परा के खण्डन की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। अतः प्राचीन मिथ्यात्व-पूर्वक नवीन की प्रतिष्ठा

आज का एक युग-मन्त्र है। इसमें प्रथम पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है। कारण यह है कि एक वर्ग विशेष के चिन्तन के अनुसार प्राचीन का मिथ्यात्व ही नवीन की सिद्धि है। इसके अनुसार व्यक्ति प्राचीन मान्यताओं एवं परम्पराओं की शृंखलाओं में बद्ध है। उसकी चेतना को रूढ़ियों के जाल ने ग्रसित कर लिया है। उन रूढ़ियों के कारण उसकी चेतना, उसकी साधना उन्हीं प्राचीन जड़ सरणियों में बहती रहती है। इसलिए न तो साधना का सही रूप निखरता है और न ही जीवन का सच्चा विकास होता है। आवश्यकता इस बात की है कि रूढ़ियों की उन शृंखलाओं को झकझोरकर तोड़ दिया जाय और चिर-ग्रसित मानव-चेतना को मुक्ति प्रदान की जाय। प्राचीन के मिथ्यात्व की सिद्धि से मन प्राचीन की कैद से मुक्त हो जायेगा। यह मुक्ति ही नवीनता का परम मूल्य है। फिर इस मुक्ति और पूर्ण स्वातन्त्र्य के वातावरण में व्यक्ति-साधना अपना उन्नयन करती हुई जीवन की गति को सही दिशा की ओर उन्मुख कर सकती है। नवीन साधना-सरणियों के लिए कोई जड़-सिद्धान्त या कोई फार्मूला नहीं पेश किया जाता। इस स्तर पर साधना को पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदान की जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नवीन मौलिक परम्परा-मुक्त बन्धविहीन उस साधना में स्वच्छन्दतावाद की चरम परिणति हुई है। स्वच्छन्दतावाद एक ऐतिहासिक तथ्य है जो किसी न किसी रूप में सभी सजग जातियों में प्रकट हुआ है। जहाँ विभिन्न देशों और जातियों के स्वच्छन्दतावाद के पारस्परिक प्रभाव का उल्लेख किया जाता है, वहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि मूलतः स्वच्छन्दतावाद देश-विशेष की सांस्कृतिक परम्परा के विकास का एक स्वाभाविक चरण है जो पारस्परिक प्रभाव के अभाव में भी निश्चित रूप से उदित होता, चाहे उसके रूप में थोड़ा अन्तर अवश्य हो जाता। स्वच्छन्दतावाद और नवीनतावाद में विकास के सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण परम्परा-विरोधी प्रवृत्ति के स्तर पर ही होता है। किन्तु स्वच्छन्दतावाद परम्परा-विरोधी होकर भी परम्परा से अनुप्राणित रहा। उसने जहाँ मानव-मन की गहराइयों की ओर झाँका, वहाँ सूक्ष्म के प्रति भी उसमें विशेष आग्रह बना रहा। स्वच्छन्दतावाद परम्परा से पूर्ण रूप से स्वच्छन्द नहीं हो सका वरन् वह परम्परा के अनुकूल तत्त्वों को अतीत के गर्भ से निकाल लाया और मानव-चेतना के समकक्ष समन्वित रूप से उनकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार वह उस सूक्ष्म के धरातल पर किसी-न-किसी रूप में आत्मवाद को स्वीकार करता ही रहा, जो प्राचीन परम्परा का एक महिमाशा ली मूल्य था। अतः सिद्ध है कि स्वच्छन्दतावाद पूर्ण रूप से स्वच्छन्द नहीं रहा।

उसकी आंशिक स्वच्छन्दता मुखर होती है उसके भाववादी दृष्टिकोण में

जो व्यक्तिमूलक भी था। या तो सूक्ष्म चैतन्य के स्तर पर, या उसके जीवन-तत्त्व—भाव अथवा मनोवेग के स्तर पर समग्र मानव-जाति के मूलस्वरूप का प्रकाशन कर उसके भावात्मक ऐक्य की प्रतिष्ठा किसी-न-किसी रूप में विश्व भर के स्वच्छन्दतावादी साहित्य में पायी जाती है। प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों ने तर्क के बल पर और फिर तर्क के साथ-साथ भक्ति के बल पर जिस एकता की घोषणा की थी, उसी एकता की व्यंजना स्वच्छन्दतावाद ने भाव के स्तर पर की। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद भी एक सिद्धान्त या सम्प्रदाय-सा बन गया। किन्तु यह सम्प्रदाय तर्कमूलक या भक्तिमूलक न होकर भाव या मनोवेगमूलक था।

नवीनतावाद इस भावमूलक सम्प्रदाय को भी स्वीकार नहीं करता। वह किसी ऐसे तत्त्व की स्वीकृति से इन्कार करता है जो मानव-समाज को सूत्रबद्ध या संगठित रूप से पेश कर सके। अतः स्वच्छन्दतावाद का खण्डन भी उसके लिए अनिवार्य हो गया और इसलिए जहाँ उसने एक ओर प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की व्यर्थता की घोषणा की वहाँ स्वच्छन्दतावाद को भी मिथ्या तथा आत्मवंचना माना। नवीनतावाद का सबसे अधिक विवादास्पद तत्त्व यही है और इसके साथ-साथ दुर्बल भी।

जहाँ तक तर्कात्मक सम्प्रदायों की सीमाओं का प्रश्न है उस पर विवाद करना बेसूद है। किन्तु भावात्मक एकता अथवा साम्य की यह अस्वीकृति उतनी सरल नहीं है जितनी सरलता से वह व्यक्त कर दी जाती है। यह स्पष्ट है कि भाव की सत्ता और महत्त्व की स्वीकृति का तात्पर्य होगा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच समानता की स्वीकृति जो कि नवीनतावादी दृष्टि के अनुकूल नहीं पड़ती। नवीनतावाद जिस पूर्ण स्वच्छन्दता का उद्‌घोष करता है उसकी सबसे बड़ी सीमा भाव ही है। इसलिए इस सीमा का निराकरण करने के लिए यह अनिवार्य है कि या तो व्यक्ति और व्यक्तित्व के बीच की भाव की समानता को अस्वीकार किया जाय, और नहीं तो भाव की सत्ता और उसके महत्त्व को अस्वीकार किया जाय। वस्तुतः नवीनतावाद दोनों में से एक कार्य भी सिद्ध नहीं कर पाया। न तो वह यह कर सका है कि एक व्यक्ति के भाव दूसरे व्यक्ति के भाव से भिन्न हैं और न ही वह भाव की सत्ता को ही अस्वीकार कर पाया है। हाँ, उसने भाव और भाव-सम्बन्धी सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को अवश्य अस्वीकार कर दिया है, किन्तु इससे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए अभी तक के प्राप्त चिन्तन से यह स्पष्ट है कि नवीनतावाद अपना भावविषयक चिन्तन सबल आधार पर स्थित नहीं कर पाया। आज मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण के क्षेत्र में जो भाव के विश्लेषण का कार्य हो रहा है उससे तो व्यक्ति और व्यक्ति के भाव साम्य की सिद्धि होती है।

परम्परा और प्रयोग : सृष्टि में विकास के सत्य को आज सभी स्वीकार करते हैं। जन्तु-विज्ञान एवं वनस्पतिशास्त्र में जो नयी खोजें हुई हैं उनके आधार पर यह अध्ययन करने की कोशिश की गयी है कि आज के जीव और पेड़-पौधे किस रूप में प्राचीन जीवों तथा पेड़-पौधों से विकसित हुए। विकासवाद के सिद्धान्त ने अध्ययन की एक नयी दृष्टि प्रदान की जिसका उपयोग अन्य क्षेत्रों में भी आरम्भ हुआ। इसी दृष्टि को अपनाकर संस्कृति और साहित्य के अध्ययन का प्रयास भी किया गया। ऐतिहासिक तथ्यों एवं सामग्री की सीमित उपलब्धि के कारण इस प्रकार के प्रयासों की भी अपनी सीमाएँ हैं। किन्तु उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आज चिन्तन ने एक नया मोड़ लेने का प्रयास किया है। इसके अनुसार व्यक्ति को परम्परा के विरुद्ध उपस्थित कर उसे परम्परा से स्वच्छन्द रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास लक्षित हो रहा है। यह प्रयास अपनी नवीनता में चाहे कितना ही आकर्षक प्रतीत हो, और चाहे उसे कितने ही अनुयायी क्यों न मिल जायँ, वह अध्ययन के इस क्रम को उलटने में असमर्थ ही रहेगा, यह निश्चित है।

मानव-संस्कृति के उपलब्ध इतिहास को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इसमें जहाँ एक ओर पुरानी परम्पराओं की स्वीकृति तथा पुष्टि होती रहती है वहाँ दूसरी ओर उनका खण्डन कर नयी दृष्टियों एवं विचारधाराओं का उन्मेष भी होता रहता है। प्राचीन और नवीन के इन तत्त्वों के लिए ही परम्परा और प्रयोग शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

परम्परा और प्रयोग का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए कई बुनियादी सवाल पैदा होते हैं।

सबसे पहला सवाल तो यह है कि परम्परा किसे कहते हैं और उसका निर्माण कैसे होता है ?

परम्परा एक अत्यन्त व्यापक अर्थ वाला शब्द है और प्रसंगानुसार साहित्यिक आदि विशेषण लगाकर उसका प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत विवेचन का आरम्भ हम सांस्कृतिक परम्परा के विश्लेषण से करेंगे।

अधिक अवस्था में जब मनुष्य में भाषा का विकास नहीं था और जब उसमें चिन्तन की शक्ति भी पाशविक धरातल तक ही थी, मनुष्य की परम्परा किसी भी जन्तु के जीवन की परम्परा-सी रही होगी। उसका नियन्त्रण प्राकृतिक आँखों द्वारा ही होता रहा होगा और इन प्राकृतिक भूखों की तृप्ति के अतिरिक्त और कोई जीवन-साधना का रूप न रहा होगा। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य-जीवन की परम्परा पूरी तरह से प्रकृति के नियमों के अधीन रही होगी और प्राकृतिक जड़-रूप से ही प्रवाहित रही होगी।

इस अवस्था के विपरीत जब मनुष्य में भाषा और बुद्धि का सजग उन्मेष हुआ होगा तो उसके जीवन में एक नये तत्त्व ने प्रवेश किया होगा। यह नया तत्त्व था सजगता। इस अवस्था में जीवन एक ओर तो प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित रहा होगा और दूसरी ओर मनुष्य की सजगता के द्वारा। कहीं तो प्रकृति और सजगता मिलकर काम करते रहे होंगे और कहीं-कहीं उनमें विरोध भी हुआ होगा। दूसरी परिस्थिति में या तो सजगता ने प्रकृति को अपने अनुकूल बनाया होगा या उससे किसी अन्य प्रकार से समझौता किया होगा। इस प्रकार जीवन का यह काल प्रकृति और सजगता या विवेक की सम्मिलित सक्रियता का काल था। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी सजगता या विवेक का उपयोग।

समय के बीतने के साथ-साथ सजगता का विकास होता गया। ऐसी परिस्थिति में जीवन में तीन तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा—एक प्रकृति, द्वितीय सजगता और तृतीय जीवन-धारा या परम्परा। परम्परा दरअसल प्रकृति और सजगता की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है। एक ओर तो प्रकृति ने जीवन पर अपने बन्धन आरोपित किये, मनुष्य की आवश्यकताओं को अपनी सीमाओं के भीतर पूरा करने की चुनौती दी। इस चुनौती को मनुष्य की सजगता ने स्वीकारा और प्रकृति की अनुकूलता से फ़ायदा उठाया तथा उसकी प्रतिकूलता को जीतने का प्रयास किया। आवश्यकता-पूर्ति के जो साधन प्रकृति ने दिये उन्हें स्वीकार किया, अन्य साधनों को अपनी सजग शक्ति के आधार पर उत्पन्न किया और प्रकृति के खतरों से बचने के लिए उपाय खोजे। इस प्रकृति तथा सजगता के सम्मिलन से मनुष्य ने जो अनुभव पाया उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ाने का तथा विकसित करने का प्रयास किया। इस प्रकार जो जीवन-रीति एक पीढ़ी की रही उसे दूसरी पीढ़ी ने अपनाया लेकिन प्रकृति और सजगता के संघर्ष ने उसमें नये तत्त्व जोड़ने की कोशिश भी की। इस प्रकार पीढ़ी दर-पीढ़ी जो जीवन-धारा आगे बढ़ी वह परम्परा कहलाती है।

जैसे-जैसे व्यक्ति के विवेक का विकास हुआ वैसे ही वैसे प्रकृति के साथ संघर्ष के नये रूप उभरे और जीवन को जटिलता प्राप्त हुई। मगर जटिल-से-जटिल जीवन-परम्परा में भी वही क्रम चलता रहा जिसका संकेत ऊपर किया गया है। एक पीढ़ी ने ऊपर की पीढ़ी से अनुभव की परम्परा को स्वीकारा तथा अपने विवेक के अनुसार उसमें कुछ जोड़कर आनेवाली पीढ़ी के लिए छोड़ दिया। इस प्रकार पीढ़ियाँ आती रहीं और जाती रहीं मगर परम्परा निरन्तर चलती रही और वही परम्परा आज हमें विरासत के रूप में प्राप्त हुई।

यह तो स्पष्ट है कि जीवन की जटिलता के साथ-साथ परम्परा का स्वरूप अधिक दुरूह होता चला गया और व्यक्ति का विवेक जितना ही जागृत हुआ, परम्परा का स्वरूप समझना उतना ही मुश्किल होता गया। लेकिन मूल सिद्धान्त वही रहा।

ऊपर के विवेचन से एक बात तो साफ़ है कि परम्परा में सामान्यतः कुछ-न-कुछ नवीनता भी शामिल होती रहती है। दो साथ की पीढ़ियों की जीवन-रीतियाँ एक ही परम्परा में आती हुई भी थोड़ी भिन्नता रखती हैं। यह अन्तर या नवीनता परम्परा सहन कर सकती है। परम्परा का यह विकास व्यक्ति के शारीरिक विकास के समान ही है। व्यक्ति के शरीर में निरन्तर परिवर्तन-विकास एवं ह्रास होता रहता है मगर जिसे हम रोज़ देखते हैं उसमें परिवर्तन दिखायी नहीं देता। इसके विपरीत जिसे हम कुछ अर्से बाद देखें उस व्यक्ति के शारीरिक परिवर्तन का ज्ञान हमें सरलता से हो जाता है। यही बात परम्परा की भी है। हम जीवन की परम्परा के भीतर रहते हैं इसलिए उसमें होने वाले परिवर्तन को आसानी से नहीं देख सकते। जब सजग रूप से देखने का प्रयास करते हैं तभी परिवर्तन के लक्षण दिखायी देते हैं।

परम्परा में जहाँ एक ओर प्राचीन और नवीन का सम्मिलन होता रहता है, वहाँ इन दोनों का संघर्ष भी होता रहता है। इस संघर्ष के रूप को भी समझ लेना चाहिए।

हर पीढ़ी अपनी परिपक्व अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते अपनी सांस्कृतिक परम्परा का रूप निश्चित कर लेती है। जब एक बार वह रूप निश्चित हो जाता है तो वह उसे ही जीवन का आधार बना लेती है। लेकिन तब तक जिस नयी पीढ़ी का उदय होता है वह उसे परम्परा में परिवर्तन का प्रयास करती है। उसमें कुछ नवीनता लाने की कोशिश करती है। नतीजा यह होता है कि पुरानी पीढ़ी अपनी परम्परा को और भी दृढ़ता के साथ पकड़ने की कोशिश करती है और अपने रौब के बल पर नयी पीढ़ी को परिवर्तन करने से रोकने की कोशिश करती है। इस प्रकार नयी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष होने लगता है। यह संघर्ष वस्तुतः नवीनता और प्राचीनता का संघर्ष ही है। यह संघर्ष सांस्कृतिक परम्परा के भीतर हमेशा ही चलता रहता है। नतीजा यह होता है कि जब नयी पीढ़ी प्रौढ़ता की सीमा तक पहुँचती है तो उसका सांस्कृतिक जीवन प्राचीन परम्परा से थोड़ा भिन्न हो जाता है और फिर उसका नयी पढ़ी से संघर्ष शुरू होता है।

इस संघर्ष के दो परिणाम होते हैं। पुरानी पीढ़ी के प्रयास के फलस्वरूप तो सांस्कृतिक तारतम्यता बनी रहती है और नयी पीढ़ी की कोशिशों से उसमें

नवीनता का सम्मिलन होता रहता है। क्रमबद्धता का श्रेय पुरानी पीढ़ी को होता है और नवीनता का श्रेय नयी पीढ़ी को।

दो पीढ़ियों के बीच सांस्कृतिक परम्परा का स्वरूप क्या रहेगा यह निर्भर करता है उन पीढ़ियों की सापेक्षिक शक्ति पर। अगर पुरानी पीढ़ी अधिक बलवान है तो प्राचीन से अनुरूपता अधिक होगी। अगर नयी पीढ़ी क्रान्तिकारी है तो सांस्कृतिक परम्परा में भी क्रान्ति उत्पन्न हो जायेगी।

यह सवाल हो सकता है कि सांस्कृतिक परम्परा में किन कारणों से नयापन आता है?

पहली बात तो यह है कि जिन कारणों से परम्परा में नवीनता आती है उन्हें ही प्रयोग कहा जाता है। ये प्रयोग चाहे सजग रूप से किये जायँ चाहे वे सहज रूप से हो जायँ, नवीनता के वाहक होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम यह जानने की कोशिश करें कि ये प्रयोग होते क्यों हैं?

प्रयोग के दो कारण हैं। एक तो यह कि सांस्कृतिक परम्परा एक चेतन साधना है। और चेतन होने के नाते यह उसके स्वभाव में ही है कि वह अपने लिए नये-नये रास्ते खोजे। इस प्रकार एक धारा जो एक युग में प्रवाहित होती है वह उसी युग में अन्तिम अवस्था तक नहीं पहुँच पाती। उसका विकास व्यक्ति और समाज दोनों के धरातल पर होता है और यह विकास एक व्यक्ति या एक पीढ़ी तक ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि आनेवाली पीढ़ियों में व्यक्ति और समूह के धरातल पर वे धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। प्राचीन काल में प्रवाहित होनेवाले धार्मिक-दार्शनिक मत-मतान्तरों के इतिहास में यह भली-भाँति देखा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो विचार एक युग में उपस्थित होता है वह कभी-कभी कई पीढ़ियों तक विकसित-पल्लवित होता रहता है, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि नयी पीढ़ियाँ कोई नयी दृष्टि लेकर आती हैं बल्कि इसलिए भी कि उस विचार के सभी पक्ष एक व्यक्ति या एक पीढ़ी की साधना में स्पष्ट नहीं हो पाते। दूसरे शब्दों में उस विचार में इतना लचीलापन होता है, उसमें इतनी उदारता होती है कि वह विकसित किया जा सकता है। अतः यहाँ एक ओर तो उस विचार के लचीलेपन के कारण और दूसरी ओर नयी पीढ़ी की नयी दृष्टि के कारण एक नया तत्त्व उभरता है और परम्परा को प्रभावित करता है। नयी पीढ़ी की नयी दृष्टि यह प्रयोग का दूसरा कारण है।

उदाहरण के तौर पर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक शैली से लेकर छायावादी शैली तक का विकास देखा जा सकता है। द्विवेदी-युग में कविता के लिए ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की स्वीकृति एक युगान्तरकारी प्रयोग था। इसलिए काव्य-शैली की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की अपेक्षा द्विवेदी-

युग क्रान्तिकारी था। लेकिन क्या यह प्रयोग यहीं समाप्त हो गया ? क्या इस स्वीकृति का आगे विकास नहीं हुआ ? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। इस स्थिति का आगे विकास हुआ। एक ओर तो श्रीधर पाठक की काव्य-शैली में उसका स्वाभाविक विकास लक्षित होता है जिसमें नये प्रयोग विद्यमान हैं, दूसरी ओर छायावादी कवियों में बाहरी प्रभाव के कारण नये प्रयोग दिखायी देते हैं। इन नये प्रयोगों को ध्यान से देखने पर विकास के दोनों तत्त्वों का सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। पहली बात तो यह स्पष्ट है कि काव्य-शैली के रूप में स्वीकृत खड़ी बोली में यह योग्यता या यह लचीलापन था कि उसका विकास किया जा सके। अब यह विकास होता है दो रूप में। एक रूप तो वह है जिसमें व्यक्ति की सहज साधना ने ही इसमें नये प्रयोगों की सृष्टि की है जैसे श्रीधर पाठक की काव्य-शैली में। दूसरा रूप वह है जिसमें व्यक्ति की साधना के साथ-साथ बाहरी प्रभाव ने इन प्रयोगों को जन्म दिया है जैसे प्रसाद आदि छायावादी कवियों में। और दोनों ही अवस्थाओं में प्रयोग का वह रूप ही मान्य हुआ जो खड़ी बोली काव्य-शैली के लिए अनुकूल था।

इस उदाहरण में परम्परा और प्रयोग के सम्बन्ध के दोनों रूप स्पष्ट होते हैं। अगर भारतेन्दु से द्विवेदी तक के काव्य-शैली के परिवर्तन को देखें तो वह एक युगान्तरकारी प्रयोग था जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा के स्थान पर एक बिलकुल नयी भाषा काव्य में प्रतिष्ठित हुई। प्रयोग के इस रूप को क्रान्ति कहा जा सकता है। प्रयोग का दूसरा रूप वह है जो खड़ी बोली काव्य-शैली के विकास में लक्षित होता है। इसने परम्परा को विकसित किया है किन्तु उसे सर्वथा नवीन नहीं बनाया। संस्कृति के इतिहास में दोनों प्रकार के प्रयोग कार्यशील रहे हैं और दोनों का ही अपना-अपना महत्त्व है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों का अपने-अपने युग में विरोध हुआ। खड़ी बोली के विरुद्ध ब्रजभाषा के समर्थकों का एक दल सामने आया जिसने भरसक यह कोशिश की कि ब्रजभाषा ही काव्य-शैली बनी रहे। छायावादी प्रयोगों के विरोध में भी जटिलता, दुरूहता आदि के तर्क उपस्थित किये गये। लेकिन दोनों ही परिस्थितियों में विरोध सफल नहीं हुआ।

इसका यह मतलब नहीं कि विरोधों का कोई लाभ ही नहीं हुआ। दोनों ही अवस्थाओं में किसी-न-किसी रूप में विरोध का लाभ हुआ। खड़ी बोली का जो विरोध हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि खड़ी बोली के समर्थकों ने तेज़ी से इस बात की कोशिश की कि खड़ी बोली में काव्य-भाषा के गुण भरी-पूरी मात्रा में प्रतिष्ठित कर दिये जायँ। छायावादी शैली का जो विरोध हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि छायावादी शैली को संयत बनने की प्रेरणा मिली।

अब सवाल यह पैदा होता है कि नये प्रयोगों का परम्परा और युग की प्रवृत्ति से क्या सम्बन्ध होता है ?

इस सवाल का उत्तर देने के लिये हमें दोनों प्रकार के प्रयोगों पर अलग-अलग विचार करना होगा। पहले प्रयोग के क्रान्तिकारी रूप को लीजिए।

क्रान्तिकारी प्रयोग का महत्त्व उसके सही अर्थ पर करता है। मतलब यह है कि यह देखना होगा कि किस तत्त्व के लिए कान्तिकारी प्रयोग का नाम दिया जा रहा है और संस्कृति के व्यापक रूप में उस तत्त्व का क्या स्थान है। आधुनिक काल के भीतर के ही तीन उदाहरण लीजिए। साहित्य में सीमित शृंगार के स्थान पर जीवन की व्यापक प्रतिष्ठा भी एक क्रान्तिकारी प्रयोग था, ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा भी एक क्रान्तिकारी प्रयोग था और पुराने छन्दों के स्थान पर मुक्त छन्द की स्वीकृति भी एक क्रान्तिकारी प्रयोग था। इन सभी अर्थों में हम प्रयोग तथा क्रान्ति दोनों ही शब्दों का इस्तेमाल कर सकते हैं। यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि इन तीनों ही प्रयोगों का महत्त्व निर्भर करता है उनके अर्थ पर, उस तत्त्व पर जिसे उन्होंने प्रभावित तथा परिवर्तित किया है। यद्यपि तीनों प्रयोगों ने ही अपने-अपने क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की लेकिन पहला प्रयोग क्षेत्र की व्यापकता और महत्त्व की वजह से सबसे अधिक प्रभावशाली था और तीसरा अपने क्षेत्र की सीमाओं के कारण सबसे कम। हालाँकि तीनों ने साहित्य-साधना को नये मूल्य दिये लेकिन तीनों का महत्त्व समान नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रयोग का महत्त्व आधारित है उस क्षेत्र पर जिसे वह प्रयोग प्रभावित करता है। जितने व्यापक क्षेत्र को वह प्रभावित करता है, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मानव-संस्कृति के इतिहास में ऐसे क्रान्तिकारी प्रयोगों (क्रान्तियों) के उदाहरण भी मिलते हैं जिन्होंने एक साथ समूचे जीवन-रूप को प्रभावित किया है। मार्क्सवाद की ख़ूनी क्रान्ति का सिद्धान्त इसी के अन्तर्गत आता है और जहाँ-जहाँ ऐसी क्रान्तियाँ हुई हैं, वहाँ समग्र जीवन की व्यवस्था के रूप में परिवर्तन आया है। इस प्रकार क्रान्ति (जो कि प्रयोग का एक रूप ही है) पूर्व-परम्परा को पूरी तरह से या लगभग पूरी तरह से बदल देती है। क्रान्ति के प्रभाव से पुरानी व्यवस्था चाहे वह जीवन की हो, काव्य की हो या भाषा-छन्द आदि की हो, समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर एक नयी रीति का विकास होता है। इस नयी रीति में पुरानी रीति के कुछ तत्त्व हो सकते हैं या नहीं यह विवाद का विषय है। बिना इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की पूरी जानकारी प्राप्त किये इसके बारे में कोई सामान्य सिद्धान्त तो नहीं बनाया जा सकता लेकिन हम समझते हैं कि ऐसा सम्भव है कि नवीन के निर्माण में

प्राचीन के कुछ अंशों का विकसित तथा संशोधित रूप में प्रयोग किया जा सके। इसका कारण यह है कि जीवन-साधना एक अन्धा-व्यापार नहीं है। वह विवेक और सजगता पर आधारित है। यह सम्भव है कि विवेक और सजगता के बल पर जीवन के अपेक्षाकृत अधिक स्थायी मूल्यों का उद्‌घाटन किया जा सके। और ये मूल्य क्रान्ति के बाद के नवीन के लिए भी स्वीकार्य हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमारी यह सम्भावना मनुष्य की विवेक-शक्ति की आस्था पर आधारित है।

मगर इसका यह मतलब भी नहीं है कि हरेक क्रान्ति के बाद की जीवन-व्यवस्था में ऐसे तत्त्व मिलते हैं या मिलने चाहिए। ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। इस विषय में मूल सिद्धान्त यह है कि प्रयोग का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक होगा, प्राचीन के कुछ तत्त्वों के जीवित रहने की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी और प्रयोग का क्षेत्र जितना संकुचित होगा, यह सम्भावना उतनी ही कम होगी। अगर प्रयोग सारे जीवन को समेटने की कोशिश करता है तो प्राचीन का कुछ अंश जीवित रहने की आशा कर सकता है और अगर प्रयोग किसी एक अंश को ही छूता है तो प्राचीन के जीवित रहने की आशा कम है।

यहाँ यह जान लेना भी बहुत ज़रूरी है कि आज के संक्रान्ति-दर-संक्रान्ति के युग में प्रयोग, चाहे वह कितना ही क्रान्तिकारी क्यों न हो, कभी-कभी प्राचीन का स्थानापन्न नहीं हो पाता वरन् नये प्रयोग के साथ-साथ प्राचीन भी उसी रूप में या कुछ विकसित रूप में चलता रहता है। आज के हमारे साहित्य और जीवन में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। नयी विचारधारा, रूप और शिल्प के साथ-साथ पूर्ववर्ती विचारधाराएँ, रूप और शिल्प भी विद्यमान हैं और जीवित रूप से विद्यमान हैं।

यह तो हुआ प्रयोग के क्रान्तिकारी रूप का विवेचन। अब प्रयोग के विकासात्मक रूप को लीजिए—जैसे इतिवृत्तात्मकता के बाद छायावादी शैली का आगमन।

इस उदाहरण में मूल तत्त्व—भाषा—में परिवर्तन नहीं हुआ। भाषा तो वही रही। मगर खड़ी बोली की परिधि में नये प्रयोग हुए। संस्कृत के शब्दों का प्रयोग तो खड़ी बोली में पहले से ही हो रहा था। लेकिन अब शब्दों को नयी दिशाओं में रखकर नये अर्थों को व्यंजित करने का प्रयास किया गया। स्पष्टतः यह प्रयास एक प्रयोग ही था। लेकिन यह मूल तत्त्व का नवीन प्रयोग न होकर मूल तत्त्व के भीतर एक नया प्रयोग था। इससे भाषा की शक्ति का विकास हुआ और जीवन के नये आयाम और नये संवेदन को वाणी मिली। जब भाषा का यह प्रयोग कुछ अर्से तक चलता रहा तो वह प्रयोग न रहकर

परम्परा का अंग बन गया और इस प्रकार वह कुछ समय बाद स्वयं एक नये प्रयोग का आधार बन गया ।

इस दृष्टि से परम्परा को प्रयोगों की क्रमबद्ध सृष्टि कहा जा सकता है । समय के एक बिन्दु पर जो प्रयोग है, वही दूसरे बिन्दु पर आकर परम्परा की कड़ी नज़र आने लगता है । इसलिए अगर प्रयोग न हों तो परम्परा का निर्माण ही न हो । जीवन हमेशा एक-जैसा, गतिहीन और बासी प्रतीत होने लगे । प्रयोग ही परम्परा को गति देता है । इतिहास में जो स्थिर तत्त्व है वह परम्परा के भीतर संचित रहता है और जो गतिशील है वह प्रयोग का रूप धारण करके आता है ।

प्रयोग हमेशा प्रयोग नहीं बना रहता । यह उसी स्थिति में हो सकता है जब कि जीवन स्थिर हो जाय, साधना थक जाय, साँस रुक जाय । यह मौत की निशानी है । इसीलिए प्रयोग कभी आदर्श नहीं बन सकता । वह साध्य नहीं बन सकता । प्रयोग की सत्ता ही यही है कि वह चंचलता लेकर आये और स्थायित्व देकर चला जाय । चंचलता प्रयोग का सहज गुण है । इस चंचलता का समाज-विरोधी रूप भी हो सकता है । क्योंकि यह ज़रूरी नहीं कि प्रयोग हमेशा समाज का साधक होकर ही आये । प्रत्येक चंचलता साधना नहीं हुआ करती । वह चपलता और दुर्बलता का रूप भी ले सकती है और लेती है । प्रयोग के नाम पर ऐसी चपलता और दुर्बलता भी प्रकट होती रही है । उसे समर्थक भी मिलते रहे हैं । लेकिन उसे कभी स्थायित्व नहीं मिला । जब तक मानव का विवेक बौखला नहीं जाता तब तक ऐसी असंगति सम्भव नहीं है ।

यह सवाल हो सकता है कि प्रयोग को जन्म देनेवाला मूल तत्त्व कौन-सा है ? क्या वह परम्परा से निसृत होता है या कोई अपने आप होनेवाली घटना है ?

इसका एक उत्तर तो यह है कि परम्परा समय के कैमरे में अंकित गतिशीलता का एक स्थिर चित्र है । उसमें गति होती है मगर अपने युग में । समय के किसी-न-किसी चरण में उसकी प्रत्येक कड़ी सजीव हुआ करती है । यह वही कड़ी है जिसे हमने ऊपर प्रयोग कहा है । यह कड़ी प्राचीन और नवीन के बीच का सम्बन्ध जोड़ती है और अपने युग की चेतना की प्रतीक हुआ करती है ।

परम्परा क्या है ? इस प्रश्न को समझने के लिए मूल बात तो यह जाननी होगी कि सृष्टि का प्रधान सत्य मनुष्य है । उसका जीवन, उसका विवेक, उसकी साधना यह वह बुनियाद है जिस पर सृष्टि का सारा ढाँचा खड़ा है । और जीवन क्या है ? लालसा का एक तूफ़ान, कामना की आँधी, गतिशीलता का एक दरिया । जहाँ गति नहीं, वहाँ जीवन नहीं । इसलिए गति जीवन का

स्वभाव है। और इसीलिए यह जीवन की परम्परा का भी लक्षण है। यह गति ही प्रयोग को जन्म देती है। और गतिजन्य प्रयोग ही परम्परा का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से प्रयोग और परम्परा में कोई विरोध नहीं। और प्रयोग परम्परा का एक सहज प्राकृतिक चरण है।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे काल की, कालक्रम की गम्भीर चेतना है और वह हर घड़ी का हिसाब रखता या रख सकता है। कल्पना कीजिए कि व्यक्ति में यह कालक्रम की अवधारणा न होती और शेष शक्तियाँ उसमें होतीं। इसका परिणाम क्या होता ? यही कि हरेक पीढ़ी, हरेक व्यक्ति केवल अपने वर्तमान को ही जानता। प्रत्येक बात एक प्रयोग होती और वह उसे जान भी न पाता। क्योंकि प्रयोग और परम्परा दोनों का ही आधार समय की अवधारणा है। काल की चेतना के अभाव में ये दोनों ही अवधारणाएँ विलीन हो गयी होतीं और व्यक्ति शुद्ध रूप से क्षणजीवी होता।

लेकिन सौभाग्य या दुर्भाग्य से ऐसी स्थिति नहीं है। काल की चेतना ने जीवन की धारा को परम्परा और प्रयोग में विभाजित कर दिया है। और इस प्रकार जीवनधारा को एक सजग सम्बद्धता मिली है।

लेकिन काल-चेतना कभी-कभी एक शाप-सी प्रतीत होने लगती है। इसीलिए प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने परम सत्य को कालातीत माना है। काल वैसे तो अपने-आप में ही एक बन्धन है। और इसीलिए साधक उस पर विजय पाना चाहता है। उसे जीतकर कालातीत होना चाहता है, कालातीत से तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार काल के बन्धन ने व्यक्ति को कालातीत के साथ संयुक्त होने के लिए उकसाया। यह पुरानी बात है।

काल के बोझ ने आज के व्यक्ति को एक विपरीत दिशा की ओर भी प्रेरित किया। कालातीत की साधना की अपनी कठिनाइयाँ हैं, अपनी सीमाएँ हैं और अपनी योग्यताएँ हैं। आज के व्यक्ति ने उनसे बचना चाहा। कालातीत के सत्य को अस्वीकारना चाहा। लेकिन काल के बोझ का इलाज तो होना ही चाहिए। इस बन्धन का निदान तो मिलना ही चाहिए। उसने सोचा काल की चेतना को ही खत्म करने की कोशिश क्यों न की जाय ? क्यों इस बोझ को कन्धे पर रखे घूमा करें ? क्यों न इस भार को फेंक दें ? प्राचीन को भुला दो, अनागत की चिन्ता न करो, वर्तमान में ही जियो। यही इलाज है जो काल-चेतना के रोग से मुक्त कर सकता है। वर्तमान में, सामने आये हुए क्षण में ही डूब जाओ। पीछे और आगे की ओर साधना को मत बहकने दो। क्षणजीवी बनो और काल तथा परम्परा की पीड़ा से मुक्ति प्राप्त करो।

लेकिन सवाल उठा, परम्परा क्या है, अतीत और अनागत के दायित्व क्या हैं ? उत्तर यह दिया गया कि ये सब मिथ्या हैं, ये हैं ही नहीं, परम्परा

ही नहीं है, बस वही सत्य है जो सामने है। इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक बात एक प्रयोग है, प्रत्येक साधना एक नवीन तत्त्व है। और इस क्षणजीवी दृष्टि का लक्ष्य प्रयोग बन गया। यह साफ़ है कि इस तरह का प्रयोगवाद क्षणजीवी दर्शन पर स्थित है और यह क्षणजीवी दर्शन काल-विजय (काल-विस्मृति) का ही एक रूप है।

आज हम चिन्तन का वैज्ञानिक परीक्षण कर सकते हैं। इस दिशा में मनोविज्ञान हमारा सहायक बन सकता है। उपर्युक्त क्षणजीवी दर्शन मनोविज्ञान के सभी सिद्धान्तों के विरोध में आता है। यह ठीक है कि आज का जीवन बड़ा जटिल है। और जीवन की इस जटिलता का भार काल-चेतना के कारण और अधिक बढ़ गया है। प्राचीन का ज्ञान, भविष्य की कल्पना ये दोनों द्वन्द्व को और अधिक भड़काते हैं। व्यक्ति जो पहले से ही अपनी पीड़ा के बोझ से दबा जा रहा है, कैसे इस बोझ को बर्दाश्त कर सकता है। और इसलिए वह सजग होकर इससे छुटकारा पाने के लिए क्षणजीवी दर्शन का आविष्कार करता है। ऐसी स्थिति का अनुभव व्यक्ति जीवन में कई बार करता है। जब वह किसी परेशानी से बहुत तंग आ जाता है तो वह यह सोचता है कि सारे झंझट को छोड़ो, जो होगा देखा जायेगा और इस वक्त जो सामने है उससे निपट लो। यदि इसी स्थिति पर पूरी तरह विचार करें तो इसकी परिणति क्षणभोगी दर्शन में होगी। यह किसी एक व्यक्ति या देश का सिद्धान्त नहीं है। अनेक व्यक्ति इस दर्शन का प्रचार-प्रसार करते दिखायी देते हैं।

लेकिन यह बात भी साफ़ है कि यह प्रतिक्रिया ऐसे व्यक्ति की प्रतिक्रिया है जो ज़िन्दगी के सारे बोझ को सहार नहीं सकता। जो जीवन की बीहड़ता से घबराकर कोई ऐसा सिद्धान्त खोजता है जहाँ वह कुछ बोझों से छुटकारा पा सके। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह एक नॉर्मल व्यक्ति की प्रतिक्रिया नहीं है। यह मतिष्क की एबनॉर्मल स्थिति का सूचक है। यह चेतना की एक रुग्ण अवस्था है और मनोविश्लेषक द्वारा इसका इलाज करवाया जा सकता है।

यह सही है कि जैसे-जैसे जीवन की जटिलताएँ बोझिल होती जाती हैं, वैसे ही वैसे इस प्रकार की एबनॉर्मल या रुग्ण स्थिति से आक्रान्त होनेवाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। लेकिन संख्या की यह बढ़ोत्तरी इस स्थिति को मूल्यवान नहीं बना सकती। यदि किसी देश में मलेरिया अधिक हो तो उस देश के लिए यह मूल्य नहीं बन जाता। उसके लिए उतने ही बड़े पैमाने पर इलाज की ज़रूरत है।

भारत वैज्ञानिक उन्नति में अभी आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा है। वे

देश जो भारत से बहुत आगे हैं और जहाँ व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता है, वहाँ का जीवन अधिक संघर्षलीन है। वहाँ के व्यक्ति अधिक आक्रान्त हैं, द्वन्द्व से अधिक पीड़ित हैं। इसलिए वहाँ एबनॉर्मल व्यक्तियों की संख्या भी अधिक है। बहुत अधिक जनसंख्या को मनोविश्लेषकों के पास जाना पड़ता है, उनकी सहायता लेनी पड़ती है। लेकिन वहाँ भी एबनॉर्मल या रुग्ण अवस्था को मूल्य बनाकर पेश करनेवाले कम हैं और उनका महत्त्व सीमित ही समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परम्परा और प्रयोग के स्वरूप, सम्बन्ध और महत्त्व को ठीक-ठीक समझने के लिए सन्तुलित काल-चेतना का होना ज़रूरी है। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परा स्वभाव से ही गतिमान रहती है और उसकी गति का फल है प्रयोग। प्रयोग उस गति का फल ही नहीं, वह उसका वाहक और प्रतीक भी है। प्रयोग के द्वारा ही परम्परा का विकास होता है इसलिए प्रयोग परम्परा को वहन करता हुआ उसी का अंग बन जाता है। इसके अतिरिक्त प्रयोग के अध्ययन से ही परम्परा की गति का स्वरूप और उसकी दिशा आदि का ज्ञान होता है।

जीवन-साधना के विविध क्षेत्रों में प्रयोग के दो अन्य कारण भी लक्षित होते हैं। एक तो यह कि प्रयोग कभी-कभी प्रतिक्रिया की सहज प्रवृत्ति का परिणाम होता है। दूसरा कारण है संस्कृति के विविध पक्षों के बीच की असंगति, जो तब पैदा होती है जबकि संस्कृति का कोई एक पक्ष—भौतिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक आदि—अन्य पक्षों से—साहित्यिक, सामाजिक आदि से—आगे बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में पिछड़े हुए पक्ष में विकसित पक्ष के साथ समन्वित रूप से प्रस्तुत करने के लिए नये प्रयोग किये जाते हैं। विकास दोनों ही अवस्थाओं में होता है।

पहले प्रयोग के उस रूप पर विचार किया जायेगा जो प्रतिक्रिया का परिणाम होता है।

जैसे विकास जीवन, संस्कृति तथा कला का सहज लक्षण है, उसी प्रकार प्रतिक्रिया भी उनका एक स्वाभाविक व्यापार है। जहाँ भी दो तत्त्वों का सम्मिलन होगा वहाँ क्रिया एवं प्रतिक्रिया होगी। जहाँ दो जड़ तत्त्व टकराते हैं वहाँ जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है वह न्यूटन द्वारा प्रतिपादित गति के नियमों के अनुसार होती है। मगर जब इस टकराहट में कोई चेतन तत्त्व भी शामिल होता है तो इस व्यापार का क्या रूप तथा प्रभाव होगा यह कहना कठिन है। कारण यह है कि चेतन तत्त्व—मन—हमेशा एक रूप तथा एक रस नहीं रहता। सभी व्यक्तियों का मन अपनी-अपनी विशिष्ट परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा की छाप लिए रहता है। और इसलिए जब तक मन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म

विशेषता का ज्ञान न हो तब तक यह कहना मुश्किल है कि उसमें किसी स्थिति की क्या प्रतिक्रिया होगी। इस सीमा के बावजूद भी ऐतिहासिक परम्परा का अध्ययन करने पर प्रतिक्रिया के दो प्रधान रूपों का ज्ञान होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम परम्परा और प्रयोग का ही उदाहरण लेंगे।

प्रतिक्रिया का पहला रूप तो वह है जिसमें मन परम्परा के प्रभाव को अनुकूल रूप से स्वीकार कर लेता है और स्वयं उस परम्परा को—जहाँ तक उसे समझ पाया है—वहन करने के लिए तैयार हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि यह मन की प्रतिक्रिया नहीं वरन् परम्परा की क्रिया है। लेकिन मन एक चेतन तत्त्व है और इस नाते जब परम्परा की क्रिया उस पर होती है, तो वह उसे सजग रूप से स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ये दोनों ही रास्ते उसके सामने हैं और इन दोनों रास्तों में से उसे कौन-सा रास्ता अपनाना है यह उस पर निर्भर करता है। इसलिए यह क्रिया मात्र क्रिया न होकर सजग रूप से स्वीकृत क्रिया है, ऐसी क्रिया है जिस पर मन स्वीकृति की मोहर लगा देता है। इसलिए यह भी प्रतिक्रिया ही है, मात्र क्रिया नहीं। हाँ, यह ज़रूर कहा जा सकता है कि यह परम्परा की अनुकूल प्रतिक्रिया है।

इसके विपरीत प्रतिक्रिया का दूसरा रूप वह है जिसमें मन परम्परा को स्वीकार नहीं करता और उसके विपरीत किसी तत्त्व को उपस्थित करता है। सामान्य रूप से प्रतिक्रिया का प्रयोग इस प्रतिकूल प्रतिक्रिया के लिए ही होता है लेकिन हम समझते हैं कि इससे विषय की स्पष्टता में उलझन ही पैदा होगी। व्यक्ति का अहं जब भड़क उठता है तो वह किसी भी ऐसी चीज़ को जो उसकी अपनी नहीं है आसानी से स्वीकार नहीं करता। उसका प्रयास यह रहता है कि वह प्रत्येक क्षेत्र और हरेक दिशा में जो कुछ भी कहे या करे वह उसका अपना हो, मौलिक हो, नया हो। इसलिए जितना ही यह अहं अधिक विकसित होगा उतनी ही तीव्रता से परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया होगी और इतनी ही प्रचुरता से नये प्रयोग सामने आएँगे। इस प्रकार प्रयोग का सम्बन्ध मन की उस प्रतिक्रिया से है जो अहंमूलक होने के कारण नवीनता की हामी है।

इस विवेचन से एक बात साफ़ है। जैसे-जैसे व्यक्ति में अहं का विकास होता है वैसे ही वैसे नवीन प्रयोगों का उन्मेष होना भी स्वाभाविक ही है। और भौतिक कारणों से आज के व्यक्ति का अहं अधिक उद्दीप्त और उसकी महत्त्वाकांक्षा अधिक ज्वलन्त है।

लेकिन जब महत्त्वाकांक्षा सीमा का अतिक्रमण करने लगती है तब नये प्रयोग तो बहुतायत से होते हैं लेकिन उन प्रयोगों की शक्ति का ह्रास होता है। कारण यह है कि ऐसी स्थिति में मन व्यग्रता के कारण परम्परा को ठीक तरह से समझ नहीं सकता और बहुत मौलिक दिखने के लिए अजीब-अजीब बातें

कहने लगता है और उन बातों पर भी पूरी तरह से विचार करने का सब्र उसमें नहीं होता। इसलिए प्रयोग के स्थान पर अराजकता का प्रचार होने लगता है।

सही दिशा में ठोस नये प्रयोग करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि व्यक्ति परम्परा को पूरी तरह से समझे। उसका परम्परा का ज्ञान जितना ही व्यापक और गम्भीर होगा उसके विचार (प्रयोग) उतने ही शक्तिशाली और स्थिर होंगे। ज़रूरत इस बात की नहीं है कि कुछ नया कहा जाये, ज़रूरत तो इस बात की है कि जो कहा जाये वह जीवन की आकांक्षा के अनुकूल हो। इसके लिए परम्परा का आग्रह ज़रूरी नहीं है। मगर युग-जीवन की आकांक्षा के ख़िलाफ़ तो कोई सिद्धान्त नहीं रखा जाना चाहिए। इसलिए यह निश्चित है कि जो व्यक्ति जीवन की परम्परा को जितने गम्भीर रूप से समझता है उसका प्रयोग उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा। संस्कृति से बेखबर और फौरन नया कुछ कर गुज़रने वाले लोग जो करतब दिखाया करते हैं, असल में जीवन को जान-बूझकर या अनजाने विकृत रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। लेकिन जो लोग मनुष्य की संस्कृति को नहीं समझते, जिन्हें परम्परा का ज्ञान नहीं है, वे जीवन को ही नहीं समझते। और जीवन को समझे बिना जीवन में या साधना में नये प्रयोग करना अँधेरे में लठ चलाने के बराबर ही है। ऐसे व्यक्तियों की केवल न्यूसेंस वैल्यू ही हुआ करती है।

भारतीय सांस्कृतिक विकास में कई प्रयोग हुए। इस दृष्टि से बौद्ध-दर्शन भी एक प्रयोग था और अद्वैतवाद भी एक प्रयोग था। साहित्य में 'रामचरित-मानस' की रचना भी एक प्रयोग है और छायावाद का उदय भी। जिन्हें ज़रा सी भी ऐतिहासिक दृष्टि सुलभ है वे इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिम जिस प्रयोग के पीछे जितनी व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि का बल था वह उतना ही मूल्यवान सिद्ध हुआ। इसका यह मतलब नहीं कि किसी प्राचीन प्रयोग ने अपनी पुरानी परम्परा का खण्डन नहीं किया या उसे अस्वीकार नहीं किया। उदाहरण के लिए बौद्ध-दर्शन का आरम्भ ही आस्तिकता के उन्मूलन से होता है तथा कबीर आदि सन्तों ने वेद और पुराण की परम्परा की कसकर निन्दा की है। लेकिन कुछ समय गुज़र जाने के बाद परम्परा और इन प्रयोगों के बीच की समान भूमियों की जानकारी होने लगी और इन परम्पराओं को भी सांस्कृतिक धारा के भीतर ही स्थान मिला।

सवाल यह होता है कि इन उदाहरणों से विकास के किन बुनियादी सिद्धान्तों की व्यंजना होती है ?

इनसे पहली बात तो यह साबित होती है कि जहाँ तक परम्परा से सम्बन्ध का सवाल है प्रयोग दो तरह के हुआ करते हैं। एक प्रकार के प्रयोग तो वे हैं जो प्राचीन परम्परा को आधार बनाते हुए अपनी नवीन प्रतिष्ठा करते

हैं। इस प्रकार के प्रयोग परम्परा की अनुकूलता को सिद्ध करना भी उतना ही ज़रूरी समझते हैं जितना कि नवीन प्रतिष्ठा को। एक ओर तो उनकी नवीनता तथा रचनात्मकता के बारे में कोई सन्देह नहीं होता, दूसरी ओर उनकी परम्परा से अनुकूलता उन्हीं के द्वारा सिद्ध की जाती है। ये जीवन-धारा और कला के विकास में निश्चित सहयोग देते हैं और संस्कृति को पूर्णता की ओर अग्रसर करने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से उनकी उपयोगिता के बारे में कभी कोई शक नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य का अद्वैतवाद एक ओर प्राचीन वैदिक परम्परा की चिन्तन प्रधान धारा को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर 'रामचरितमानस' प्राचीन जीवन-व्यवस्था को समन्वित रूप से पेश करने की कोशिश करता है। दोनों की प्राचीन से अनुकूलता उनके प्रवर्तकों द्वारा घोषित है और दोनों की उपयोगिता और शक्ति सभी स्वीकार करते हैं।

यह सवाल हो सकता है कि क्या उनकी प्राचीन परम्परा की अनुकूलता उसी रूप में मान्य है जिस रूप में वह उनके प्रवर्तकों द्वारा प्रतिपादित की गयी है ?

स्पष्टतः ऐसा नहीं है। न तो शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्राचीन परम्परा का एकमात्र रूप है और न ही 'रामचरितमानस' में चित्रित जीवन-व्यवस्था पुरानी जीवन-व्यवस्था का प्रतिरूप है। दोनों ही विकासमान जीवन-धारा की कड़ियाँ हैं और विकास की पोषक हैं। जहाँ एक ओर अद्वैतवाद ने चिन्तन के क्षेत्र में, धर्म और साधना के क्षेत्र में नयी दृष्टि प्रदान की और इस प्रकार परवर्ती विकास-क्रम को प्रभावित किया उसी प्रकार 'रामचरितमानस' ने भी परवर्ती जीवन के विकास को दूर तक प्रभावित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रयोग करने वाला अपने प्रयोग को जिस दृष्टि से देखता है, वह दृष्टि हमेशा सही नहीं हुआ करती। उसकी दृष्टि से इस बात का पता चलता हैकि वह अपने प्रयास को किस रूप में देखता है। लेकिन उस प्रयोग के मूल्यांकन में उसी दृष्टि को स्वीकार करना खतरे से खाली नहीं है। यद्यपि शंकराचार्य ने अपने दर्शन को प्रस्थान-त्रयी पर स्थित किया है, फिर भी वह 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने के अपराधी माने गये। यद्यपि यह बात सभी लोग स्वीकार नहीं करते, फिर भी इससे यह तो प्रकट होता ही है कि लोगों ने उनकी बात को पूरी तरह से नहीं माना था और उन्हें परम्परा के समकक्ष में रखकर देखने की कोशिश की थी। और यह बात तो सभी जानते हैं कि प्रस्थान-त्रयी पर आधारित होने के बावजूद भी उनका दर्शन प्राचीन दार्शनिक चिन्तन को एक निश्चित रूप से विकसित दिशा प्रदान करता है। इसी प्रकार यद्यपि गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' को 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' रूप से प्रस्तुत करने

का प्रयास किया, फिर भी उनके राम, राम अथवा ब्रह्म के प्राचीन स्वरूप से यक़ीनी तौर पर विकसिक व्यक्तित्व वाले हैं। इसलिए जहाँ वह अपने राम को वेदों द्वारा प्रशंसित कहते हैं, वहाँ उनकी बात कहाँ तक ठीक है यह सभी जानते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि वह लोगों को गुमराह करने की कोशिश करते हैं। इसका मतलब तो केवल इतना है कि वह यह विश्वास दिलाते हैं कि उनकी अवधारणाएँ और सिद्धान्त वेद और वैदिक परम्परा के विरुद्ध नहीं हैं तथा वे वैदिक परम्परा के विकासशील रूप को ही व्यक्त करते हैं।

यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी इस बात को इसी रूप में क्यों नहीं रखते ?

इसका कारण यह है कि उस युग में परम्परा के विकासशील रूप की वैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ था। न तो चिन्तक ही इसे जानते थे और न ही जनता तक अपनी बात पहुँचाने का कोई शक्तिशाली और व्यापक साधन ही था। इसलिए विकास के सत्य के रहस्यों से पूरी तरह से परिचित न होने के कारण नयी बात को भी प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत रख कर देखने-दिखाने की कोशिश की जाती थी। इसका मतलब यह नहीं कि चिन्तक स्वयं यह नहीं जानता था कि उसकी बात नयी है। वह इसे जानता था लेकिन उस बात को जनता तक पहुँचाने के लिए वह सुविधानुसार परम्परा और परम्परा के प्रति जनता की आस्था का पूरा-पूरा लाभ उठाया करता था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि कुछ प्रयोगकर्ता अपने प्रयोगों को परम्परा द्वारा अनुमोदित रूप में रखते हैं या उन्हें प्राचीन परम्परा के प्रतीक रूप में समझाने की कोशिश करते हैं तो उनकी बात उसी रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। इसकी जाँच करने के लिए प्रतिभाशाली चिन्तक ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग करते हुए उनके प्रयोगों को सही रूप में रखने का प्रयास किया करते हैं।

अब उन प्रयोगों को लीजिए जो उनके प्रतिष्ठापकों द्वारा परम्परा के विरोध में एक सर्वथा नवीन सत्य के रूप में रखे जाते हैं।

इनके बारे में भी अब इस प्रकार की सम्भावना की जा सकती है कि जिस प्रकार परम्परा-वादियों के प्रयोग पूरी तरह से पुरानी परम्परा के प्रतीक नहीं हुआ करते, उसी प्रकार परम्परा-विरोधियों या क्रान्तिकारियों के प्रयोग पूरी तरह से परम्परा-विरोधी या क्रान्तिकारी नहीं हुआ करते। फिर भी उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के पूर्ण विश्लेषण के उपरान्त हो कोई बात पूरे निश्चय से कही जा सकती है।

पहले बौद्ध-धर्म के आन्दोलन को लीजिए। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह एक क्रान्तिकारी प्रयोग था। इसकी प्रतिष्ठा वैदिक परम्परा के विरोध

में की गयी थी और भारतवर्ष में ही एक जमाना ऐसा भी आया था जब कि देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक इसी धर्म का राज था। इस प्रकार उस युग को देखते हुए तो ऐसा लगता था कि यह वैदिक परम्परा का स्थान ले लेगा और इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था के विपरीत वर्णहीन सामाजिक व्यवस्था की स्थायी स्थापना हो जाएगी। लेकिन वैदिक परम्परा के माननेवालों ने फिर सिर उठाया और आज नतीजा यह है कि बौद्ध-धर्म की परम्परा बहुत कमज़ोर रूप में नज़र आती है। हिन्दुस्तान में बौद्ध-धर्म का पतन क्यों हुआ इसके कई कारण हैं जिनका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।[१] यहाँ हमें प्रयोग के रूप में बौद्ध-धर्म पर विचार करना है।

बुनियादी सवाल यह है कि क्या उस प्रयोग (बौद्ध-धर्म) और परम्परा (वैदिक धर्म) में कहीं कोई समानता नहीं है ?

स्पष्टतः ऐसा नहीं है। इसको समझने के लिए दो दृष्टियों से विचार करना होगा। एक दृष्टि तो यह कि बौद्ध-धर्म से पहले ऐसे कौन-से ग्रन्थ थे जिनके साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, और दूसरी यह कि बौद्ध-धर्म और वैदिक संस्कृति में अन्य कौन-कौन-सी समानताएँ हैं। दोनों ही दृष्टियों से इस पर विचार किया गया है और यह देखा गया है कि उपनिषदों में ऐसे बहुत-से तत्त्व हैं, जो बौद्ध-धर्म के आधार-रूप हैं और इसके अतिरिक्त सामान्य धरातल पर बौद्ध-धर्म के बहुत से मूल्य वैदिकों को मान्य हुए। मतलब यह है कि इस प्रयोग में ऐसी कई बातें थीं जो वैदिक परम्परा से समानता रखती थीं या जिन्हें वैदिक परम्परा वाले स्वीकार कर सकते थे। इन दोनों बातों के कारण ही परम्परा की धारा अटूट रूप में विकसित होती रही।

पहली बात के बारे में तो कोई शक नहीं हो सकता। जहाँ तक दूसरी बात का सवाल है उसे समझने के लिए हमें वैदिक परम्परा की उस धारा की ओर देखना पड़ेगा जो वैष्णव-धर्म के नाम से विकसित हुई। इस धारा ने बौद्ध-धर्म के बहुत से तत्त्वों को स्वीकार किया और इस स्वीकृति के कारण भी यह धारा बौद्ध-धर्म को हराने में कामयाब हुई।

अपने आप में वैष्णव-धर्म खुद एक प्रयोग है जो पूर्ववर्ती सभी परम्पराओं—वैदिक तथा अवैदिक—पर आधारित होने के कारण नया भी है और प्राचीन के साथ सम्बद्ध भी। गोस्वामी जी इसी परम्परा के एक प्रधान कलाकार हैं।

बौद्ध-धर्म और वैष्णव-धर्म के इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार वह क्रान्तिकारी प्रयोग भी जो अपने-आपको परम्परा के विरोध में खड़ा करता है, परम्परा के कुछ तत्त्वों को अपने भीतर लिए रहता है।

---

१ देखिए 'सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य'।

सन्त कवियों के उदाहरण से उपर्युक्त निष्कर्ष और भी पुष्ट हो जाता है।

कबीर आदि सन्तों की साधना भी क्रान्तिकारी प्रयोग के अन्तर्गत ही आती है। बौद्ध-धर्म की परम्परा के अनुसार ही उन्होंने भी वैदिक परम्परा का जमकर विरोध किया और उसके ख़िलाफ़ एक वर्ण-रहित समाज का सपना देखा। लेकिन क्या उनके चिन्तन का प्रयोग सचमुच प्राचीन परम्परा का पूर्ण तिरस्कार कर सका है ? क्या उसमें ऐसे कुछ तत्त्व नहीं हैं जो पुरानी परम्परा में विद्यमान थे ? क्या उनकी विशेषता इस बात में नहीं है कि उन्होंने प्राचीन परम्परा के विशिष्ट तत्त्वों को समन्वित कर एक नयी व्यवस्था को उपस्थित करने का प्रयास किया है ? यह स्पष्ट है कि वर्णहीन समाज की कल्पना के अतिरिक्त उनमें कोई ऐसी बात नहीं है जो पुरानी संस्कृति को किसी-न-किसी रूप में मान्य न हो। मगर इसके बावजूद भी उनका प्रयोग क्रान्तिकारी प्रयोग ही माना जाता है। उनका दार्शनिक चिन्तन, उनकी रहस्यानुभूति, उनकी भक्ति सभी ही ऐसे तत्त्व हैं जिनसे प्राचीन संस्कृति का कोई विरोध नहीं। मगर फिर भी उन्होंने प्राचीन का विरोध किया और तत्कालीन परम्परावादियों ने उनका विरोध किया। यह सवाल हो सकता है कि इस समानता के बावजूद भी ऐसा क्यों हुआ ?

इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इन तत्त्वों को स्वीकार करने के बावजूद भी कबीर ने पुरानी परम्परा की निन्दा की, वेदों-ब्राह्मणों का विरोध किया। वेद और ब्राह्मण पुरानी परम्परा के प्रतीक और वाहक थे। इसलिए सामान्य जनता पर इस विरोध का प्रभाव यही पड़ता कि संस्कृति की धारा का प्रभाव कम हो जाता। इस पर उनकी जो आस्था थी वह विचलित हो जाती। उनकी उस आस्था को बनाये रखने के लिए परम्परावादियों को इस धारा का कड़ा विरोध करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी स्थिति में उनका ध्यान परम्परा के समान तत्त्वों की अपेक्षा परम्परा के विरोधी तत्त्वों की ओर अधिक आकर्षित होता। और ऐसा हुआ भी।

इसका दूसरा कारण यह है कि अपनी किसी भी समकालीन धारा का सन्तुलित मूल्यांकन बहुत मुश्किल होता है। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं जहाँ इस प्रकार का सन्तुलित मूल्यांकन किया गया हो। समकालीन होने के कारण विविध धाराओं के व्यक्तियों के बीच व्यक्तिगत चेतना उभर आती है। और धाराओं का भेद या विरोध जितना अधिक होता है यह व्यक्तिगत चेतना उतनी ही अधिक शक्तिशाली हो जाती है। हैरानी की बात तो यह है कि साधू-सन्त तक इस भावना से मुक्त रहने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। इसलिए आम आदमी की तो बात ही क्या। वजह यह है कि जब आदमी अपने-आपको

किसी रिवायत के साथ मिलाकर एक कर देता है तो उस रिवायत पर हमला उसे ज़ाती हमला मालूम होने लगता है। और इस प्रकार व्यक्तिगत द्वेष चाहे कितने ही उदात्त रूप में क्यों न हो—उभर ही आता है। इस द्वेष को 'समकालीनता का द्वेष' कहा जा सकता है। कोई भी युग इस समकालीनता के द्वेष से मुक्त नहीं होता। इसके कारण ही व्यक्ति अपने युग की धाराओं या व्यक्तियों के साथ इन्साफ़ नहीं कर सकता। लेकिन सही मानों में आलोचक वही है जो समकालीनता के द्वेष से अपने-आपको बचा सके। जब कोई धारा या कलाकार पुराने हो जाते हैं, जब हमारे और उनके बीच एक ऐतिहासिक दूरी पैदा हो जाती है तो उनका संगत मूल्यांकन करना अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। इसलिए अकसर समकालीन मूल्यांकन की उपयोगिता सीमित ही होती है और अकसर इससे परिस्थिति सुलझने की बजाय और भी उलझ जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :

(१) संस्कृति और कला के विकास में नवीन प्रयोग हमेशा से ही होते आये हैं।

(२) ये प्रयोग दो प्रकार के होते हैं : एक—विकासात्मक प्रयोग, द्वितीय—क्रान्तिकारी प्रयोग। क्रान्तिकारी प्रयोग को केवल क्रान्ति भी कहा जा सकता है।

(३) दोनों प्रकार के प्रयोग संस्कृति के विकास में सहायक होते हैं।

(४) प्रयोग के दो कारण हैं। मूल कारण तो यह है कि संस्कृति स्वभाव से ही विकासशील है और जीवनधारा में नये तत्त्वों का उदय स्वभावतः होता ही रहता है। दूसरा कारण यह है कि कभी-कभी संस्कृति का सन्तुलित विकास नहीं हो पाता और उसका कोई एक पक्ष अन्य पक्षों से आगे बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में पिछड़े हुए पक्षों को विकसित रूप देने के लिए उनमें नये प्रयोग किये जाते हैं। दोनों कारण प्रायः मिलकर काम करते हैं।

(५) समकालीन प्रयोग के सही मूल्यांकन में सबसे बड़ी बाधा है समकालीनता का द्वेष। इससे बचना असम्भव तो नहीं मगर बहुत मुश्किल अवश्य है। इसीलिए अपने युग में जो प्रयोग परम्परा-विरोधी माना जाता है ऐतिहासिक दूरी आ जाने पर वही प्रयोग संस्कृति के विकास की एक कड़ी के रूप में दिखायी देने लगता है।

(६) किसी भी प्रयोग का मूल्यांकन करते समय उन बातों को आधार नहीं बनना चाहिए जो कि प्रयोग करने वाले ने स्वयं उसके बारे में कही हैं। प्रायः वे बातें गुमराह करती हैं। उन्हें सही परिवेश में रखकर देखने से ही उनकी सच्चाई ज़ाहिर होती है।

पहले यह कहा जा चुका है कि प्रयोग में प्राचीन परम्परा के तत्त्व भी

ज्ञात या अज्ञात रूप से शामिल होते रहते हैं। यहाँ एक बुनियादी सवाल यह पैदा होता है कि इसका क्या कारण है? नये प्रयोगों में प्राचीन का उपयोग कहाँ तक संगत है?

क्रान्तिकारी प्रयोग करनेवाला तो यही कहेगा कि उसने जो कुछ कहा या किया है वह बिलकुल नया है। मगर इस सम्बन्ध में उसका कथन किसी प्रकार सीमित उपयोगिता रखता है यह पहले देखा जा चुका है। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि इस प्रश्न पर जहाँ तक हो सके निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय।

संस्कृति और कला के विवेचन में मूल सत्य जीवन है। जीवन की साधना ही संस्कृति तथा कला के अनेक सिद्धान्तों तथा रूपों के रूप में प्रकाशित होती रहती है। अगर इस मूल सत्य को ध्यान में रखा जाएगा तो प्रस्तुत विवेचन आसान हो जाएगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि हम अपने विवेचन का आधार जीवन की उस अवस्था से मानेंगे जब मनुष्य पशुत्व की अवस्था से निकलकर मनुष्यत्व की अवस्था तक पहुँच गया था। दूसरे शब्दों में यह वह अवस्था है जब प्राकृतिक आकांक्षाओं के अलावा विवेक के तत्त्व का उदय हो गया था।

यह दूसरी बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि आज हमारे सामने ऐसा विवेचन भी आता है जिसमें जीवन की उस अवस्था के उदाहरण दिये जाते हैं जब वह पशुत्व के धरातल पर था। इन उदाहरणों के आधार पर ही एक खास तरह के विवेचन को पुष्ट करने की कोशिश की जाती है। काडवेल जो मार्क्सवादी आलोचना का एक प्रमुख आचार्य माना जाता है, इसी दोष से ग्रस्त है। आज के जीवन के पक्षों का विवेचन उन उदाहरणों के आधार पर किया गया है जिनका सम्बन्ध पशु-जीवन से, या जीवन के आदिम रूपों से है। इस प्रकार का विवेचन अपनी नवीनता में विलक्षण तो लगता है लेकिन मूल रूप से असंगत होने के कारण सहायक होने के स्थान पर बाधक ही होता है। हम ऐसे विवेचन को सन्तुलित ठोस विवेचन से भिन्न मानते हैं। एक सैल वाले प्राणियों की कॉलोनी के आधार पर विवाह या सामाजिक व्यवस्था का विवेचन किसी भी विवेकशील पाठक को आश्वस्त नहीं करता।

जीवन-साधना में विवेक का तत्त्व एक मूलभूत तत्त्व है और इस तत्त्व की उपेक्षा करने के कारण चिन्तन में अनेक बाधाएँ आयी हैं तथा अनेक समस्याओं का ग़लत धरातल पर ग़लत विवेचन हुआ है।

व्यक्ति के विवेक के निर्माण में समाज और युग की परिस्थितियों का विशेष हाथ रहता है। इसे आज के सभी मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। मगर इसके साथ-साथ यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि विविध व्यक्तियों

की विवेक शक्ति या कुशाग्रता में पर्याप्त अन्तर भी पाया जाता है । कुशाग्रता का यह अन्तर जीवन के आरम्भिक काल से ही शैशव की अवस्था से पाया जाता है और परिस्थितियों के अनुरूप उसका विकास या ह्रास होता है। इतना ही नहीं इतिहास के उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि यह अन्तर मनुष्य-समाज में हमेशा से ही रहा है और अधिक कुशाग्र और विवेकशील व्यक्ति ही संस्कृति की साधना में विशेष योगदान करते रहे हैं। जीवन-साधना के विविध क्षेत्रों में विवेक कार्यशील रहा और इस प्रकार विविध सिद्धान्तों और मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। जीवन के विकास-क्रम में पड़कर उन सिद्धान्तों और मूल्यों का विकास होता रहा। पुराने मूल्य मिटते रहे, नये बनते रहे। मगर क्या सभी प्राचीन मूल्य मर चुके हैं ?

इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक तो यह कि सभी प्राचीन मूल्य उसी रूप में आज भी जीवित हैं और जीवित रहने चाहिए। इनमें से कुछ वे भी हैं जो उनको नवीन जीवन के साथ समन्वित करना चाहते हैं। इसके विपरीत दूसरा वर्ग उन व्यक्तियों का है जो यह मानते हैं कि सभी प्राचीन मूल्य मर चुके हैं और अब सर्वथा नवीन मूल्यों की स्थापना का जमाना है।

सच तो यह है कि उक्त प्रश्न का उत्तर सैद्धान्तिक धरातल पर देना उचित नहीं प्रतीत होता। इसका उत्तर देने के लिए व्यावहारिक धरातल पर उतरना होगा, आज के जीवन की गति और आकांक्षा को परखना होगा। प्रायः होता यह है कि सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह के कारण तथा अपूर्ण यथार्थ ज्ञान के आधार पर ही बिना परिस्थिति की पूर्ण परख किये कोई निष्कर्ष पेश कर दिया जाता है।

इस प्रसंग में हम एक मूल तत्त्व को विवेचन का आधार बनाना चाहते हैं। यह मूल तत्त्व है मानव-स्वभाव। यह मानते हुए भी कि मनुष्य के जीवन, उसकी रुचियों और उसके आदर्शों में विकास हुआ है, हम यह नहीं मानते कि मनुष्य का स्वभाव पूरी तरह से बदल गया है या बदल सकता है। क्या आज के मानव के स्वभाव में और आज से पाँच हज़ार या तीन हज़ार साल पहले के मानव के स्वभाव में कहीं कोई समानता नहीं है ? क्या आज का भारतीय वैदिक-युग के व्यक्ति से मूलतः भिन्न है ? यह तुलना सुविधाजनक तथा उपयोगी है क्योंकि दोनों ही युगों का साहित्य प्राप्त है। क्या वेदों में व्यक्त मानव-स्वभाव में कोई ऐसी बात नहीं जो आज के मानव-स्वभाव से समानता रखती हो ? क्या उनकी सभी मूल प्रवृत्तियों और आदर्शों में बुनियादी अन्तर आ गया है ? स्पष्टतः ऐसा नहीं है।

मानव-स्वभाव के विकास के मूल में भी कुछ समान तत्त्व पाये जाते हैं और इन समान तत्त्वों का सबसे बड़ा प्रमाण है कला। कला ही जीवन की

वह साधना है जो एक ओर तो मनुष्य की बाह्य सांस्कृतिक परिस्थितियों का समन्वित प्रतीक है तथा दूसरी ओर मनुष्य की स्वभाव की मूलभूत एकता का प्रमाण है। कला और संस्कृति के सम्बन्ध पर दूसरी पुस्तक में विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है।[1] जहाँ तक स्वभाव की समानता का सवाल है इसका इससे बड़ा और कोई प्रमाण नहीं है कि आज भी हम प्राचीन कलाओं को देखकर मुग्ध एवं प्रेरित हो उठते हैं। कला चाहे अभिव्यक्ति का रूप है या सम्प्रेषण का माध्यम दोनों ही स्थितियों में, यदि वह दो युगों के व्यक्तियों को प्रभावित करने में समर्थ हो जाती है, तो वह निश्चित रूप से उन दो युगों के व्यक्ति में विद्यमान किसी समान तत्त्व का संकेत करती है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्या यह सही है कि वह कला अपने काल—उदाहरण के लिए गुप्त-काल को लीजिए—के व्यक्ति को तथा आज के व्यक्ति को समान रूप से प्रभावित करती है? इस प्रश्न का आधार यह तथ्य है कि यद्यपि हम आज के व्यक्ति की प्रतिक्रिया को तो जानते हैं, मगर गुप्त काल के व्यक्ति की प्रतिक्रिया को नहीं जानते। इस प्रश्न पर ध्यान से विचार करने की आवश्यकता है।

यह तो ठीक है कि वे कलाएँ आज के व्यक्ति को प्रभावित करती हैं तथा उस काल के व्यक्ति की प्रतिक्रिया जाने बिना प्रभाव की समानता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। और अगर प्रभाव की समानता ही सिद्ध नहीं होती तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि दोनों व्यक्तियों में स्वभाव की समानता है क्योंकि स्वभाव की समानता का प्रमाण तो प्रभाव की समानता ही है।

इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं।

पहली बात तो यह है कि यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो यह कहना भी सम्भव नहीं होगा कि आज की कोई कलाकृति दो व्यक्तियों को समान रूप से प्रभावित करती है। इस रूप में तो हर व्यक्ति की कलाकृति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया होगी। मगर फिर भी कलात्मक प्रतिक्रिया के प्रसंग में तो हम समानता की बात कहते भी हैं और मानते भी हैं। व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को सिवाय उस व्यक्ति के जिसके मन में प्रतिक्रिया होती है, और कोई नहीं जान सकता। उस प्रतिक्रिया के कुछ अंश की सूचना वह दे सकता है और कुछ अंश की पूरी सूचना नहीं दे सकता। वह विचार का विश्लेषण तो कर सकता है मगर अनुभूति को सिर्फ़ शब्दों द्वारा कुछ विशेषणों के रूप में ही कह सकता है। इन शब्दों से उसकी अनुभूति का साधारण अनुमान तो हो सकता है मगर वैसी अनुभूति नहीं की जा सकती। और 'वैसी अनुभूति' किये

[1] देखिए—'सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य'।

बिना अनुभूति की समानता की बात कही नहीं जा सकती। मगर फिर भी हम अनुभूति के वस्तुगत तत्त्वों के विश्लेषण के आधार पर इस समानता की स्थिति को स्वीकार करते हैं।

दूसरी बात है प्रसंग या परिवेश की। जहाँ तक साहित्य का सवाल है वहाँ तो प्रतिक्रिया की समानता का निर्धारण सरल है। वहाँ प्रत्येक प्रसंग अपनी अनुभूति से विशिष्ट होता है और उस प्रसंग के आधार पर उसके प्रति प्राचीन व्यक्ति की प्रतिक्रिया का ज्ञान हो जाता है और उसी के आधार पर आज के व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उसकी समानता या विषमता का ज्ञान हो सकता है। यही बात अन्य कलाओं के विषय में भी कही जा सकती है। चित्रकला में मूर्तियों की भाव-भंगिमा के आधार पर यह जाना जा सकता है कि चित्रकार ने उसमें किस अनुभव को व्यक्त करना चाहा है और सामाजिकों में वह किस अनुभव को जगाती होगी। संगीत की राग-रागिनियों के विषय में जो लिखा गया है उसके आधार पर संगीत की प्रतिक्रिया की समानता का ज्ञान हो सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावात्मक प्रतिक्रिया में व्यक्तिगत धरातल पर थोड़ा-बहुत अन्तर मानते हुए भी उसमें कुछ ऐसे समान तत्त्व माने जाते हैं जो देश और काल की सीमा को लाँघ जाते हैं। इन तत्त्वों की सत्ता का कारण क्या है ? स्पष्टत: उनकी सत्ता का कारण है मानव-स्वभाव की समानता।

इसका यह मतलब नहीं है कि मानव-स्वभाव में कालक्रम में अन्तर नहीं पड़ता है। अन्तर तो पड़ता है। नयी परिस्थितियाँ और नयी समस्याएँ मनुष्य के व्यक्तित्व को नये प्रकार से प्रभावित करती हैं और उसके व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित करती हैं। लेकिन इस विकास के मूल में भी समानता का तत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान है। अगर यह समानता न होती तो प्राचीन आदर्श और प्राचीन कलाएँ आज हमारे लिए बिलकुल व्यर्थ हो जातीं।

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि कुछ व्यक्तियों का विवेक और कुशाग्रता विशेष रूप से उद्बुद्ध होते हैं और दूसरी यह कि मानव-स्वभाव में काल-भेद के बावजूद भी कुछ समान तत्त्व पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव नहीं कि कुशाग्र विवेक मानव-स्वभाव के इस समान अंश को पकड़ सके ? क्या ऐसी सम्भावना नहीं हो सकती कि प्राचीन काल के कुछ चिन्तकों ने मानव-स्वभाव के इस अपेक्षाकृत स्थायी अंश के आधार पर कुछ मूल्यों की प्रतिष्ठा की हो ? यदि यह सम्भावना है तो फिर यह सम्भावना भी हो सकती है कि ऐसे मूल्य केवल अपने प्राचीन युग में ही नहीं वरन् आज के युग में भी स्वीकार्य हों। इस प्रकार यह नहीं माना जा सकता

कि सभी प्राचीन मूल्य आज के युग के लिए मर चुके हैं। उदाहरण के लिए शान्ति और अहिंसा, सहयोग और संगठन के मूल्य आज भी उतने ही काम्य हैं जितने कि वे किसी प्राचीन युग में रहे होंगे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आज के लिए वही बात उपयोगी है जो पुरानी परम्परा के विरोध में और एक सर्वथा नवीन और मौलिक रूप में रखी जाय। लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ऐसा ही मानते हैं।

जहाँ तक व्यक्ति और साधना के सापेक्षिक मूल्य का प्रश्न है दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। एक प्रवृत्ति तो यह है कि व्यक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं है और साधना का महत्त्व अधिक है। ऐसी मान्यता को स्वीकार करने वाला व्यक्ति यदि परम्परा के महत्त्व को भी मानता हो तो वह यही कहेगा कि उसकी साधना परम्परा का ही एक रूप है और इसलिए परम्परा के विकास के लिए, परम्परा के लिए जनता की आस्था प्राप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐसा साधक व्यक्तिगत तत्त्व पर विशेष बल नहीं देता। उसका व्यक्ति परम्परा से एकात्म हो जाता है और इसलिए वह परम्परा के विरुद्ध या उससे स्वतन्त्र रूप से अपने अहम् की तुष्टि की बात ही नहीं सोचता। उसके अहम् की तुष्टि परम्परा के महत्त्व की प्रतिष्ठा में ही हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। ऐसा नहीं है कि वह अपने योगदान से परिचित न थे या यह बिलकुल नहीं समझते थे कि परम्परा का प्राचीन रूप क्या था। लेकिन उन्होंने अपने-आपको परम्परा के प्रति अर्पित कर दिया था और इसलिए परम्परा के गौरव की सिद्धि में ही उन्हें सफलता की अनुभूति हुई।

इसके विपरीत साधक का एक रूप वह भी है जो व्यक्ति पर विशेष बल देता है, जो परम्परा को इतना महत्त्व नहीं देता जितना कि अपनी साधना को देता है। वह ज्ञात या अज्ञात रूप से परम्परा से मूल्यों को ग्रहण तो करता है मगर परम्परा के विरुद्ध अपनी साधना के रूप में उन मूल्यों को रखता है। उसका अहम् परम्परालीन नहीं होता, वरन् परम्परा के विद्रोह में व्यक्त होता है। इसलिए यह व्यक्ति परम्परा का विरोध कर अपने मूल्यों को ही ग्राह्य रूप में प्रतिष्ठित करता है। उसकी तुष्टि परम्परा में नहीं साधना के निजत्व में हुआ करती है। सन्त कबीरदास ऐसे ही साधक थे। यद्यपि आज का विद्यार्थी जानता है कि उन्होंने परम्परा से अनेक तत्त्वों को स्वीकार किया है मगर उन्होंने परम्परा का घोर विरोध किया है और अन्यों की 'काग़ज़ की लेखी' के स्थान पर अपनी 'आँखिन की देखी' बातों की प्रतिष्ठा की है। ये 'आँखिन की देखी' परम्परा में भी विद्यमान हैं, 'काग़ज़ की लेखी' भी हैं, इस बात का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं था।

इसमें सन्देह नहीं कि दोनों प्रकार के साधकों द्वारा जीवनधारा का विकास

होता है। लेकिन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए अपने ख़तरे और अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ पहले प्रकार की साधना में ऐसे लोगों के शामिल हो जाने का ख़तरा है जो परम्परा के अन्धविश्वासी हैं और जिनके पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं है वहाँ दूसरे प्रकार की साधना में ऐसे व्यक्तियों के जमा हो जाने का डर है जो न तो परम्परा को समझते हैं और न ही जिनमें अपनी कोई जान है बल्कि जो शहीदों में नाम लिखाने-भर के लिए परम्परा का विरोध करते हैं तथा नयी चेतना और नयी कला के वाहक बनने की हवस रखते हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति में न तो अपनी बुद्धि होती है और न विवेक। केवल परम्परा के प्रति जनता में जो विश्वास और श्रद्धा के भाव होते हैं उनके बल पर वे अपने खेल दिखाते हैं और परम्परा के महान सपूतों के रूप में अपने-आपको पेश करने की फ़िराक़ में लगे रहते हैं। दूसरे प्रकार का व्यक्ति परम्परा से अपरिचित होता है और न ही उसमें इतनी योग्यता होती है कि वह परम्परा को जानने की कोशिश कर सके। मगर वह चाहता यह है कि उसका नाम भी पाँचों सवारों में शामिल हो जाय। और इसलिए परम्परा को गालियाँ देता हुआ कुछ 'अपनी' बातें कहता फिरता है। और आज के ज़माने में ऐसे 'घुड़सवार' भी घूमते दिखायी देते हैं जो हर 'गधे के सवार' को अपनी फौज में दाख़िल करने के लिए परेशान हैं।

इन दोनों प्रकार के लोगों से जीवन तथा कला के विकास में रुकावटें पेश आती रही हैं और आज भी यदि साधना को कोई सबसे बड़ा ख़तरा है तो वह इन्हीं लोगों से। इसलिए ऐसी चेतना जगाने की आवश्यकता है और ऐसा वातावरण बनाने की ज़रूरत है कि हमारी नौजवान प्रतिभाएँ गुमराह न हों और इस कुहासे और संघर्ष को सही-सही समझ सकें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कभी-कभी नये प्रयोग परम्परा के ही किसी पुराने मूल्य पर आधारित होते हैं और जीवन की नयी परिस्थितियों से समन्वित होकर उनमें नयी शक्ति पैदा हो जाती है। इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। दोनों ही उदाहरण आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन से सम्बद्ध हैं। एक उदाहरण तो सह-अस्तित्व पर आधारित विश्व-शान्ति और सहयोग का आदर्श है और दूसरा उदाहरण आज की बौद्ध-धर्म की गतिविधियों में है। वस्तुतः दोनों ही व्यापार परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि दोनों विश्व-जीवन को शान्तिपूर्ण एवं विकासशील देखना चाहते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श इतना प्राचीन होते हुए भी कितना नवीन है यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में यही प्रतिध्वनित है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

विज्ञान-पूर्व युग और विज्ञान-युग में जो एक क्रान्ति दिखायी देती है उसके

बावजूद भी विज्ञान-पूर्व युग के मूल्य मिटे नहीं हैं। बल्कि कुछ मूल्यों को तो अधिक बल और शक्ति मिली है। शान्ति और सहयोग के मूल्य ऐसे ही मूल्य हैं। विज्ञान से पहले के व्यक्ति ने उन मूल्यों को चेतना के धरातल पर ग्रहण किया। इनका व्यवहार भी किया लेकिन व्यवहार का क्षेत्र सीमित था। लेकिन विज्ञान ने क्षेत्र का अनन्त विस्तार कर दिया। आज की चेतना को सारी सृष्टि तक व्याप्त करने में सहयोग दिया। इस प्रकार इन मूल्यों को एक नया कार्य-क्षेत्र मिला। इसका नयापन इसके विस्तार में है और विज्ञान के उन साधनों में है जिन्होंने भौतिक विस्तार को संकुचित कर दिया है।

इस विवेचन के साथ ही हम प्रयोग के एक दूसरे रूप पर आते हैं। जब कभी जीवन का कोई एक पक्ष अधिक विकसित हो जाता है तो जीवन के शेष पक्षों को उसके अनुरूप विकसित करने के लिए उन पक्षों में नये प्रयोग किये जाते हैं। इन प्रयोगों का आधार प्राचीन संस्कृति न होकर समसामयिक जीवन के विकास का सन्तुलन ही है।

ऐसी स्थिति के दो पक्ष हैं। एक, जीवन के किसी एक पक्ष का अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाना। दूसरा, जीवन के अन्य पक्षों को उसके अनुरूप विकसित करने के लिए नये प्रयोगों की सृष्टि।

पहला सवाल यह है कि जीवन का कोई एक पक्ष उसके अन्य पक्षों की अपेक्षा क्यों अधिक विकसित हो जाता है?

इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। जीवन एक विकासशील धारा है। जीवन का यह विकास प्राकृतिक विकास के समान जड़ और अन्धा नहीं है। इस विकास में व्यक्ति के विवेक, उसकी कुशाग्रता और साधना का पूरा-पूरा हाथ है। जीवन का यथार्थ एक ही नज़र में अपने-आपको समर्पित नहीं कर देता। इसके लिए बड़े-बड़े दीदावर चाहिए और बड़ी लम्बी साधना चाहिए। आज तक व्यक्ति का विवेक जीवन के यथार्थ के नये-नये पहलुओं और आयामों को आविष्कृत करता जा रहा है। और जब कभी जीवन के किसी नये पहलू का ज्ञान होता है तब उस पहलू का विकास होता है। इस प्रकार विवेक जिस दिशा और क्षेत्र में अधिक लगन के साथ साधना करता है जीवन की उसी दिशा और उसी क्षेत्र का अधिक विकास होता जाता है।

उदाहरण के लिए आज के विज्ञान के विकास को लीजिए। पश्चिम में जब वैज्ञानिक क्रान्ति हुई और नवीन उद्योगों का विकास हुआ इससे न केवल उनका सारा जीवन प्रभावित हुआ, वरन् उसका असर सारे संसार पर पड़ा और संसार के बहुत से देश आज भी उस असर को भोग रहे हैं। हमारा देश भी उन्हीं में से एक है। यह तो साफ़ है कि विज्ञान की साधना समग्र जीवन की साधना का एक हिस्सा है। मगर जब इस साधना में जीवन का विकास हुआ

तो उसका धर्म, राजनीति, सामाजिक व्यवस्था आदि पर गहरा प्रभाव पड़ा। आज भारत जैसे देशों का जीवन अभी तक वैज्ञानिक प्रगति का साथ नहीं दे पा रहा है। कारण यह है कि पश्चिम में वैज्ञानिक प्रगति बहुत देर से तथा बहुत ज़ोरों के साथ हो चुकी है और इसलिए वहाँ जीवन के शेष पक्ष उसे पकड़ने की कोशिश में भारत जैसे देशों से आगे हैं।

आज के हमारे देश के वातावरण को देखिए। एक ओर तो विकास-योजनाओं की धूम मची हुई है। उन योजनाओं से आम आदमी को कितना फ़ायदा पहुँचा इससे यहाँ बहस नहीं है। सवाल सिर्फ़ यह है कि देश के जिन भागों में वैज्ञानिक प्रगति के फल प्राप्त हैं वहाँ का जीवन देश के उन भागों के जीवन की अपेक्षा जहाँ वैज्ञानिक प्रगति के फल नहीं पहुँचे, बहुत भिन्न है। एक ओर तो दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता का जीवन है तथा दूसरी ओर गाँवों और देहातों का जीवन है जो शहरों से बहुत दूर है। यहाँ जीवन का अन्तर और यहाँ तक कि विरोध देखते ही बनता है। आगामी जीवन की रूपरेखा क्या होगी यह भी अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे-जैसे गाँवों में वैज्ञानिक प्रगति की सुविधाएँ पहुँचेंगी वहाँ का जीवन भी गतिशील होगा और शहरी जीवन से होड़ करने लगेगा। इन दोनों प्रकारों के जीवन की बीच की कड़ी है मेरठ, आगरा आदि शहरों का जीवन। इसमें न तो बड़े शहरों जैसे जीवन की तेज़ गति है और न ही गाँवों जैसे जीवन-सा ठहराव है। इन शहरों का जीवन धीमी गति से चलता है। इसका कारण यह नहीं है कि यहाँ वैज्ञानिक सुविधाएँ सुलभ नहीं हैं। इसकी वजह तो यह है कि यहाँ के लोग वैज्ञानिक प्रगति से वैसा फ़ायदा नहीं उठा रहे हैं जैसा कि बड़े शहरों का जीवन उठा रहा है। इसलिए यहाँ गति भी धीमी है और संघर्ष भी कम है।

विज्ञान से हमारे जीवन को जो धक्का लगा है उसे आज तक संसार सहार नहीं सका। विज्ञान ने संसार के रहस्यों की खोजबीन करके ईश्वर और रहस्य की आस्था को मिटा दिया है। इसलिए विज्ञान पर आस्था रखने वाले के लिए ईश्वर और रहस्य-साधना पर विश्वास रखने के लिए कोई संगत आधार नहीं है। सूर्यलोक और चन्द्रलोक आदि के बारे में जो पौराणिक कल्पनाएँ थीं उनको मानने के लिए हमारे पास कोई संगत आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। एक तो यह कि व्यक्ति ईश्वर और धर्म को भुलाकर बिलकुल नास्तिक बन जाय और विज्ञान के समृद्ध जीवन के मूल्यों को अपना ले। दूसरी प्रतिक्रिया यह हो सकती है कि विज्ञान को अपनी जगह स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति प्राचीन ईश्वर और धर्म में अपनी आस्था बनाये रखे। और एक तीसरी स्थिति यह हो सकती है जिसमें व्यक्ति प्राचीन को तो अस्वीकार कर दे और नवीन मूल्यों पर अपनी

आस्था टिका न सके। यह तीसरी अवस्था सबसे अधिक ख़तरनाक होते हुए भी विकास के लिए आवश्यक है और आज हमारे समाज में इन तीनों प्रकार के व्यक्ति विद्यमान हैं।

स्पष्टतः पहली और तीसरी स्थिति को मानने वाले व्यक्ति, यदि वे साधक हैं, तो अपनी मान्यता के अनुसार अपनी-अपनी साधना-प्रणालियों को बदलना चाहेंगे और इस दिशा में प्रयास करेंगे। साहित्यकार इन नयी समस्याओं के आधार पर साहित्य-रचना करेगा, आलोचक इस नयी दृष्टि से जीवन और साहित्य पर विचार करेगा और अन्य क्षेत्रों के रचनाकार अपने-अपने क्षेत्रों को विकसित रूप देने का प्रयास करेंगे। ऐसी परिस्थिति में केवल लक्ष्य ही नहीं बदलेगा, लक्ष्य का रूप भी बदलेगा क्योंकि दोनों साथ ही रहते हैं। इसलिए चाहे ऐसे साधक हों जो नवीन मूल्यों के बारे में एक सन्तुलित दृष्टि रखते हैं और चाहे ऐसे साधक हों जो नये मूल्यों के बारे में तो कुछ न कहें मगर प्राचीन का विरोध करते हों, दोनों ही अपनी-अपनी रीति से जीवन को विकसित करने का कार्य करते हैं।

उपर्युक्त तीन स्थितियों के अतिरिक्त एक चौथी स्थिति भी दिखायी देती है जो बड़ी हास्यास्पद हो उठती है। जीवन का एक रूप वह भी है जो न्यूयॉर्क और वाशिंगटन में दिखायी देता है। स्पष्टतः यह जीवन का वह रूप है जहाँ तक हम अभी नहीं पहुँचे और उसे हम उसी रूप में ग्रहण करेंगे भी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन कुछ व्यक्तियों को वहाँ का जीवन देखने का अवसर मिला, वहाँ के साहित्यकारों और चिन्तकों को पढ़ने का मौक़ा मिला और वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि अपनी धरती ही भूल गये। उन पर वह जीवन हावी हो गया और वे अपने विचारों तथा कृतियों में उसी जीवन के गीत गाने लगे। हम विदेशी जीवन को देखने-परखने के विरोधी नहीं हैं वरन् चेतना के विकास के लिए इसे अनिवार्य समझते हैं। मगर व्यक्ति को यह हमेशा याद रहना चाहिए कि वह किस धरती पर खड़ा है। उसके आस-पास का जीवन कैसा है। जिन लोगों के लिए लिख रहा है वे उसे बर्दाश्त कर सकेंगे या नहीं। वह जिन चरित्रों और समस्याओं को रूप दे रहा है वे उसके अपने समाज के हैं या नहीं। इन बातों का ध्यान रखना ज़रूरी है। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति हवा में उड़ने लगता है और साधक की जगह बाधक बन जाता है। इस स्थिति से सावधान रहने की आवश्यकता है।

किस प्रकार जीवन के एक पक्ष के विकसित होने पर अन्य पक्षों के विकास की आवश्यकता पड़ती है, यह कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है।

आधुनिक साहित्य का उदाहरण लीजिए। भारतेन्दु-युग ने कौन-सा महत्त्वपूर्ण काम किया ? यही कि अपने युग की कला को जो पहले जीवन से

पिछड़ी हुई थी जीवन के साथ लाने की कोशिश की। यह प्रयास द्विवेदी-युग में भी चलता रहा। इन दोनों युगों में जीवन अधिक विकसित हो रहा था, उसमें नयी सम्भावनाएँ और नयी दिशाएँ खुल रही थीं लेकिन साहित्य-साधना उतनी विकसित नहीं थी। इस काल के प्रधान साहित्य-चिन्तकों ने इस विषमता को दूर करने के उद्देश्य से साहित्य को विकसित होने की प्रेरणा दी और उस प्रेरणा का परिणाम यह हुआ कि साहित्य जीवन के साथ क़दम मिलाकर चलने लगा।

छायावादी युग में जीवन एक ऐसी अवस्था में आ गया था जबकि विज्ञान का पहला-पहला असर देश में होने लगा था और इसके साथ ही विदेशी चिन्तन और साधना का देश पर प्रभाव पड़ने लगा था। छायावादी प्रयोग जहाँ एक ओर देश के जीवन से सम्बद्ध था वहाँ दूसरी ओर अंग्रेज़ी और बंगला प्रभाव को भी थोड़ा-बहुत लिये हुए था। जीवन में जो अन्तश्चेतना के तत्त्व के महत्त्व का उद्घाटन हुआ था और अनुभूति तथा उसकी उच्छ्वासमयी अभिव्यक्ति की जो आकांक्षा उभरी थी उसे छायावादी काव्य ने वाणी प्रदान की। इस प्रकार छायावाद एक ऐसा काव्यगत प्रयोग था जिसने कला को विकसित जीवन के साथ समन्वित करने का प्रयास किया।

छायावादी युग के पश्चात् प्रगतिवादी साहित्य-धारा ने अपने ढंग से साहित्य को जीवन की एक नयी धारा के साथ समन्वित करने का प्रयास किया और इस प्रकार भारतीय साहित्य-साधना में प्रगतिवादी साहित्य भी एक प्रयोग के रूप में ही उदित हुआ। प्रयोगवादी धारा पर भी विदेशी प्रभाव की बात कही और मानी जाती है।

इसी प्रकार आज जो नयी कविता आदि का आन्दोलन चला है यह भी जीवन की एक दृष्टि को मुखर करने के कारण एक प्रयोग ही है। यह धारा भी पाश्चात्य प्रभाव से युक्त है।

इस प्रकार छायवादी युग से ही हिन्दी-साहित्य-साधना पर विदेशी प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसलिए हमारे काव्यगत प्रयोगों पर विदेशी तत्त्वों का क्या असर रहा है, यह देखना आवश्यक है।

पहला सवाल है विदेशी प्रभाव को ग्रहण करने की प्रक्रिया के बारे में। यह पूछा जा सकता है कि विदेशी प्रभाव क्यों पड़ता है और वह कहाँ तक काम्य है ?

विदेशी प्रभाव के दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जो जीवन की अवस्था की समानता पर आधारित है और दूसरा वह जहाँ जीवन की अवस्था की समानता के अभाव में वह ज़बर्दस्ती थोप दिया जाता है। स्पष्टतः दूसरे प्रकार का

प्रभाव कभी मूल्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता और इस प्रकार का सांस्कृतिक आक्रमण गर्हित है और उसका विरोध होना चाहिए। ज़बर्दस्ती ईसाई या मुसलमान बनाने की तरह कभी-कभी कला में भी इस प्रकार का बलात्कार दिखायी देता है। इसके विस्तार में न जाकर प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार प्रभाव के पहले रूप की समीक्षा की जायेगी।

पश्चिम में जो स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन चला वह एक जीवनव्यापी आन्दोलन था और उसने साहित्य को भी प्रभावित किया था। विज्ञान की प्रगति के विश्वास के साथ व्यक्ति पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होने की कोशिश कर रहा था और काव्य में इसका प्रभाव अरस्तू के काव्यशास्त्र के बन्धनों से आज़ादी की आकांक्षा के रूप में दिखायी दिया। इस प्रकार काव्य ने प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर हृदय की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को परम मूल्य माना और इस प्रकार साहित्य में रोमांटिक धारा प्रवाहित हुई। इस काव्यधारा का सामाजिक आधार स्पष्ट है।

इधर भारतवर्ष में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में प्राचीन काव्य-रूढ़ियों के स्थान पर नयी काव्य-चेतना की प्रतिष्ठा को बल मिला था। यहाँ भी आधुनिक काल में जीवन को नयी दिशाएँ दिखायी दीं मगर यहाँ नवीनता का यह बोध उतना शक्तिशाली नहीं था जितना पश्चिम में था। इसका एक बहुत बड़ा कारण देश की गुलामी थी। इसलिए जब व्यक्ति की चेतना उभरी तो उसे दो दुश्मन दिखायी दिये—एक पुरानी रूढ़ियाँ, दूसरा तत्कालीन गुलामी। दोनों की तीव्र प्रतिक्रिया स्वच्छन्दता की भावना के रूप में होना लाज़िम था और इसलिए छायावादी काव्य के उदय के लिए स्वच्छन्दतावादी जीवन-भूमि का निर्माण हो चुका था और अगर यह प्रभाव न पड़ता तो भी हिन्दी काव्य-धारा स्वच्छन्दता की ओर निश्चित रूप से बढ़ती। हो सकता है कि इसकी गति कुछ धीमी होती ओर रूप थोड़ा भिन्न होता लेकिन यह आन्दोलन जन्म अवश्य लेता। इस आन्दोलन का मूल तत्त्व अनुभूति या चेतना ही रहा। और इस तत्त्व की एकता के लिए छायावादी काव्य को ब्रह्मवाद का आधार पुरानी परम्परा से प्राप्त हो गया था। इसलिए यह कोई संयोग नहीं है कि सभी छायावादी काव्य में ब्रह्मवादी स्वर आधार रूप में बोलता दिखायी देता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रभाव वहीं काम्य या मूल्य बनता है जहाँ जीवन-भूमियों की समानता का ठोस आधार प्राप्त हो। यह आधार जितना ही शक्तिशाली और ठोस होगा निजी साधना की सत्ता उतनी ही स्वतन्त्र और मूल्यवान होगी। जीवन-भूमि की समानता के अभाव में प्रभाव नक़ल मात्र है और यह निजी कला के विकास में बहुत बड़ी बाधा है।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी काव्य-

धारा और नयी काव्य-धारा पर जो प्रभाव पड़ा है उसके मूल में जीवन-भूमि की समानता जितनी अधिक है उसी सीमा तक वह प्रभाव मूल्य है, अन्यथा वह नक़ल है। और जब व्यक्ति की अपनी शक्ति सीमित होती है और महत्त्वाकांक्षा असीम होती है तो इस प्रकार के नक़लची पैदा हो ही जाते हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों के बारे में एक बात ध्यान देने की यह है कि छायावाद के बाद के प्रयोग एक धारा के रूप में ही रहे, उन्होंने समग्र काव्य-साधना को व्याप्त नहीं किया। दूसरे शब्दों में उन्होंने युगों का सूत्रपात नहीं किया वरन् नये युग के भीतर नयी धाराओं का प्रवर्तन किया। यह बात हमारे इस सिद्धान्त के अनुकूल ही है कि आज का युग संक्रान्ति-दर-संक्रान्ति का युग है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि नये प्रयोगों के उदय और विकास में विदेशी प्रभाव तभी मूल्य है जब मूलभूत जीवन-भूमियों की समानता है। इस समानता का स्वर जितना दुर्बल होगा, प्रभाव उतना ही बाधक और अस्वीकार्य होगा। इससे यह भी साफ़ है कि नये प्रयोग कहीं-न-कहीं जीवन के किसी नये तत्त्व या किसी नयी दिशा के रूप में उदित होते हुए जीवन-साधना के सभी रूपों में व्याप्त हो जाते हैं।

यह सवाल किया जा सकता है कि जीवन का कौन-सा पक्ष मूल तत्त्व है जिसमें नवीनता के आविष्कार के परिणामस्वरूप जीवन के अन्य पक्षों में भी नये प्रयोगों की अपेक्षा होती है।

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये गये हैं। एक मत विचार या चेतना को मूल तत्त्व मानता है और दूसरा पदार्थ को। अब इन दोनों पर अलग-अलग विचार किया जायेगा।

पहले मत के अनुसार सृष्टि का मूल सत्य चेतनशक्ति है जो निरन्तर विकासशील है। विचार के इस विकास के सत्य के आधार पर सृष्टि के विकास की व्याख्या करने का प्रयास एक ओर तो हीगल ने किया और दूसरी ओर अरविन्द ने किया। यद्यपि दोनों के दार्शनिक मतों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है लेकिन सृष्टि के चेतन विकास के सिद्धान्त को दोनों ही स्वीकार करते हैं।

इस मत की स्वीकृति के लिए कुछ सहज सत्यों पर विश्वास करना अनिवार्य है। जब तक उस मूल स्वयं-सत्य पर विश्वास न हो तब तक एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। यद्यपि उस स्वयं-सत्य की सत्ता की संगति के पक्ष में भी कुछ तर्क देने का प्रयास किया जाता है मगर वे तर्क पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं करते। स्वयं-सत्य की सत्ता के पक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि चिन्तन की प्रगति के लिए कोई-न-कोई आधार तो होना ही चाहिए। हमें अवश्य ही कुछ ऐसी बुनियादी बातों को स्वीकार करना पड़ेगा

जिन्हें आधार बनाकर आगे सोचा जा सके। उदाहरण के लिए दो और दो मिलकर चार होते हैं यह एक सहज-सत्य है। अथवा सृष्टि जैसी आज है कल भी वैसी ही रहेगी, आज आकर्षण के जो नियम काम कर रहे हैं, कल भी वे ही नियम काम करते रहेंगे ऐसी मान्यता के बिना हम जीवन की कोई योजना ही नहीं बना सकते। इन्हीं के समान अन्य कई सिद्धान्तों को हम स्वयं-सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। हमारे पास उनको प्रमाणित करने के लिए कोई तर्क नहीं होता। मगर उन्हें स्वीकार किये बिना ज्ञान-विज्ञान का कार्य ही नहीं चल सकता। अतः यह कहा जाता है कि जिस प्रकार विज्ञान में कुछ स्वयंसिद्ध सत्य होते हैं उसी प्रकार दर्शन में भी उन्हें स्वीकार करना आवश्यक है।

जिस प्रकार हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कल सूर्य का उदय होगा उसी प्रकार इसके लिए भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि मूल सत्य विकासशील चेतना ही है। यह तो हम जानते हैं कि संसार में आज तक रोज़ सूर्य का उदय होता रहा है; मगर कल या भविष्य में भी सूर्य का उदय होता रहेगा उसके लिए हमारे पास कोई सबूत नहीं हैं। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि आज ब्रह्माण्ड की ग्रहों-उपग्रहों की जो स्थिति है और आज वे जिन नियमों का पालन करते रहे हैं यदि वही स्थिति और वही नियय कल भी बने रहे तो सूर्य का उदय अवश्य होगा। मगर हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि कल भी वैसी स्थिति बनी रहेगी और कल भी वही नियम कार्यशील रहेंगे।

लेकिन इस मत के विपरीत यह दृष्टि पेश की जाती है कि जहाँ तक सम्भव हो, हमें यथार्थ के आधार पर ही नियमों या सिद्धान्तों की स्थापना करनी चाहिए। पहली दृष्टि सिद्धान्त के आधार पर यथार्थ की व्याख्या का प्रयास करती है, दूसरी दृष्टि यथार्थ के अनुसार सिद्धान्त की स्थापना करती है। इस प्रकार ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं।

पहली दृष्टि का आधार प्रायः कुछ स्वयं-सत्य या ग्रन्थ हुआ करते हैं। पाश्चात्य दर्शन में स्वयं-सत्यों का सहारा अधिक लिया गया है और भारतीय दर्शनों में प्रायः ग्रन्थों को—जिसे शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, आधार बनाया गया है।

मगर एक बात में उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ—जो सामान्यतः विचारवादी तथा यथार्थवादी दृष्टियाँ कही जाती हैं—समान हैं। विचारवादी दृष्टि अनेक प्रकार के शब्द-प्रमाणों में से किसी एक को या एक प्रकार के शब्दों को अपने चिन्तन का आधार बनाती है। इसी प्रकार यथार्थवादी दृष्टि भी यथार्थ के किसी एक रूप को अपना आधार बनाती है और उसी के आधार पर

सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करती है तथा उन्हीं को एकमात्र सत्य के रूप में मानना तथा मनवाना चाहती है। डार्विन के विकासवाद की प्रतिष्ठा के बाद अधिकांश विद्वान यथार्थवादी दृष्टि से अधिक प्रभावित हुए हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि आज विचारवादी धारा को कोई मान्यता नहीं है लेकिन वैज्ञानिक अनुसन्धानों का सहारा—चाहे यह सहारा कितना ही दुर्बल क्यों न हो—प्राप्त होने के कारण यथार्थवादी दृष्टि का प्रचार अधिक होता दिखायी देता है।

विचारवादियों के अनुसार साहित्य विचार की एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। इसीलिए साहित्य के द्वारा जीवन के परम मूल्य की प्राप्ति या उस मूल्य के समकक्ष रखे जा सकने वाले तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसको विविध दृष्टियों से विभिन्न प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यहाँ तीन दृष्टियों का विवेचन किया जायेगा—भारतीय अद्वैतवादी दृष्टि का और हीगल तथा शॉपनहावर के सिद्धान्तों का।

भारतीय अद्वैतवाद : भारतीय काव्यशास्त्र में रस को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य घोषित किया गया। सबसे पहले भरत मुनि ने नाटक-रचना की सार्थकता के लिए इस पदार्थ को अनिवार्य माना। इसके बाद अभिनव ने काव्य के सभी रूपों में रस को परम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। अभिनवगुप्त अद्वैतवादी थे किन्तु उनका अद्वैत शैव-दर्शन की ही एक धारा है। उनके बाद पंडितराज जगन्नाथ ने वेदान्त के आधार पर काव्य के परम मूल्य की व्याख्या का प्रयास किया।

अभिनव गुप्त के अनुसार सृष्टि सत्य है और शिव का ही रूप है। इसलिए सृष्टि भी सत्य है। विश्व की लीला-सृष्टि के समकक्ष ही साहित्य की सृष्टि भी मानी जा सकती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि तात्त्विक दृष्टि से दोनों ही एक स्तर की रचनाएँ हैं। उनमें अन्तर तो है मगर साहित्य मन की रचना होने के कारण चेतना के अधिक निकट है। इस निकटता के कारण ही साहित्य में चेतना के तत्त्व सृष्टि की अपेक्षा अधिक जीवन्त और स्पष्ट रूप से भासित होते हैं। और चेतना का प्रधान तत्त्व या गुण है आनन्द। इसीलिए साहित्य, जो कि चेतन मन की सृष्टि है, आनन्द को सृष्टि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से प्रेषणीय बना सकता है।

वास्तव में तो सृष्टि भी शिव का रूप होने के कारण आनन्दमय है। लेकिन मोह के कारण सृष्टि का यह आनन्द तिरोहित हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए कठोर अनवरत साधना की अपेक्षा होती है। इस साधना का अधिकारी कोई विरला व्यक्ति ही होता है इसलिए इस आनन्द का भोग करने वाले बहुत कम व्यक्ति ही होते हैं।

लेकिन साहित्य में वह आनन्द अधिक उभरकर आता है। सवाल हो सकता है कि इसका क्या कारण है ?

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है और इस पर विस्तार से विचार नहीं किया गया। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें साहित्यकार के व्यक्तित्व पर विचार करना होगा और अभिनव की दृष्टि से ही करना होगा।

साहित्यकार मूलतः एक साधक है यह सभी आत्मवादी विचारक स्वीकार करते हैं। वह साधक ज्ञान या भक्ति का साधक नहीं है। उसकी अपनी एक अलग ही रीति है जो इन साधना-पद्धतियों से भिन्न है मगर उनके समकक्ष रखी जा सकती है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार ज्ञान-मार्ग आदि का साधक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होता है उसी प्रकार साहित्य का साधक भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व ही हुआ करता है। इस वैशिष्ट्य का आधार है प्रतिभा। यह अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा तथा नव-नव-रूपोन्मेष-शालिनी है। इस प्रतिभा के प्रभाव से ही काव्य में विशिष्ट शक्ति की सृष्टि होती है। इस शक्ति को भट्टनायक ने भावकत्व कहा है और अभिनव ने विभावन व्यापार। वस्तुतः दोनों का उद्गम एक ही है। और यह है प्रतिभा। यद्यपि इस बात को किसी प्राचीन आचार्य ने स्पष्ट विवेचन के आधार पर प्रस्तुत नहीं किया, फिर भी अगर काव्य के इस अलौकिक व्यापार का मूल साहित्यकार में खोजने का प्रयास किया जायेगा तो वह प्रतिभा में ही लक्षित होगा। प्रतिभा दैवी तथा लोकोत्तर शक्ति है और इसीलिए उसके द्वारा निर्मित काव्य भी दैवी तथा लोकोत्तर शक्ति से युक्त होगा ही। कारण की शक्ति कार्य में सहज रूप से अभिव्यक्त होती ही है। अतः काव्य में एक विशिष्ट शक्ति है जो लोकोत्तर है और जिसे विभावन व्यापार कहा जाता है।

यहाँ तक तो हुई काव्य-रचना की बात। अब काव्यास्वाद पर विचार करने की आवश्यकता है। काव्य-रचना के विवेचन की जहाँ इति होती है वहीं से काव्यास्वाद का विवेचन आरम्भ होता है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के मार्ग पर चलने वाले सामाजिक के लिए भी विशिष्ट योग्यता को स्वीकार किया है। यह शर्त है सहृदयता की। जिस प्रकार भक्ति आदि अन्य मार्गों पर चलने के लिए कुछ साधन का होना ज़रूरी है उसी प्रकार काव्य के आस्वाद के लिए भी सामाजिक में विशिष्ट योग्यता होनी ही चाहिए। लेकिन केवल साधनयुक्त होने से ही साधक जीवन में आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकता। इसके लिए साधना और निर्देशन की अपेक्षा होती है और व्यक्ति को सजग रूप से यह साधना करनी पड़ती है। लेकिन काव्य के आस्वादक के लिए यह दूसरी शर्त बहुत आसान है। कारण यह है कि काव्य में स्वभाव रूप से ही ऐसी शक्ति विद्यमान है जो आस्वादक को ऊँचे धरातल तक ले जाने में

समर्थ है। शर्त केवल यह है कि वह अपने-आपको साहित्य के प्रति समर्पित कर दे। फिर आगे की उसकी साधना 'उसकी' न होकर 'काव्य-प्रेरित' होती है। विभावन व्यापार के प्रभाव से सामाजिक अपने-आप उस उच्च धरातल तक उठ जाता है जहाँ वह आनन्द की अनुभूति करने लगता है। साधक को उस धरातल तक उठने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता है। लेकिन सामाजिक के लिए यह कार्य काव्य की ओर से ही होता है। इसलिए यह मार्ग बहुत सरल है, कम साधना की अपेक्षा करता है और लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराता है। इसका आधार यह है कि साहित्य चेतन मन की लोकोत्तर सृष्टि होने के कारण मानव-मन के लिए सरलता से आस्वाद्य बन जाता है। कवि शिव की सृष्टि का पुनः सृजन करता है और इसीलिए अपनी रुचि के अनुसार उसे परिवर्तित करके सामाजिक के लिए आस्वाद्य बना देता है। साधक एक किसान के समान है जो स्वयं मेहनत करके अन्न उपजाता है। कवि का कार्य भी प्रायः वही है। लेकिन सामाजिक का रूप उपभोक्ता का रूप है जो किसान द्वारा पैदा किये हुए अन्न का उपभोग करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है : प्रतिभा-सम्पन्न मन की सजग सृष्टि होने के कारण ही साहित्य सामाजिक को लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराने में समर्थ होता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इस अनुभूति के आस्वाद के व्यापार का विवेचन अत्यन्त सरल रूप से किया है। साहित्य की शक्ति, जो मूलतः कवि की चेतना की शक्ति का ही प्रतिरूप है, सामाजिक की आत्मा के सभी आवरणों को भंग कर देती है और केवल रत्यादि का आवरण रह जाता है। रत्यादि के झीने आवरण से छनकर आती हुई सामाजिक की आत्मानुभूति ही रसानुभूति है। इस प्रकार सामाजिक साहित्य के द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग नहीं करता मगर एक ऐसी अनुभूति की चर्वणा करता है जो उससे कुछ ही नीचे है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मास्वाद काव्यास्वाद से उत्कृष्ट है और इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि ब्रह्मास्वाद का अभिलाषी व्यक्ति काव्यास्वाद को ही चरम लक्ष्य मानकर उसकी ओर आकृष्ट नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि साहित्य चेतना की वह अभिव्यक्ति है जो चेतन के परम आनन्द को तो व्यक्त नहीं करती लेकिन जो लोकोत्तर रस की अभिव्यक्ति के द्वारा उस परम आनन्द की ओर संकेत करती है।

उपर्युक्त विवेचन की अपनी सीमाएँ हैं और हम अन्यत्र उसका विस्तृत मूल्यांकन कर चुके हैं।[१] यहाँ भारतीय आत्मवादी चिन्तन के आधार पर

---

[१] देखिए 'रस-सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या'।

काव्यास्वाद के एक रूप की व्याख्या का प्रयास किया गया है। इसके बाद हीगल के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया जायेगा।

हीगल

हीगल के अनुसार सृष्टि का मूल सत्य चैतन्य (स्पिरिट) है। इसके विविध रूपों को ध्यान में रखते हुए हीगल ने इसे निरपेक्ष (एब्सोलूट) ईश्वर (गॉड) विचार या निरपेक्ष विचार, मन (माइण्ड) तथा संवित् (इन्टेलिजेन्स) भी कहा है। यह सृष्टि चैतन्य के विकास का ही परिणाम है। मनुष्य के रूप में विकसित चैतन्य में आत्मचैतन्य का गुण आता है। इसीलिए मनुष्य के रूप में चैतन्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है। विकास का गुण चैतन्य का सहज गुण है और इसलिए यह चेतन विकास एक मर्यादित रूप में होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य की बुद्धि इस विकासवाद के स्वरूप और रहस्य को समझने में समर्थ है। अतः हीगल ने बुद्धि की वैसी सीमाएँ स्वीकार नहीं की हैं जैसी कि काण्ट ने की हैं।

आत्मचेतन मानव के उदय के बाद भी संवित् का विकास जारी रहा। और मनुष्य की उपलब्धियाँ वस्तुतः उसी विकास-परम्परा का अंग रूप हैं। कला, धर्म और दर्शन ये तीनों चेतन विकासवाद के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व हैं। यद्यपि इनकी सृष्टि मनुष्य के मन ने की है लेकिन मन की उच्चतर शक्तियों का सहारा पाकर ही उन्होंने रूप ग्रहण किया है और इसलिए उनमें चेतन या विचार ही व्यक्त होता है। हीगल के अनुसार धर्म और दर्शन दोनों ही कला की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठता का आधारभूत सिद्धान्त है : जिस रूप में विचार जितनी अधिक सरलता, स्पष्टता एवं प्रधानता के साथ व्यक्त होता है वह रूप उतना ही श्रेष्ठ है। विचार का प्रत्यक्ष जितने स्पष्ट रूप से जिस तत्त्व में होता है वह उतना ही उत्कृष्ट कोटि का है। हीगल के मतानुसार विचार कला की अपेक्षा धर्म में अधिक प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होता है और धर्म की अपेक्षा दर्शन में अधिक प्रत्यक्ष रीति से स्फुट होता है। इसीलिए कला की अपेक्षा धर्म और धर्म की अपेक्षा दर्शन उच्चतर उपलब्धि है।

कलाओं के विवेचन में भी हीगल ने उपर्युक्त मूल दृष्टि का उपयोग किया है। इसके साथ-साथ दूसरी बात यह है कि हीगल चेतना के विकास को कालक्रमानुसार मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार चेतना के पुराने रूपों की अपेक्षा नये रूप श्रेष्ठ हैं। कलाओं के विवेचन में हीगल ने इस ऐतिहासिक दृष्टि को भी अपनाने की कोशिश की है। मगर उनकी इस कोशिश की आलोचना की गयी है और उसे स्वीकार नहीं किया जाता।

हीगल ने पाँच ललित कलाएँ मानी हैं : वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्र-कला, संगीतकला और साहित्यकला।

हीगल का मत है कि ललितकला का सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि कला आत्मचेतन मन की सृष्टि होने के कारण सृष्टि नहीं पुनर्सृष्टि है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति का सौन्दर्य उपेक्षणीय है। किन्तु प्रकृति की अपेक्षा चिति श्रेष्ठ है और उसी अनुपात में प्राकृतिक सृष्टि की अपेक्षा चैतन्य की सृष्टि भी उच्चतर है।

हीगल के अनुसार कला वास्तव में विचार का ऐन्द्रीय अवतार है। कला में विचार को इस रूप में उतारा जाता है कि वह इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य हो जाय। इसलिए कला का विषय तो है विचार और उसका रूप है विचार की ऐन्द्रीय अभिव्यक्ति। इस प्रकार हीगल के कला-विवेचन में विषय और रूप, विचार और अभिव्यक्ति में द्वैत है। इन दोनों तत्त्वों में से प्रधान विचार है। अतः जो कला विचार को जितनी स्पष्टता एवं प्रधानता के साथ व्यक्त करती है वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायेगी। ललित कलाओं में श्रेष्ठता का आधार है विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति। इस स्थिति पर यदि ध्यान से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रूप या सामग्री के संकोच के कारण ही विषय या विचार की प्रधानता होती जायेगी। जहाँ सामग्री विपुल है, वहाँ चेतना उसकी विपुलता में ही अटककर रह जायेगी और मूल विचार तक पहुँचने में बाधित होगी। जैसे-जैसे सामग्री का संकोच होगा वैसे ही वैसे विचार अधिक प्रत्यक्ष होगा और कला में उत्कर्ष आयेगा। सामग्री का यह संकोच कलाओं के इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। इस दृष्टि से हीगल ने पाँचों ललितकलाओं को तीन युगों में रखा है।

१. प्रतीकात्मक अवस्था: वास्तुकला

जब मनुष्य आत्मचैतन्य की स्थिति तक पहुँचा ही था, तभी इस प्रतीकात्मक कला का जन्म हुआ। यहाँ 'प्रतीकात्मक' शब्द का प्रयोग एक ख़ास अर्थ में किया गया है। जब यह कहते हैं कि वास्तुकला विचार की प्रतीक है तो इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि काव्य के सामान्य प्रतीक के समान वास्तुकला और विचार—प्रतीक और प्रतीकित तथ्य—दोनों समन्वित रूप से संपृक्त हैं। वरन् यहाँ प्रतीक का अर्थ यह है कि सामग्री पर विचार आरोपित कर दिया गया है। प्रतीक विचार को सहज रूप से व्यक्त नहीं करता वरन् ऐसा मान लिया जाता है कि वह विचार को व्यक्त कर रहा है और विचार उसमें समाहित है। यह उस समय की स्थिति है जब मनुष्य अपने-आपको प्रकृति में देखने का प्रयास आरम्भ करता है। इसीलिए यहाँ विचार भी अपूर्ण है और रूप भी दूषित ही रहता है। प्रतीकात्मक कला में व्यापकता और फैलाव होता है तथा इस व्यापकता एवं फैलाव के द्वारा विचार को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन विचार को पूरी तरह से

समझाना सम्भव नहीं होता और इसलिए विचार और अभिव्यक्ति में, विषय और रूप में पूर्ण सामरस्य की स्थापना नहीं हो पाती। दोनों में विरोध बना रहता है। इसीलिए हीगल ने प्राचीन हिन्दु-कला, मिस्र की कला और चीन की कला को अपूर्ण माना है।

मन्दिर प्रतीकात्मक कला का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मन्दिर के निर्माण द्वारा ईश्वर को एक आवास प्रदान करने का प्रयास किया जाता है और इस प्रकार ईश्वर के साक्षात्कार की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यद्यपि मन्दिर को ईश्वर का घर माना जाता है, फिर भी मन्दिर ईश्वर को अभिव्यक्त नहीं करता। कारण यह है, कि वास्तुकला की सामग्री सबसे अधिक स्थूल है और उसकी रचना यान्त्रिक नियमों के आधार पर की जाती है। यही कारण है कि वास्तुकला का रूप विचार को व्यक्त करने में असफल रहता है।

२. क्लासिकल अवस्था : मूर्तिकला

मूर्तिकला वास्तुकला की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था का संकेत करती है। इस विकास को जताने वाले दो कारण हैं। एक तो यह कि मूर्ति-कला में वास्तुकला की अपेक्षा कम सामग्री का उपयोग होता है। इसलिए स्थूल होने के बावजूद भी मूर्तिकला अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। दूसरा कारण यह है कि मूर्ति का निर्माण यान्त्रिक नियमों के अनुसार नहीं होता वरन् यहाँ एक नवीन तत्त्व का उदय होता है। और वह तत्त्व है आदर्श मानव-रूप। आदर्श मानव-रूप को ही सामने रखकर ईश्वर की प्रतिमा गढ़ी जाती है। इसलिए हीगल के अनुसार मूर्तिपूजा आत्मा के पतन का संकेत नहीं है वरन् वह तो हमें आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करती है। मूर्ति में रूप और विषय एक-दूसरे के निकट आते हैं और दोनों संपृक्त हो जाते हैं। इसलिए मूर्ति का मानव-रूप आत्मा की ज्योति से आलोकित हो उठता है और इसी रूप में उसका प्रत्यक्ष किया जाता है। किन्तु हीगल के मतानुसार ईश्वर का मानव-रूप वस्तुतः चिन्तन की अपरिपक्वता का ही परिचायक है। जब मन विचार को उसके शुद्ध रूप में ग्रहण करने में समर्थ हुआ तो कला का आगे विकास हुआ।

३. रोमानी अवस्था : चित्र, संगीत और काव्य

क्लासिकल अवस्था तक विचार को ऐन्द्रीय रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया। लेकिन विचार की शुद्ध अवस्था ईश्वर से या सगुण रूप से उत्कृष्ट कोटि की है। वह अरूप है, भाव रूप है, व्यक्त एवं व्याप्त है, आत्म रूप है। इसलिए विचार की सर्वोत्कृष्ट अवस्था वही है जहाँ वह आत्मा के रूप में, अखण्ड चेतना के रूप में अनुभव किया जाय। यह ऐन्द्रीय अवस्था से उच्चतर है और इसलिए इसका प्रत्यक्ष तर्क द्वारा ही सम्भव है। इस अरूप

चेतना को ऐन्द्रीय रूपों द्वारा व्यक्त करने का जो प्रयास होता है उसमें विचार की प्रधानता ही इष्ट है। ऐन्द्रीय रूप तो संकेत-भर करते हैं और जब व्यक्ति विचार करके मर्म तक—भाव, विचार या अनुभूति तक पहुँच जाता है तो वे ऐन्द्रीय रूप अनपेक्षित हो जाते हैं। अतः जो ऐन्द्रीय है वह आत्मा तक पहुँचाने का साधन-भर है और इसलिए कला के क्षेत्र में अनिवार्य होते हुए भी परम मूल्य नहीं है।

प्रतीकात्मक कला के समान रोमानी कला में भी विषय और रूप में द्वन्द्व रहता है किन्तु यह द्वन्द्व उच्च स्तर पर—आत्मिक स्तर पर होता है। प्रतीकात्मक कला में विषय अथवा विचार की अपूर्ण स्वीकृति होती है लेकिन रोमानी कला में विचार अधिक सशक्त होता है और इसलिए वह ऐन्द्रीय रूप को पराभूत कर अपने-आपको मुक्त एवं स्वच्छन्द रूप से प्रकाशित करने का प्रयास करता है।

रोमानी कला का मूल तत्त्व मनोवेग है। मनोवेग का सहारा लेकर रोमानी कला मनुष्य के भावों को, उसकी चेतना और उसकी आत्मा को प्रभावित करती है और इस प्रकार अनुभूति के स्तर पर चेतना का मानव-स्वभाव से पूर्ण तादात्म्य ही इसका परम लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस कला के द्वारा मनुष्य अपनी स्वार्थमयी सीमाओं को भूल-कर अनुभूति में लीन हो जाता है। चित्र, संगीत और साहित्य तीनों कलाओं के द्वारा यह उपलब्धि होती है।

चित्रकला : चित्रकला में वास्तुकला और मूर्तिकला की अपेक्षा एक आयाम कम हो जाता है। उसका आधार एक समतल धरातल है और मोटाई या तीसरे आयाम का अंकन भी रेखाओं या रंगों के द्वारा समतल धरातल पर ही होता है। इसलिए यह कला अधिक सूक्ष्म और विचार के अधिक निकट है। चित्र मानव-मन के सभी मनोवेगों और भावनाओं को व्यक्त करता हुआ मानव-आत्मा का स्पर्श करता है। लेकिन चित्रकला पूर्ण रूप से वस्तुपरक है और वह दिक् में बद्ध है। वह स्थिर तथा गतिहीन है और अपनी स्थिरता में ही विचार को बाँधने का प्रयास करती है।

संगीतकला : संगीतकला चित्र की अपेक्षा सूक्ष्म है। इसका आधार दिक् नहीं काल है। इसमें प्रत्यक्षता का अभाव है और उसकी स्थिति स्मृति के रूप में मन में विद्यमान रहती है। यह स्मृति काल में प्रसृत होती है। संगीत-कला का आधार केवल स्वर है और स्वरों के द्वारा ही यह अनुभूति को अभिव्यक्त करती है।

किन्तु इस कला के विषय में दो बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि संगीत की स्थिति स्वरों में है, स्वरों के आरोह-अवरोह में है। स्वर से पृथक्

उसकी कोई सत्ता नहीं है। दूसरी बात यह है कि संगीत की अनुभूति अस्पष्ट एवं धुँधली होती है। इसलिए वह कला के उत्कृष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है।

साहित्यकला : कला का सर्वश्रेष्ठ रूप साहित्य में लक्षित होता है। साहित्य का आधार शब्द है। मगर शब्द साधन मात्र है। अनुभूति को व्यक्त करने के उपरान्त उसका कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि अनुभूति ही लक्ष्य है। इसलिए हीगल के मतानुसार संगीत में स्वर का जो महत्त्व है, साहित्य में वही महत्त्व शब्द का नहीं है। इसलिए साहित्य में संगीत की अपेक्षा सामग्री का महत्त्व कम है। साहित्य की दूसरी प्रमुखता इस बात में है कि उसकी अनुभूति स्पष्ट एवं सम्बद्ध होती है जो कल्पना का सहारा लेकर संपृक्त तथा व्यक्त होती है। अतः काव्य का आधार तत्त्व कल्पना है। यद्यपि हीगल ने कल्पना की सत्ता सभी कलाओं में कमोबेश स्वीकार की है लेकिन काव्य में वह प्रधान तत्त्व है। काव्य का माध्यम केवल कल्पना है। इसीलिए काव्य सबसे अधिक स्वच्छन्द कला है। साहित्य कला का वह रूप है जिसमें कला अपना अतिक्रमण कर जाती है। भाव यह है कि जब मानव-चेतना और अधिक विकसित होती है तो वह ऐन्द्रीय रूपों के समवेत रूप—काव्य—को त्यागकर विचार के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश करती है और यहीं से धर्म तथा दर्शन का उदय होता है।

मूल्यांकन : हीगल के कला-विवेचन का सार ऊपर दिया गया है। जब हम इसके मूल्यांकन का प्रयास करते हैं तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि हीगल का कला का विवेचन एक कला-शास्त्री का विवेचन न होकर एक दार्शनिक का विवेचन है और इसलिए उसकी सीमाएँ कुछ वैसी ही हैं जैसी की प्लेटो के कला-विवेचन की हैं। मैं यह नहीं मानता कि दर्शन के आधार पर कला का विवेचन नहीं होना चाहिए या नहीं हो सकता लेकिन विवेचन के उद्देश्य आदि के प्रदेश से उसकी सीमाएँ संकुचित होती जाती हैं। विचार की क्रमिक अभिव्यक्ति के सिद्धान्त के साथ कलाओं के सामरस्य का यह प्रयास भी अपनी सीमाएँ लिये हुए है।

उदाहरण के लिए हीगल की यह मान्यता कि आत्मचेतन मन की सर्व-श्रेष्ठ अभिव्यक्ति दर्शन है, विवादास्पद है। और इसलिए हीगल का यह मत कि कला दर्शन से निम्न कोटि की है मान्य नहीं है। सृष्टि का क्रम उतना सीधा और सरल नहीं है जितना कि कई चेतनावादी चिन्तक मानते हैं। लेकिन अपने सिद्धान्त के आग्रह के कारण हीगल ने जहाँ साहित्य को सर्वोत्कृष्ट कला सिद्ध किया है वहीं कला की मृत्यु की घोषणा भी कर दी है। साहित्य

की उत्कृष्टता ही उसकी मृत्यु का कारण है क्योंकि उत्कृष्टता का आधार है विचार का शुद्ध प्रत्यक्षीकरण और इसे पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए काव्य की सीमाओं का उल्लंघन कर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करना अनिवार्य है। अतः जो साहित्य के उत्कर्ष का आधार है वही कला की मृत्यु का कारण भी।

दूसरा विवादास्पद तत्त्व है विषय और रूप के सम्बन्ध का। हीगल ने इनमें द्वैत माना है और किसी कला में विषय की प्रधानता मानी है तो किसी में रूप की। यह मान्यता कि विषय रूप से पृथक् है और रूप पर आरोपित कर दिया जाता है, सर्वथा अवैज्ञानिक है और इस स्थिति को आज का कोई भी काव्यशास्त्री स्वीकार नहीं करता। साहित्य एक अखण्ड सृष्टि है और उसे इस प्रकार पक्षों तथा तत्त्वों में विभाजित करके देखना साहित्य का हनन करना है।

इस द्वैत के कारण ही हीगल ने साहित्य के उत्कर्ष के विषय में जो तर्क उपस्थित किया है वह मान्य नहीं हो सकता। वह यह मानते हैं कि साहित्य में शब्द साधन मात्र हैं, संकेत मात्र है और इसलिए उसका वह महत्त्व नहीं जो विचार का है। किन्तु यह मान्यता असंगत है। शब्द के अतिरिक्त काव्य की सत्ता ही नहीं है। जो अनुभूति पाठक के मन में होती है उसका एक आधार शब्द एवं शैलीगत गुण ही है। जहाँ तक काव्य का सवाल है हम शब्द को भी उतना ही अन्तरंग मानते हैं जितना कि भाव या विचार माना जाता है। शब्द या शैली को काव्य का बाह्य पक्ष या बहिरंग मानने के लिए कोई ठोस आधार नहीं है।

तीसरी बात है कला के उत्कर्ष का सिद्धान्त। इसके दार्शनिक पक्ष का खण्डन जयशंकर प्रसाद ने किया है और यह धारणा व्यक्त की है कि भारतीय दर्शन के अनुसार यह सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। अनेक भारतीय चिन्तक सृष्टि को ब्रह्म का रूप मानते हैं और प्रसादजी स्वयं इसी मत को स्वीकार करते थे। जब यह स्वीकार कर लिया कि भौतिक सृष्टि या प्रकृति चेतन ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है तो पदार्थ या सामग्री का भी वही महत्त्व मानना चाहिए जो कि सूक्ष्म पर चेतन का है। अतः सामग्री की स्थूलता या सूक्ष्मता के आधार पर कलाओं के अपकर्ष या उत्कर्ष का निर्णय सम्भव नहीं है।

भारतीय चिन्तन में ऐसा सिद्धान्त भी है जो हीगल के विवेचन से समानता रखता है। ज्ञान-मार्ग पर आस्था रखने वाले और लोक से ऊपर उठकर परम तत्त्व को प्राप्त करने वाले साधक 'काव्यालापाश्चवर्जयत्' के सिद्धान्त को मानते रहे हैं। हीगल ने कला की अपेक्षा धर्म या भक्ति को श्रेष्ठ माना है

और भक्ति की अपेक्षा दर्शन को। कुछ ऐसा ही मत वेदान्ती का भी है। वेदान्ती के लिए कला माया के क्षेत्र की वस्तु है और इसलिए त्याज्य है। लेकिन आरम्भ में 'कान्तासम्मित उपदेश' के आधार पर उसकी उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है। यहाँ प्रश्न अधिकारी भेद का है। जिनकी चेतना उदात्त एवं उन्नत नहीं है वे कान्तासम्मित उपदेशयुक्त साहित्य से सन्मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। लेकिन यदि वे परमपद के इच्छुक हैं तो वे कला से बढ़कर भक्ति और भक्ति से बढ़कर दर्शन की ओर निश्चित रूप से बढ़ने का प्रयास करेंगे।

शंकराचार्य ने भक्ति को विद्या माया मानकर उसकी सापेक्षिक उपयोगिता को स्वीकार किया है। किन्तु माना उसे माया के क्षेत्र में ही है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग पर चलना अनिवार्य है। यह वह स्थिति है जिसमें भाव या मनोवेग की सत्ता नहीं है। इस अवस्था में व्यक्ति शुद्ध चैतन्य के क्षेत्र में विचरण करता है और उसका साक्षात्कार मेधा के द्वारा ही सम्भव है।

काव्य, धर्म और दर्शन उतने पृथक् नहीं हैं जितना कि हीगल समझते हैं। कबीर, तुलसी और प्रसाद जैसे कवियों पर धर्म और दर्शन का व्यापक प्रभाव है। कॉलरिज के अनुसार कवि के रूप में महान होने के लिए गम्भीर दार्शनिक होना भी अनिवार्य है। इस दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि काव्य के माध्यम में कला, धर्म और दर्शन तीनों के समन्वय का प्रयास हुआ। और इस प्रकार का प्रयास चाहे वह किसी भी भाषा या काल में क्यों न हुआ हो, महत्त्वपूर्ण रहा है। कारण यह है कि यह प्रयास प्रायः युगजीवन के मूल्यों और धाराओं के अनुरूप हुआ है। इसलिए एक युग या धारा के लिए जो सबसे महान है वह दूसरे युग या धारा के लिए उतना महान नहीं है। किन्तु समग्र जीवन-धारा के विकास में ऐसे प्रयासों से महत्त्वपूर्ण योगदान मिला है।

यहाँ सवाल इन प्रयासों के मूल्यांकन का नहीं है, उनके स्वरूप का है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि काव्य का एक रूप ऐसा भी हुआ है जिसमें कला, धर्म और दर्शन के समन्वय का प्रयास किया गया है। धर्म और दर्शन के समावेश से काव्य के कलात्मक मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ा यह प्रश्न विवादास्पद है। लेकिन इस प्रकार के समावेश से यह तो निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध होता है कि साधना का एक ऐसा रूप है जहाँ कला, धर्म और दर्शन समवेत रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि व्यवहार में कला, धर्म और दर्शन में वैसा पार्थक्य नहीं रहा जैसा हीगल मानते हैं।

शॉपनहावर

शॉपनहावर के कला-सिद्धान्त को समझने के लिए उनके दार्शनिक

सिद्धान्त के मूल तत्त्वों को जानना होगा। उनके अनुसार सृष्टि का मूल सत्य इच्छा है। यह इच्छा अगोचर तत्त्व है और सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त है। यह अभिव्यक्ति एक तो सामान्य वस्तुओं के विचारों के रूप में होती है। लेकिन इसका एक दूसरा रूप भी है। वह मूल विचार या विचार है। यह विचार प्लेटो के विचार के समान है। प्रत्येक वस्तु का आदर्श रूप एक विचार है और वे वस्तुएँ उस विचार की प्रतिकृतियाँ हैं। वस्तु का जो ज्ञान व्यक्ति को होता है वह भी विचार के रूप में ही होता है। इस प्रकार शॉपनहावर के अनुसार सृष्टि के तीन तत्त्व हैं : (१) मूल तत्त्व इच्छा है जो अगोचर है, (२) मूल विचार, जो वस्तुओं के आदर्श रूप हैं, और (३) विचार, जो प्रत्येक वस्तु का व्यक्ति द्वारा संवेदन है। सभी विचार इच्छा की अभिव्यक्ति होते हुए भी समान रूप से श्रेष्ठ नहीं हैं। पदार्थ सबसे निम्न कोटि की अभिव्यक्ति है और मानव सबसे उत्कृष्ट कोटि की। इसी आधार पर शॉपनहावर ने कलाओं का वर्गीकरण किया है।

दुःखवाद : शॉपनहावर दुःखवादी दार्शनिक हैं और बौद्ध-दर्शन से प्रभावित हैं। वह मानते हैं कि मनुष्य की बुद्धि इच्छा की भूख को तृप्त करने में असमर्थ है और इसीलिए जीवन में कभी सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनुष्य को जो सुख का अनुभव होता है वह वास्तव में क्षणिक और नश्वर है। मनुष्य का सारा जीवन कामना और उसकी तृप्ति के संघर्ष में बीत जाता है। तृप्ति क्षणिक होती है और इच्छा की प्राप्ति के तुरन्त बाद फिर वही प्यास और फिर वही संघर्ष। वस्तु की उपलब्धि उसके आकर्षण को नष्ट कर देती है और इच्छा नित्य नये रूप धरकर उपस्थित होती रहती है।

अब सवाल यह है कि इस दुःख से कैसे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। शॉपनहावर ने इसके दो रास्ते बताये हैं। एक रास्ता है कला का और दूसरा ज्ञान का। कला के द्वारा हम कारण-कार्य की ज़ंजीर में बँधी हुई सृष्टि और उसकी चेतना से मोक्ष पा लेते हैं। लेकिन यह मोक्ष अस्थायी होती है और कला से विरत होते ही फिर हम सृष्टि के दुःख-चक्र में बहने लगते हैं। दूसरा रास्ता ज्ञान और संन्यास का है। यह स्थायी मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग का मुसाफिर अपने-आपको सृष्टि के चक्र से मुक्त करने का प्रयास करता है। इच्छा और अतृप्ति को जीत लेता है और सृष्टि के वास्तविक स्वरूप को जानकर उसके चक्र से विरत हो जाता है। अन्त में वह अपनी इच्छा को, अपने अहम् को, अपनी चेतना को पराभूत कर निर्वाण की प्राप्ति करता है।

अब देखना यह है कि कला के द्वारा किस प्रकार व्यक्ति लौकिकता का अतिक्रमण करता है।

लौकिक धरातल पर व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को कारण-कार्य की श्रृंखला में

बाँधकर तथा उसे अपने स्वार्थ तथा अपनी आवश्यकता के साथ रखकर देखता है। स्वार्थ से भरा हुआ यह इच्छा का जगत् है और इसीलिए यह दुःखमय है। लेकिन जब व्यक्ति कला का आस्वाद करता है तब वह वस्तु विशेष को नहीं उसके विचार को, उसके सामान्य साधारण रूप को देखता है। इस अवस्था में बाह्य संसार की वस्तुओं तथा परिस्थितियों के बीच के सभी सम्बन्ध विलीन हो जाते हैं। इतना ही नहीं व्यक्ति उस वस्तु को अपने स्वार्थ के साथ सम्बद्ध करके भी नहीं देखता। इस प्रकार वस्तु-पक्ष में तो वह सभी सम्बन्धों से रहित विचार को देखता है और व्यक्तिगत पक्ष में वह एक शुद्ध चेतन प्रमाता पात्र रह जाता है। उसका अपना स्वार्थ भाव नष्ट हो जाता है और इसलिए वह ज्ञान का विशुद्ध साक्षीमात्र रह जाता है। इच्छा तथा बन्धन से रहित होने के कारण यह अवस्था आनन्दमयी अवस्था होती है।

स्पष्टतः शॉपनहावर का यह विवेचन भारतीय साधारणीकरण से समानता रखता है। उन्होंने काव्यास्वाद के दोनों संपृक्त पक्षों का—विषय पक्ष तथा विषयी पक्ष का—सापेक्षिक सम्बन्धों से मुक्त होना माना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे विषय पक्ष तथा विषयी पक्ष दोनों का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं।

इतना ही नहीं शॉपनहावर इस्थैटिक आनन्द को कला तक सीमित नहीं करते। वह उसे प्रकृति तथा जीवन में भी सम्भव मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति जीवन या प्रकृति के किसी तत्त्व को उसके सभी सम्बन्धों से मुक्त करके इच्छारहित होकर शुद्ध साक्षी के रूप में देखता है तो यह भी इस्थैटिक मनन की ही अवस्था है। यदि इस मत पर सूक्ष्मता से विचार करें तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आएँगी।

पहली बात तो यह है कि इस्थैटिक आनन्द की उपलब्धि का आधार सामाजिक का दृष्टिकोण है। कला के द्वारा जब सामाजिक इस्थैटिक आनन्द का अनुभव करता है तो वह सहज एवं सरल रूप से इस दृष्टिकोण को अपना लेता है। कला उसे उस अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होती है और उसे निजी साधना की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए कला का प्रभाव समाप्त होने पर वह फिर अपनी लौकिक अवस्था पर आ जाता है। लेकिन ज्ञान-मार्ग का साधक अपनी साधना के बल पर उस शुद्ध अवस्था तक पहुँचता है और साधना का ठोस आधार होने के कारण उसकी अवस्था स्थायी होती है।

भारतीय साहित्य में जब रस की आत्मवादी व्याख्या की गयी तो उसे सत्वोद्रेक की अवस्था से सम्बद्ध किया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने साधना के बल पर जीवन को सात्त्विक बना लिया है, उसे लोक में ही वैसी अनुभूति होने की सम्भावना हो सकती हैं जो काव्य के

द्वारा होती है। और इस प्रकार यह निष्कर्ष मान्य है कि भारतीय आत्मवादी दृष्टि के अनुसार भी जीवन में रसानुभूति सम्भव है।

जिस प्रकार शॉपनहावर ने इस्थैटिक आनन्द को निर्वाण की अवस्था के समीपस्थ माना है उसी प्रकार अभिनव आदि भारतीय रसशास्त्रियों ने रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिति' कहकर रस को ब्रह्मानन्द से एक सीढ़ी नीचे की अनुभूति माना है। इस प्रकार शॉपनहावर और पंडितराज दोनों ही रस को लौकिक अवस्था और परम अवस्था के बीच की दशा मानते हैं।

किन्तु इस समानता के स्पष्टीकरण से उनकी दार्शनिक दृष्टियों का अन्तर नहीं मिटता।

कलाओं का वर्गीकरण : शॉपनहावर ने कलाओं का जो वर्गीकरण किया है उसमें एक सीमा तक हीगल का सामग्री की स्थूलता का सिद्धान्त प्रकारान्तर से आया है।

वास्तुकला की सामग्री—पदार्थ—इच्छा की सबसे निम्नकोटि की अभिव्यक्ति है। वास्तुकला का आधार दृढ़ता और आकर्षण की समन्वित योजना है। इसलिए वास्तुकला सबसे निम्नकोटि की कला है।

मूर्तिकला और चित्रकला में पशुओं और मानव की आकृतियों का अंकन होता है। ये निश्चित ही इच्छा की अभिव्यक्ति के उच्च स्तर हैं इसलिए ये दोनों कलाएँ वास्तुकला की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।

काव्यकला उपर्युक्त सभी कलाओं से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि काव्य के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप, अन्तर्द्वन्द्व और विचार के अनुसार उसकी अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए काव्यकला के द्वारा व्यक्ति को इच्छा के उत्कृष्ट रूप का ज्ञान होता है। शॉपनहावर त्रासदी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं। कारण यह है कि त्रासदी जीवन की वास्तविक करुणा और निराशा के चित्रण द्वारा मनुष्य को संसार का वास्तविक ज्ञान प्रदान करती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य में सन्तुलन और निर्वेद की भावना उदित होती है और वह जीवन से विरत होने की कामना करने लगता है।

संगीत कला को शॉपनहावर ने सर्वश्रेष्ठ माना है। इसका कारण यह दिया गया है कि संगीत दृश्य सृष्टि को नहीं, इच्छा को ही व्यक्त करता है। वह अपनी सूक्ष्मता के कारण इच्छा को पकड़ सकने में समर्थ होता है। वह दुःख, हर्ष आदि सामान्य मनोवेगों की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार हीगल ने जिस 'अस्पष्टता' के आधार पर संगीत को काव्य से नीचे स्थान दिया था शॉपनहावर ने उसी 'सामान्यता' के आधार पर संगीत को काव्य से उत्कृष्ट माना

है। संगीत जिन भावों को व्यक्त करता है उन्हें वह यथार्थ से अछूता रखता है और इस प्रकार वे भाव शुद्ध भाव कहे जा सकते हैं।

यद्यपि शॉपनहावर की अपनी सीमाएँ हैं जिनका सृष्टा उसका दुःखवादी दर्शन है, फिर भी यदि उस दर्शन को हटाकर देखा जाय तो उपर्युक्त विवेचन में कई ऐसे तत्त्व हैं जो इस्थैटिक को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। इस दृष्टि से उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस्थैटिक अनुभव के दोनों पक्षों—विषय एवं विषयी—के मुक्त स्वरूप की प्रतिष्ठा है।

सामाजिक आलोचना का अर्थ-प्रधान रूप : मार्क्सवाद

सामाजिकता और ऐतिहासिकता एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। बिना ऐतिहासिक दृष्टि से देखे हुए समाज को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। इसकी वजह यह है कि आज यह साबित हो चुका है कि कोई भी सामाजिक संस्था अपने-आप में पूरी तरह से आज़ाद इकाई नहीं है। उसका एक इतिहास होता है, उसकी पृष्ठभूमि होती है और वह अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित और मर्यादित होती है। इसलिए चाहे उस संस्था के एक कालगत स्वरूप को, सामाजिक रूप को समझने की कोशिश की जा सकती है, और कभी-कभी की भी जाती है, फिर भी इस कोशिश से उसकी सत्ता के सभी पहलुओं का ज्ञान नहीं होता। यह तभी मुमकिन हो सकता है जब कि उसे ऐतिहासिक दृष्टि से भी समझने की कोशिश की जाएगी। इसलिए यह बात साफ़ है कि ऐतिहासिक अध्ययन सामाजिक अध्ययन की पूर्णता के लिए आवश्यक है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि बिना ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग किये हुए भी सामाजिकता का अध्ययन हो सकता है।

अब ऐतिहासिक अध्ययन के स्वरूप पर विचार कीजिए। क्या बिना सामाजिकता को स्वीकार किये हुए ऐतिहासिक अध्ययन हो सकता है? क्या सामाजिकता के अभाव में ऐतिहासिकता रह सकती है? स्पष्टतः ऐसा सम्भव नहीं है। बिना ऐतिहासिक दृष्टि के तो सामाजिकता का अध्ययन हो सकता है मगर बिना सामाजिकता को स्वीकार किये हुए ऐतिहासिक अध्ययन मुमकिन ही नहीं है। दरअसल ऐतिहासिकता काल के माध्यम से दिखायी देने वाली सामाजिकता ही है।

जैसे-जैसे विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ, ऐतिहासिकता और सामाजिकता का सही वैज्ञानिक सम्बन्ध स्पष्ट होता गया और इस सम्बन्ध पर आधारित दृष्टिकोण का सही उपयोग करने की प्रवृत्ति बलवती हुई। यह सभ्यता के विकास का एक सहज परिणाम है।

विज्ञान-पूर्व युग में विचार को ही मूल सत्य मानकर अधिकांश विचारकों ने जीवन की विचारवादी व्याख्या प्रस्तुत की। यद्यपि प्राचीन काल में भी

वस्तुवादी चिन्तक हुए लेकिन प्रधानता विचारवादी दृष्टि की ही रही। कई कारणों से भारत में विचारवादी दृष्टि का विकास मध्यकाल के पहले भाग में ही रुक-सा गया था। इसका एक प्रधान कारण यह था कि विदेशी शासनों के सर्वतोमुखी आक्रमण के जवाब में भारतीयों की शक्ति नये के विकास की ओर न उन्मुख हो सकी। उसका प्रधान उद्देश्य रह गया था प्राचीन की रक्षा। जहाँ अपनी प्राचीन संस्कृति की मौत दिखायी दे रही हो, जहाँ नये के ऐसे रूप पेश किये जा रहे हों, जिनका महल प्राचीन के विनाश पर ही खड़ा हो सकता है (जैसे इस्लाम और ईसाई धर्म) तो शासित संस्कृति की सारी शक्ति का उपयोग इसी दिशा में होगा कि उसकी संस्कृति की रक्षा हो। कहाँ नये के विकास के लिए न तो शक्ति ही रहती है, और न समय ही। और जब यह आक्रमण सदियों तक बना रहा हो वहाँ कुछ अर्से बाद संस्कृति की रक्षा प्राचीन की रक्षा बन जाती है। यह स्वाभाविक ही है। इससे प्राचीनता का मोह और नवीनता के प्रति सन्देह पैदा हो जाना कोई अजीब बात नहीं। इन दोनों बातों का परिणाम यह होता है कि विकास रुक जाता है। एक ओर तो समाज प्राचीनता से बँधा रहना चाहता है, क्योंकि प्राचीन के प्रति आस्था ही उसकी रक्षा का कवच सिद्ध होती है और फिर नये से एक अनासक्ति और विराम-सा हो जाता है। यह 'नया' उसका अपना विकसित 'नया' नहीं है बल्कि शासकों द्वारा आरोपित 'नया' होता है और इस 'नये' के प्रति शासकों के सम्बन्ध से सिवाय घृणा और तिरस्कार के कोई दूसरा भाव पैदा हो ही नहीं सकता। इसी स्थिति के कारण मध्यकाल के बाद भारतीय संस्कृति का विकास रुका-रुका-सा दिखायी देता है।

किन्तु पश्चिम में चिन्तन की गति नहीं रुकी। हीगल ने सारी सृष्टि को विचार के विकास का परिणाम माना था और यह दिखाने की कोशिश की थी कि विचार का सर्वश्रेष्ठ रूप दर्शन में व्यक्त होता है। जहाँ तक विचारवादी दृष्टि के विकास का सवाल था, हीगल में वह पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

विज्ञान के आविष्कारों से स्थिति में एक बुनियादी परिवर्तन आया। वैज्ञानिक दृष्टि के विकास तथा प्राकृतिक विकासवाद ने चिन्तन के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। उनसे प्रभावित होकर चिन्तन एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुआ।

नयी दृष्टि के अनुसार सृष्टि आज के-से रूप में निर्मित नहीं हुई थी। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के योग में जीवन-तत्त्व का आविर्भाव हुआ और वह ही अणु रूप से विकसित होकर आज की सृष्टि रूप में दिखायी देता है। डार्विन ने इस विकासवाद की प्राकृतिक शक्ति और जीवनी-शक्ति की प्रति-

स्पर्धा के रूप में व्याख्या करने की कोशिश की। जहाँ तक मनुष्य के विकास का सवाल है एक सीमा तक तो प्रकृति और जीवन की सहज शक्तियों की प्रतिस्पर्धा चलती रही। लेकिन उस सीमा के बाद व्यक्ति की सजगता और समझ का उदय हुआ। इस सजगता और समझ ने प्रकृति की शक्तियों की रौ में बहती हुई संघर्षशील जीवनी शक्ति को बोध दिया और उसे प्रकृति का सजग उपयोग करने की सीख दी। यह सजग उपयोग ही खेती-बारी और आदिम सरल संगठन से लेकर आज की यान्त्रिक संश्लिष्ट जटिल संगठन का आधार है।

इस विकास की एक कहानी तो हीगल ने प्रस्तुत की थी और उसकी एक दूसरी कथा मार्क्स ने सुनायी। मानव-सभ्यता के विकास का रहस्य जानने की जो कोशिश मार्क्स ने की उसके परिणामस्वरूप जीवन में अर्थ की महत्ता का आविष्कार हुआ। उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि मानव ने जो प्रकृति और जीवन-व्यवस्था पर 'सजग-प्रयोग' किये थे वे स्वाधीन नहीं थे। यह 'सजगता' जीवन की आर्थिक अवस्था द्वारा नियन्त्रित थी। इसलिए मानव-सभ्यता के विकास में जो-जो स्थितियाँ और अवस्थाएँ दिखायी देती हैं, वे सब बुनियादी रूप में समाज के आर्थिक पक्ष पर आधारित हैं। जिस सिद्धान्त के द्वारा इस विकास की व्याख्या की जाती है उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है ?

यह सिद्धान्त सामाजिक विकास का मूल संघर्ष में मानता है। यह संघर्ष एक निश्चित सरणि के रूप में होता है। पहले एक अवस्था (थीसिस) होती है। कालान्तर में जीवन आगे बढ़ता है और इस अवस्था के विरोध में एक प्रत्यवस्था (एण्टी थीसिस) का जन्म होता है। अवस्था और प्रत्यवस्था का यह संघर्ष कुछ काल तक चलता है और फिर समन्वय (सिन्थीसिस) में इसका शमन हो जाता है।

मगर इससे संघर्ष का अन्त नहीं होता। कालान्तर में समन्वय खुद एक अवस्था का रूप हो जाता है और फिर इसकी विरोधी प्रत्यवस्था का जन्म होता है और फिर एक समन्वय का उदय होता है। इस प्रकार जीवन का सारा विकास इस संघर्ष का ही इतिहास है।

सवाल है कि यह संघर्ष होता क्यों है ?

व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न्यूनतम सुविधाओं की अपेक्षा होती है। ये सुविधाएँ प्राप्त कैसे होती हैं ? जब तक मुद्रा का आविष्कार नहीं हुआ था, ये सुविधाएँ वस्तुओं के आदान-प्रदान से प्राप्त की जाती थीं और मुद्रा के आविष्कार के बाद मुद्रा इन सुविधाओं का साधन बनी। जिसके पास जितना अधिक धन था वह उतनी ही अधिक सुविधाएँ खरीद सकता था। नतीजा यह

हुआ कि मनुष्यों में धन-संग्रह की प्रवृत्ति बलवान होने लगी और इसके फल-स्वरूप अमीर और ग़रीब के दो वर्ग बन गये। अमीरों ने उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लिया और बाकी जनता उनके लिए उत्पादन का साधन बना ली गयी। ज़मींदारी के युग में धरती उत्पादन का साधन थी। ज़मींदार उसका स्वामी था। और धरती से उत्पादन करने के लिए उसने उन व्यक्तियों को नौकर रखा जिनके पास धरती नहीं थी। इस प्रकार शेष जनता भी ज़मींदारों के लिए उत्पादन का साधन बन गयी। अर्थ-संग्रह की प्रवृत्ति के कारण उत्पादन के साधन के अधिकारियों ने उत्पादन की साधन रूप जनता को अधिकतम मेहनत के बदले न्यूनतम मज़दूरी देनी चाही। मजदूर जनता ने मुनाफ़े में पूरा हिस्सा लेना चाहा। और इस प्रकार संघर्ष का बीज पैदा हुआ। धर्म और दर्शन ने भी इस शोषण में सहायता प्रदान की।

जैसे-जैसे व्यक्ति का व्यक्तित्व उभरा और परिस्थितियाँ बदलीं शासक और शासित या अधिकारी और अधिकृत का संघर्ष तेज हुआ और इस वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप ही सामाजिक व्यवस्था का विकास होने लगा। इस वर्ग-संघर्ष को दूर करने का एक ही रास्ता है—सभी व्यक्तियों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार हो। समाजवाद और फिर साम्यवाद की स्थापना से ही यह संघर्ष दूर हो सकता है। इसलिए जीवन की हरेक साधना का यह फर्ज है कि वह समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना में सहायता दे। साहित्य और कलाएँ भी वही श्रेष्ठ हैं जो इस कार्य में सहयोग देती हैं। इस प्रकार साहित्य की श्रेष्ठता की मूल कसौटी का निर्माण हुआ।

किसी भी युग की अवस्था का मूल उसका आर्थिक ढाँचा है। सामाजिक व्यवस्था, साहित्य, कलाएँ, धर्म और दर्शन सभी मूलतः समाज के आर्थिक जीवन द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। इसलिए सभी समस्याओं और संघर्षों का मूल भी आर्थिक जीवन में ही मिलता है। साहित्य का विवेचन करते हुए प्रधान बात देखने की यह है कि उसने इस सत्य को कितनी सच्चाई और गहराई के साथ दिखाया है। साहित्यकार कहाँ तक जीवन की विविध परि-स्थितियों एवं समस्याओं की इस आर्थिक तह तक पहुँच सका है यह उनके गौरव के लिए एक आधारभूत सवाल है। यह तो हुई पहली बात।

दूसरी बात यह है कि अर्थमूलक सामाजिक यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ लेखक कहाँ तक इस समाजवादी साम्यवादी आदर्श की ओर जन-मन को प्रेरित कर सका है? इन दोनों बातों पर ही साहित्यकार की महानता निर्भर करती है।

जब इस प्रकार की सामाजिक आलोचना (जिसे आगे प्रगतिवादी आलोचना कहा जाएगा) का जन्म हुआ, तब से लेकर आज तक उसके बारे में

कई समस्याएँ पैदा हुईं और उसका विकास भी हुआ। लेकिन उसके बुनियादी सिद्धान्त वही रहे। कहीं उनका उपयोग बहुत प्रच्छन्न रीति से हुआ और कहीं बहुत प्रत्यक्ष रूप में।

प्रगतिवादी आलोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने साहित्य के सामाजिक दायित्व को शक्तिशाली रूप में उपस्थित किया है। यह एक ऐसा बुनियादी मूल्य है जिससे कोई भी व्यक्ति, जिसे जीवन-साधना की उस सामूहिकता पर आस्था है, जिसे संस्कृति कहते हैं—इन्कार नहीं कर सकता। जो व्यक्ति संस्कृति का सही अर्थ समझता है वह साहित्य के सामाजिक या सांस्कृतिक दायित्व और महत्त्व की अवहेलना नहीं कर सकता।

जब प्रगतिवादी सिद्धान्त का उदय हुआ था उस समय प्रगतिवादी आलोचना में भी फ़ार्मूलों के प्रत्यक्ष प्रयोग पर ही बल दिया जाता था। लेकिन जब समझे-नासमझे इन फ़ार्मूलों का प्रयोग हर युग के साहित्यकार के साथ किया जाने लगा तो अराजकता और उलझनों का पैदा होना स्वाभाविक ही था। इसलिए इन सिद्धान्तों के प्रयोग में सावधानी एवं चतुराई की अपेक्षा हुई।

वे साहित्यकार जिनका जन्म मार्क्सवाद के प्रभाव से हुआ, मार्क्सवादी आदर्शों को सही व्यवस्थित रूप में पेश करने में समर्थ हुए। लेकिन उन साहित्यकारों का मूल्यांकन कैसे किया जाए जो इस सिद्धान्त के उदय से पहले हुए थे ?

इस समस्या को सुलझाने के लिए आर्थिक जीवन तक—सामाजिक जीवन की तह तक—जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए जनता के हितों, सामाजिक व्यवस्था की व्यापक उन्नति की भावना को देखना चाहिए। प्रगतिवादी आलोचना के अनुसार सभी साहित्यकार अपने युग की जीवन-व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इसलिए सही रास्ता यह है कि प्रत्येक साहित्यकार का मूल्यांकन उसके युग-जीवन के बीच रखकर किया जाय। देखना यह चाहिए कि उसने अपने युग-जीवन को व्यवस्थित, संगठित और विकसित करने में क्या सहयोग दिया। समाजवाद और साम्यवाद तो परम आदर्श हैं। उन तक पहुँचने के लिए कई मंज़िलें तै करनी होंगी। इन मंज़िलों में सामाजिक संगठन एक प्रधान मूल्य है। अगर कोई लेखक बिखरी हुई सामाजिक शक्ति को संगठित करने की प्रेरणा देता है तो वह उसी सीमा तक महान है। यदि उसमें कुछ प्रतिक्रियावादी तत्त्व हैं तो इस सीमा तक उसकी महानता ग्रसित हो जाती है। देखना यह चाहिए कि कुल मिलाकर समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। यदि प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के बावजूद भी वह संगठन को बलवान बना सका है तो वह स्वीकार्य है। इस रीति से तुलसीदास और प्रसाद जैसे धार्मिक और दार्शनिक कवियों की सामाजिक उपयोगिता स्वीकार्य हो सकती है।

जहाँ तक प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का सवाल है, प्रगतिवादी आलोचना की दो सीमाएँ रहीं।

हिन्दी में उसकी पहली सीमा तो यह है कि किसी भी प्रगतिवादी आलोचक ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया। सैद्धान्तिक विवेचन और कुछ व्यावहारिक आलोचना की उपयोगिता तो है मगर जरूरत इस बात की है कि समग्र हिन्दी-साहित्य की प्रगतिवादी समीक्षा की जाए। हो सकता है इसमें कुछ ऐसे निष्कर्ष निकलें जो कि बहुत कम लोगों को मान्य हों। लेकिन इससे सिद्धान्त के स्पष्टीकरण में, उसकी शक्ति और सीमा की पूरी-पूरी जानकारी होगी।

प्रगतिवादी आलोचना की दूसरी सीमा यह है कि वह प्राचीन साहित्य के उस पक्ष की व्याख्या नहीं कर सका है जो आज भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। एक दृष्टि से यह इस आलोचना की सबसे बड़ी सीमा है। आज कालिदास और होमर क्यों प्रभावित करते हैं ?

यदि यह माना जाए कि प्रत्येक युग का साहित्य युग-जीवन द्वारा नियन्त्रित होता है और उसके बाद दूसरे युगों का जीवन तथा साहित्य दोनों ही प्राचीन से भिन्न होते हैं तो इसका सहज निष्कर्ष यह है कि प्राचीन साहित्य आज के व्यक्ति के लिए आकर्षक नहीं होना चाहिए। लेकिन यथार्थ अनुभव इस निष्कर्ष के विपरीत है।

बुनियादी सवाल यह है कि प्राचीन साहित्य की महिमा का आधार क्या है ?

इसके तीन कारण हैं।

पहला आधार तो यह है कि व्यक्ति को अपने राष्ट्रीय या व्यापक रूप से सांस्कृतिक अतीत के प्रति एक आस्था होती है। एक विश्वास और आदर का भाव होता है। भारत का बालक आरम्भ से ही पढ़ने और सुनने लगता है कि कालिदास एक महान कवि हुआ है जो प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव का सबल आधार है तभी से उसके मन में कालिदास के प्रति एक निष्ठा और सम्मान जागृत होता है। अपने अतीत का गौरव-गान मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति (दुर्बलता) है। और इसलिए वह प्राचीन भी जिससे हम सहमत नहीं हैं, हमारे लिए मान्य हो जाता है।

कल्पना कीजिए कि आज का कोई व्यक्ति संस्कृत में किसी ऐसे नाटक की रचना करता है जो भरत मुनि के सिद्धान्तों का पूरी तरह पालन करता है, तो आज के आलोचक का उसके प्रति क्या दृष्टिकोण होगा ? स्पष्टतः वह इसे सम्मान नहीं देगा। अगर आलोचक को यह ज्ञात न हो कि वह रचना किसी आज के लेखक द्वारा रचित है और वह यह समझे कि यह रचना आज से हज़ार वर्ष

पहले की है तो उसका दृष्टिकोण क्या होगा ? स्पष्टतः वह अब जो उस रचना का मूल्यांकन करेगा वह पहले मूल्यांकन से बिलकुल भिन्न होगा। इस प्रकार के भ्रम के कारण कुछ रचनाओं को अपेक्षित से कहीं अधिक महत्त्व मिलता रहा है, यह सब जानते हैं। इससे क्या सिद्ध होता है ? यही कि सामयिक युग-जीवन रचनाओं के मूल्यांकन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

प्राचीन साहित्य की शक्ति का दूसरा कारण है उसकी कला या शिल्प। इसका सम्बन्ध कलाकार की निपुणता या कौशल से है जिसे प्राचीन आचार्य दैवी शक्ति का फल मानते रहे हैं। आज चाहे उस दैवी तत्त्व पर विश्वास किया जाए या नहीं मगर एक बात तो स्पष्ट ही है। आज भी कलाकार के शिल्प का विशेष महत्त्व है और यह शिल्प उसकी निजी शक्ति का परिचायक है। यह कहा जा सकता है कि आज का व्यक्ति प्राचीन साहित्य के शिल्प से प्रभावित होता है और उसके शिल्प के अनुरूप ही उसे महत्त्व देता है।

यह शिल्प वाला तत्त्व भी ऐतिहासिकता से निरपेक्ष नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है। वह शिल्प-विधि जिसके कारण कालिदास या अश्वघोष महान माने जाते हैं, यदि आज कहीं प्रयुक्त हो तो उसका मज़ाक ही होगा। आज भरत के नाट्य-सिद्धान्तों पर आधारित नाटक लिखने का साहस कोई लेखक नहीं कर सकता। इसलिए जब प्राचीन साहित्य के शिल्प के महत्त्व की बात कही जाती है तो ज्ञात या अज्ञात रूप से युग-जीवन की सापेक्षता का तत्त्व विद्यमान रहता है।

पुराने साहित्य के सम्मान का तीसरा और महत्त्वपूर्ण कारण है उसकी भाव-शक्ति। आज भी प्राचीन साहित्य व्यक्ति को भाव-विभोर कर देता है। ऐसा क्यों होता है ? क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि मानव-स्वभाव में कुछ मूलभूत समानता है जो सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन के बावजूद भी बनी रहती है ? प्राचीन साहित्य की भावात्मक शक्ति के आधार पर ही यह कहा जाता है कि मानव की भाव-सम्पत्ति आज भी वैसी ही है जैसी कि हज़ारों साल पहले थी। क्या आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का विकास व्यक्ति के भावों और मनोवेगों को बदलने में असमर्थ है ? यदि ऐसा है तो वह मार्क्सवाद की सबसे बड़ी सीमा है। इस स्थिति की सन्तोषप्रद व्याख्या प्रगतिवादी आलोचना नहीं कर पायी है।

इस सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण बातें विचारणीय हैं।

पहली बात तो यह है कि यह सवाल किया जा सकता है कि क्या 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का आज भी वही रागात्मक प्रभाव है जो कालिदास के युग में था ? यह कहा जा सकता है कि इस सवाल का सही जवाब नहीं दिया जा सकता। इसका कारण यह है कि भाव एक व्यक्तिगत मानसिक अवस्था है और उसे

सिवाय अनुभव करने वाले के और कोई नहीं जान सकता। और इसलिए आज के व्यक्ति की अनुभूति और प्राचीन व्यक्ति की अनुभूति की तुलना का, समता-विषमता के निश्चय का सवाल ही नहीं पैदा होता। लेकिन प्रस्तुत स्थिति में हमारा सहायक तत्त्व है भाषा। कालिदास ने मिलन, विरह आदि की स्थितियों के वस्तुपरक चित्रण के साथ-साथ पात्रों की मानसिक अवस्थाओं का वर्णन भी किया है। इस चित्रण और वर्णन के आधार पर आज का व्यक्ति अपनी मानसिक प्रतिक्रिया की तुलना प्राचीन सहृदय की मानसिक प्रतिक्रिया से कर सकता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि क्या आज के व्यक्ति के भाव बिलकुल वैसे ही हैं जैसे कि पुराने व्यक्ति के भाव थे ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मानसिक स्थिति की तुलना का तो सवाल ही नहीं पैदा होता है। इसके अभाव में भाव के वस्तुगत तत्त्वों की तुलना की जा सकती है। वस्तुगत तत्त्वों से अभिप्राय कारण, कार्य आदि अथवा आलम्बन उद्दीपन आदि से है।

क्या भाव की वस्तुगत सामग्री में कोई अन्तर नहीं आया ? क्या वस्तुगत सामग्री के मानसिक सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं आया ?

सच तो यह है कि परिवर्तन दोनों में ही आया है। एक ओर तो भाव के नये-नये आलम्बन, नये-नये विषय सामने आये हैं। इतना ही नहीं, पुराने आलम्बन आदि के रूपों में भी अन्तर आया है। कालिदास या घनानन्द की नायिका और आज की हीरोइन में बड़ा फ़र्क है। और यह अन्तर केवल व्यक्तियों में ही नहीं व्यवस्थाओं, बन्धनों, अधिकारों और संस्कारों का भी अन्तर है। यह सवाल हो सकता है कि 'लेगुना' और 'जीमख़ाना' में मिलनेवाले आज के प्रेमी-प्रेमिकाओं की अनुभूति वैसी ही होती है जैसी कि दुष्यन्त और शकुन्तला ने तपोवन में मिलन के अवसरों पर की थी ? अनुभूतियों की तुलना असम्भव होने पर भी वातावरण एवं व्यवस्था के अन्तर के कारण दोनों अनुभूतियों में अन्तर की कल्पना की जा सकती है। लेकिन इस अन्तर की मान्यता के साथ-साथ दोनों अनुभूतियों के समान अंश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भाव-सामग्री के इस अन्तर के कारण पुराने और आज के व्यक्ति के 'समान मनोवेगों' में कितना अन्तर आया है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मगर समानता वाला अंश बहुत स्पष्ट है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त प्रगतिवादी आलोचना के सामने एक बुनियादी समस्या है शिल्प और उसके महत्त्व की। यह आलोचना सामग्री को प्रधान महत्त्व देती है और इसलिए यह कहा जाता है कि यह रूप अथवा शिल्प की उपेक्षा करती है। इसके लिए शिल्प का सौन्दर्य उतना अनिवार्य नहीं है जितना

विषय का उत्कर्ष। शिल्प और सामग्री की समस्या पर रूपात्मक आलोचना में विस्तार से विचार किया जाएगा।

साहित्य और प्रचार

साहित्य और प्रचार की समस्या कोई नयी समस्या नहीं है। लेकिन जब से मार्क्सवाद का उदय हुआ है और वह रीति सामने आयी है जिसमें साहित्य को एक निश्चित सिद्धान्त की खूँटी से बाँधने का बलपूर्ण प्रयोग किया जाता है तब से साहित्य और प्रचार की समस्या अधिक गम्भीर रूप में सामने आयी है। इस समस्या पर दो विरोधी एवं एकांगी मतों का संघर्ष होता रहा है। एक मत तो साहित्य को प्रचार का शक्तिशाली साधन मानता है और प्रचार की शक्ति के स्तर को ही साहित्य के उत्कर्ष का आधार मानता है। दूसरे मत के अनुसार साहित्य न केवल प्रचार से अछूता होना चाहिए वरन् उसका जीवन से भी कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। दरअसल अपनी एकांगिता में ये दोनों ही मत ग़लत हैं।

काव्य और प्रचार के सम्बन्ध की समस्या पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि काव्य और प्रचार दोनों का अलग-अलग रूप क्या है। जहाँ तक काव्य के रूप का सवाल है कोई विशेष मतभेद के लिए अवकाश नहीं है। काव्य के मूल्यों एवं सिद्धान्तों के बारे में तो मतभेद है लेकिन काव्य क्या है इस पर सामान्य तौर पर सभी सहमत हैं। इसलिए पहले तो हम यह मानकर चलते हैं कि काव्यत्व का स्वरूप क्या है यह निश्चित एवं ज्ञात है।

इधर काव्य के साथ-साथ अकाव्य की चर्चा भी होने लगी है और इस विषय में मतभेद भी सामने आने लगे हैं। लेकिन यहाँ इस समस्या पर विस्तार से विचार करने का अवकाश नहीं। और इसीलिए काव्य को उसी अर्थ में ग्रहण करना उपयोगी होगा जिस अर्थ में वह परम्परा एवं समाज द्वारा गृहीत है।

अब सवाल है प्रचार का। प्रचार शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। रेडियो, अख़बार आदि प्रचार के साधन माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त विविध सिद्धान्त-वादियों द्वारा ऐसा साहित्य भी तैयार किया जाता है जिसे प्रचार-साहित्य (प्रोपैगण्डा लिट्रेचर) कहा जाता है। मशीनें, पंखे और ज़र्दे की बिक्री के लिए भी प्रचार किया जाता है। राजनीतिक चुनावों में भी प्रचार की धूम होती है। आर्यसमाजी मौलवी और पादरी भी अपने-अपने धर्मों का प्रचार करते हैं। इस प्रकार प्रचार शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार के कार्यों के लिए होता है और ये कार्य महत्त्व एवं स्तर आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यही कारण है कि जब काव्य और प्रचार की समस्या पर विचार करना हो तो यह देख लेना चाहिए कि यहाँ प्रचार के अर्थ का स्तर क्या है?

सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी सिद्धान्त या वस्तु

की प्रसिद्धि और जन-स्वीकृति के लिए उसके गुणों को किसी भी रीति या साधन से जनता तक पहुँचाना प्रचार कहलाता है। प्रचार करने वाला प्रचार्य के गुणों का ही वर्णन करता है, उसके दोषों का नहीं और उसका उद्देश्य प्रचार्य की प्रसिद्धि मात्र ही नहीं है, वरन् जनता द्वारा उसकी स्वीकृति है। ये बातें तो बहुत साफ़ हैं। लेकिन रीति या साधन वाली बात ज़रा जटिल बात है। उस पर पूरी गहराई से विचार होना चाहिए।

'चना जोर गरम' जैसे पद्यों से लेकर रेडियो, अख़बार, प्रचार-साहित्य सभी प्रचार के साधन हैं। सभी प्रचार्य वस्तु या सिद्धान्त के गुणों का वर्णन कर जनता को उसमें आसक्त करते हैं। काव्य पर विचार करते समय हम वस्तु के प्रचार वाली बात को छोड़ देते हैं क्योंकि काव्य पर वस्तु के प्रचार का आरोप तो नहीं लगाया जाता। रही सिद्धान्त वाली बात सो उसको लेकर तीव्र वादविवाद होता रहता है। उपर्युक्त सभी साधनों से सिद्धान्तों का प्रचार भी किया जाता है। इस बारे में मतभेद नहीं है। लेकिन क्या काव्य भी सिद्धान्त के प्रचार का ही साधन है?

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं।

एक तो यह कि काव्य सिद्धान्त के प्रचार का माध्यम होना चाहिए और दूसरा यह कि काव्य का सिद्धान्त के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों की चर्चा की जा चुकी है।

इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी हो सकती है जो अधिक संगत प्रतीत होती है। वह यह कि काव्य सिद्धान्त का प्रचार करता है। यह मत शुरू में तो अस्वीकार्य प्रतीत होगा लेकिन गहराई से विचार करने पर इसकी संगति स्पष्ट हो जाती है।

यह तो आवश्यक नहीं कि प्रत्येक रचना में कोई विचार सिद्धान्त रूप में व्यक्त किया ही जाए। कुछ रचनाएँ, जो भाव-प्रधान होती हैं, विचार को गौण रूप में ही धारण करती हैं। मगर वे रचनाएँ जिनमें चिन्तन सम्बद्ध, संगत एवं प्रभावी रूप में व्यक्त किया जाता है निश्चित ही सिद्धान्त का प्रचार करती हैं।

काव्य में सिद्धान्तों के वाहक और प्रतीक पात्र हुआ करते हैं। कवि पात्रों के माध्यम से ही अपनी आस्था, अपने विश्वास और अपने आदर्श व्यक्त करता है। सामाजिक जब काव्य पढ़ता है तो उसके मन में पात्रों के प्रति आसक्ति या विरक्ति का उदय होता है। आसक्ति या विरक्ति का यह उद्रेक कलाकार द्वारा ही नियन्त्रित होता है क्योंकि वही पात्रों का सृष्टा है। प्रायः यह होता है कि कवि नायक के माध्यम से अपने सिद्धान्त को व्यक्त करता है तथा खलनायक को विरोधी विचार का प्रतीक बनाता है। इस दृष्टि से सभी पात्रों को

दो वर्गों में रखा जा सकता है—एक अनुकूल वर्ग जो रचनाकार के सिद्धान्त के अनुकूल है, द्वितीय प्रतिकूल वर्ग जो रचनाकार के सिद्धान्त का विरोधी है। हमारे विचार से पात्रों का यह वर्ग अन्य सभी वर्गों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। रचनाकार चरित्रण इस रूप में करता है कि सामाजिक अनुकूल पात्रों में आसक्त हो और प्रतिकूल पात्रों से विरक्त हो।

मूल प्रश्न यह है कि इस आसक्ति और विरक्ति का सिद्धान्त के प्रचार से क्या सम्बन्ध है ?

यह तो स्पष्ट है कि आसक्ति आदि का सम्बन्ध मात्र सिद्धान्त से नहीं है। कवि पात्रों को जीवन की विविध परिस्थितियों के बीच चित्रित करता है और उनकी प्रतिक्रियाओं को दिखाता है। इन परिस्थितियों और प्रतिक्रियाओं द्वारा सामाजिक की भावना बहुत-कुछ नियन्त्रित होती है। इसी के अन्तर्गत पात्रों के सिद्धान्त भी आ जाते हैं। क्योंकि पात्रों का जीवन और संचालन उन सिद्धान्तों के आधार पर ही होता है। नतीजा यह होता है कि जिन पात्रों के प्रति आसक्ति होती है उन पात्रों के सिद्धान्तों के प्रति भी आसक्ति होती है और जिन पात्रों से विरक्ति होती है उनके सिद्धान्तों से भी विरक्ति होती है। यह आसक्ति और विरक्ति ही प्रचार का आधार है।

या तो हम यह मानें कि कृतिकार का कोई सिद्धान्त ही नहीं होता और वह सामाजिक आसक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करता। यदि हम यह नहीं मानते तो हमें यह मानना होगा कि काव्य के द्वारा प्रचार होता है।

कृतिकार के लिए सिद्धान्त का होना अनिवार्य है। कोई भी महान लेखक ऐसा नहीं हुआ और न ही हो सकता है जिसका जीवन के प्रति कोई निश्चित मत न हो। और यदि उसका कोई निश्चित मत है तो फिर उसकी अभिव्यक्ति उसकी रचना में होना स्वाभाविक ही है। और यह भी स्पष्ट है कि जो उसका अपना सिद्धान्त है वह पाठक में आसक्तिजनक ही होगा। ऐसा न होने पर वह असफल समझा जायेगा।

इसका यह अभिप्राय: नहीं कि प्रचार शक्ति साहित्य का एकमात्र मूल्य है। प्रचार तो काव्य का सहज स्वभाव ही है। जिस सीमा तक वह काव्य का सहज स्वभाव है, उसी सीमा तक ही वह उसका मूल्य भी है। लेकिन काव्य के अन्य मूल्य भी होते हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। काव्य की शैली और शिल्प उसके महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं। ये ही वे मूल्य हैं जो काव्य को काव्यत्व प्रदान करते हैं तथा प्रचार के अन्य साधनों से उसका अन्तर स्पष्ट करते हैं। इस सत्य को समझने के उपरान्त ही इस मत की संगति स्पष्ट होती है कि प्रचार साहित्य का सहज तत्त्व है।

यह स्थिति प्रचारवादी और प्रचार-विरोधी दोनों दृष्टियों से मूलतः भिन्न

है। प्रचारवादी प्रचार को काव्य का स्वभाव न मानकर एक आरोपित तत्त्व मानते हैं। प्रचार को साहित्य का एकमात्र मूल्य मानते हैं और दृढ़ नियन्त्रण के द्वारा प्रचार के आदर्श को निभाने पर बल देते हैं। नतीजा यह होता है कि काव्य के अन्य मूल्यों का तिरस्कार हो जाता है। प्रचार तो रह जाता है पर काव्य नष्ट हो जाता है। अब तो दृढ़ प्रचारवादी भी काव्यत्व की इस हानि की ओर ध्यान देते प्रतीत होते हैं।

प्रचार-विरोधी भी प्रचार को काव्य का स्वभाव नहीं मानते। लेकिन साथ ही अपने सिद्धान्त की एकमात्र सत्यता की घोषणा भी करते हैं। मतलब यह कि वे काव्य में सिद्धान्त की सत्ता तो मानते हैं मगर प्रचार की नहीं। यह एक अन्तर्विरोधी स्थिति है जो उनके असंगत मत से निसृत होती है। यदि कृतिकार का सिद्धान्त है और वह सिद्धान्त रचना में व्यक्त होता है तो सामाजिक में उसकी प्रतिक्रिया भी निश्चित रूप से होगी। और यह प्रतिक्रिया या आसक्तिमूलक होगी या विरक्तिमूलक। और उस आसक्ति-विरक्ति के परिवेश में ही सिद्धान्त का प्रचार होगा।

इस स्थिति से बचने के लिए तथा अपनी असंगति की सिद्धि के लिए ऐसे विचारक एक और असंगति का सहारा लेते हैं। वे संप्रेषण को ही अस्वीकार कर देते हैं। उनकी दृष्टि में कवि कहता है, बस कहता है। किसके लिए? किसी के लिए नहीं। वह तो सिर्फ़ कहता है। तो यह सवाल होगा कि मान लीजिए वह कहने के लिए ही कहता है, पर वह जो कहता है उसे पाठक तो पढ़ता ही है। मान लीजिए लेखक दिल से यह भी नहीं चाहता कि उसकी रचना कोई पढ़े मगर जब वह रचना प्रकाशित करवाता है तो पाठक उसे पढ़ेगा ही। यह भी माना कि वह सिर्फ़ छपवाने के लिए ही छपवाता है, फिर भी जब रचना छप गयी तो उसे लोग पढ़ेंगे ही। और जब लोग पढ़ेंगे तो उनकी प्रतिक्रिया भी होगी। और यह प्रतिक्रिया विरक्ति या आसक्ति रूप ही होगी। तो बात फिर वहीं पहुँच गयी।

हो सकता है कि प्रचार-विरोधी पाठक की इस आसक्ति या विरक्ति के लिए भी उत्तरदायित्व न स्वीकार करना चाहे। ऐसी हालत में यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक ही है कि आखिर वह अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने से इतना घबराता ही क्यों है?

जहाँ तक संप्रेषण का सवाल है वह सजग या असजग नहीं हुआ करता। उसे सजग रूप से न तो सिद्ध किया जा सकता है और न ही सजग रूप से असिद्ध ही किया जा सकता है। वह तो कला का सहज स्वभाव ही है। जो कला के स्वभाव को पूरी तरह नहीं जानते वे ही संप्रेषण से बचने के लिए उसकी व्यर्थता की बात कहते हैं। बुनियादी स्थिति तो यह है कि पाठक जब

रचना पढ़ेगा तो उसके मन में कोई-न-कोई प्रतिक्रिया निश्चित रूप से होगी। सवाल यह है, हो सकता है कि वह प्रतिक्रिया कलाकार की अनुभूति से किस रूप से सम्बद्ध है ?

यह तो निर्विवाद है कि रचनाकार रचना में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है। अगर कोई कहे कि वह तो अभिव्यक्ति के लिए ही अभिव्यक्ति करता है तो चाहे उसकी बात सत्य न भी हो तो भी उसे कहने का तो अधिकार है ही। और अगर मान लें कि वह अभिव्यक्ति के लिए ही अभिव्यक्ति करता है तो भी उसकी अभिव्यक्ति पाठक तक पहुँचेगी ही और जब पाठक तक पहुँचेगी तो उसकी कोई प्रतिक्रिया भी होगी ही। तो इस प्रकार हमारे सामने तीन सत्ताएँ आती हैं—एक कलाकार की अनुभूति, द्वितीय अनुभूति की अभिव्यंजना और तीसरी पाठक की प्रतिक्रिया। समस्त आलोचना अनुभूति, अभिव्यंजना और प्रतिक्रिया इन्हीं के त्रिकोण के भीतर घूमती है।

अनुभूति सूक्ष्म मानसी तत्त्व है। इसलिए उसकी स्थिति एवं रूप का ज्ञान अभिव्यंजना द्वारा ही होता है। कलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति अभिव्यंजना के द्वारा ही उसकी अनुभूति की झलक पाते हैं। इसलिए अभिव्यंजना अनुभूति की वाहक और सूचक है। इसी आधार पर यह माना जाता है कि अभिव्यंजना की सफलता या श्रेष्ठता का आधार यही है कि वह कहाँ तक प्रेरक अनुभूति को वहन करने में समर्थ है। और इस वहन करने के धर्म का ज्ञान कैसे होगा ? स्पष्टतः पाठक की प्रतिक्रिया द्वारा। इसीलिए संप्रेषण सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्रिया को अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यंजना के उत्कर्ष का प्रमाण माना गया।

जो संप्रेषण सिद्धान्त को नहीं मानते, वे भी अनुभूति की अभिव्यंजना और प्रतिक्रिया की सत्ता का निषेध नहीं करते। लेकिन सिर्फ़ इतने से ही स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती। चिन्तन को पूर्णता तभी प्राप्त होगी जब कि वे उन आधारभूत प्रश्नों का उत्तर देंगे जिन्हें कि संप्रेषण सिद्धान्त सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है। तीन प्रश्न प्रधान रूप से सामने आते हैं :

१. कवि की अनुभूति के स्वरूप और गहराई का क्या प्रमाण है ?

२. अभिव्यंजना की सफलता या उत्कर्ष की क्या कसौटी है ? और

३. पाठक की प्रतिक्रिया किस रूप में कवि की अनुभूति तथा अभिव्यंजना से सम्बद्ध है ?

जो लोग संप्रेषण सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं उन्होंने इन तीनों से किसी एक प्रश्न का संगत सम्बद्ध उत्तर देने का प्रयास नहीं किया।

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। कलाकार सजग रूप से पाठक की

प्रतिक्रिया की अनुकूलता को आदर्श नहीं मानता। वह तो उसकी कला-साधना का अभिन्न अंग है और इसलिए उसे इस बात की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती कि वह हर समय सजग रूप से इस आदर्श को सामने रखे। और इसीलिए यह भी स्पष्ट है कि प्रचार भी लेखक का सजग रूप से लक्ष्य नहीं रहता। यह तो काव्य का और कला की साधना का स्वभावगत अंग ही है। और जैसे ही संप्रेषण और प्रचार सजग रूप से आदर्श बनता है, वह आरोपित प्रतीत होने लगता है और काव्य का काव्यत्व या कला का कलात्व नष्ट हो जाता है। जिस अंश तक संप्रेषण या प्रचार आरोपित होगा उसी सीमा तक काव्यत्व और कलात्व की हानि होगी।

सामाजिक आलोचना का इतिहास-प्रधान रूप : तेन

उन्नीसवीं शती में फ्रांसीसी आलोचक तेन ने साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या का प्रयास किया। यह वह युग था जब कि डार्विन के विकासवाद की प्रतिष्ठा के बाद साधना के सभी क्षेत्रों में विकासवादी दृष्टि से अध्ययन किया जाने लगा था। तेन के अनुसार साहित्यकार एक विशिष्ट सामाजिक वातावरण में रहता है और सामाजिकता की वायु ही उसका भरण-पोषण करती है। इसलिए वनस्पति के समान ही वह भी इस सामाजिकता की वायु से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। और इसलिए साहित्य की व्याख्या के लिए इतिहास को आधार बनाना चाहिए।

प्रत्येक जाति का इतिहास विविध कालों एवं युगों में बाँटा जा सकता है। प्रत्येक काल और युग की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, अपनी राजनीतिक सत्ता होती है, सामाजिक परिस्थिति होती है, धार्मिक अवस्था होती है, आर्थिक दशा होती है। और इन परिस्थितियों के अनुरूप ही सामाजिक शक्तियों का उदय, संघर्ष और विकास होता रहता है तथा जातीय आदर्श बनते-सँवरते रहते हैं। साहित्य इन सामाजिक शक्तियों का, उनके संघर्ष और विकास का, युगीन जातीय आदर्शों का विशिष्ट रूप होता है और यही वह पृष्ठभूमि है जिस पर साहित्य का संगत वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है।

तेन ने साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए तीन तत्त्वों की सत्ता मानी है—१. जाति (रेस), २. सामाजिकता (मिलियू) और ३. क्षण (मोमेण्ट)। जातिगत संस्कार व्यक्ति के मन में बाल्यावस्था से ही संचित होते रहते हैं और व्यक्ति के चरित्र को निर्मित करते रहते हैं। लेकिन किसी भी जाति की अवस्था सदैव एक-सी नहीं रहती। युगानुरूप ही उसका रूप होता है, और इसलिए प्रत्येक युग की अपनी सामाजिकता होती है। और साहित्यकार अपने युग के वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण करता है। तीसरा तत्त्व है क्षण। यहाँ क्षण का अर्थ कालबिन्दु से नहीं

है वरन् आवेग या प्रेरणा से है जो विकास के किसी बिन्दु पर उपलब्ध होती है। साहित्यकार सामाजिकता से जो ग्रहण करता है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए शक्ति या आवेग की अपेक्षा होती है और इसी शक्ति एवं आवेग की तीव्रता के अनुरूप ही अभिव्यक्ति रूप ग्रहण करती है।

इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक परिस्थितियों का साहित्य पर गहरा असर पड़ता है लेकिन यदि सामाजिकता ही एकमात्र साहित्य का नियन्त्रक तत्त्व है तो फिर एक ही युग में, एक सामाजिकता के वातावरण में भिन्न या विरोधी रुचि वाले साहित्यकार क्यों दिखायी देते हैं ? कुछ हद तक तो इसका उत्तर जाति के आधार पर दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए कबीर, जायसी और तुलसी एक ही युग के कवि हैं, एक ही वातावरण में साँस लेते हैं। फिर भी उनकी रचनाओं में गम्भीर अन्तर और तीव्र विरोध तक दिखायी देता है। ऐसा क्यों है ?

इसका उत्तर जाति के आधार पर दिया जा सकता है। कबीर का वातावरण ग़रीब, दमित, दलित जाति का वातावरण था, जायसी इस्लाम के माहौल में रहे थे और तुलसीदास वैदिक परम्परा के प्रतिनिधि थे। इसलिए युग एक होते हुए भी जाति-भेद के कारण उनका वातावरण एक नहीं था और इसलिए उनका साहित्य एक-सा नहीं है।

लेकिन तुलसी और सूर में क्यों अन्तर दिखायी देता है ? उनकी जाति भी एक है और वातावरण भी। लेकिन क्या उनका वातावरण बिलकुल एक-सा ही है ? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व भी है जो सब में व्याप्त होते हुए भी सबसे अलग है। वह तत्त्व है रचनाकार का व्यक्तित्व। यह तो सही है कि रचनाकार के व्यक्तित्व के निर्माण में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का योगदान होता है मगर फिर भी उसकी अलग सत्ता माने बिना रुचि-भेद और साहित्य-भेद की व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए यह बात ध्यान रखना अनिवार्य है।

इसी प्रसंग में ऐतिहासिक आलोचना और आलोचनात्मक इतिहास या साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध पर विचार करना उपयोगी होगा।

जहाँ तक ऐतिहासिक आलोचना का सवाल है, इसका स्वरूप तो स्पष्ट हो गया होगा। रही आलोचनात्मक इतिहास के स्वरूप की बात। वास्तव में आलोचनात्मक इतिहास और साहित्य के इतिहास में कोई अन्तर नहीं। क्योंकि साहित्य के इतिहास के लेखक को तथ्यों का संकलन भर ही नहीं करना होता, वरन् उनकी व्याख्या और मूल्यांकन भी करना होता है। यह कार्य साहित्य के इतिहास की स्वभावगत विशेषता के रूप में ही स्थित है

और बिना इसके कोई भी साहित्य का इतिहास इतिहास नहीं कहला सकता। जिस रचना में व्याख्या का अभाव होगा वह साहित्य का ऐतिहासिक संकलन या अनुक्रमणिका भर ही है। इसलिए इतिहास के साथ आलोचनात्मक शब्द का प्रयोग बेमानी-सा है। लेकिन क्योंकि इसका प्रयोग हुआ है इसलिए यहाँ इसकी चर्चा करना अनिवार्य समझा गया है।

साहित्य के इतिहासकार का प्रधान कार्य तथ्य-संकलन है और इसके बाद वह विविध साहित्यिक तथ्यों की क्रमिक-सम्बद्ध व्याख्या पेश करता है। यदि किसी कार्य में इन दोनों दृष्टियों का उपयोग किया गया है तो वह साहित्य का इतिहास कहलाने का अधिकारी है। मूल्यांकन का कार्य साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए अनिवार्य नहीं है। लेकिन वह काव्य अवश्य है।

अतः स्पष्ट है कि इतिहास-लेखक शोधकर्ता के समान ही आलोचक से निम्न स्तर पर कार्य करता है। उसका वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जो आलोचक का है। इतिहास-लेखन श्रमसाध्य है और बिना प्रतिभा या अन्तर्दृष्टि के भी इस काम को परिश्रम और समय के अभाव में पूरा किया जा सकता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दी के सभी इतिहासकार आलोचक के स्थान के भागी नहीं हैं। शोध-कार्य के समान ही यदि कोई आलोचक इतिहास-लेखन की ओर प्रवृत्त होगा तो उसकी रचना में प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि का प्रकाश भी सहज रूप से दिखायी देगा ही और इसलिए इस इतिहास में ऐसे अंश भी होंगे ही जो आलोचना के अन्तर्गत स्वीकृत होंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में ऐसे बहुत से स्थल भरे पड़े हैं लेकिन इसका कारण इतिहास-लेखन का स्वभाव नहीं वरन् इतिहास-लेखक की शक्ति ही है।

ऐतिहासिक आलोचक की शक्ति तथ्य-संकलन की योग्यता में ही नहीं है। उसका मूल आधार होता है जीवन और संस्कृति। जो आलोचक जिस व्यापकता और गहराई के साथ जीवन और संस्कृति की धारा को समझता है वह उसी सीमा तक अपने दायित्व को निभाने में समर्थ होता है। उसकी दृष्टि इतिहासकार या कृतिकार से कहीं अधिक व्यापक और सूक्ष्म होती है। वह मूलतः एक चिन्तक और मनीषी होता है। वह कृतियों का नहीं जीवन का पारखी होता है। वह काव्यशास्त्री नहीं, जीवनशास्त्री होता है। वह जिस सूक्ष्मता के साथ जीवन की शक्तियों के स्वरूप और संघर्ष को समझता है वह इतिहासलेखक और कृतिकार में सामान्यतया नहीं पायी जाती। इसीलिए इस योग्यता में उसका स्थान कृतिकार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए।

कवि की रहस्यवादी शब्दावली में की गयी प्रशस्तियाँ हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं के चिन्तन में भी मिलती हैं। मगर वह भी एक युग था जबकि व्यक्ति की समझ अधूरी थी और वह जिस वस्तु या घटना को पूरी तरह से

नहीं समझ पाता था उसको दैवी, अलौकिक और लोकोत्तर आदि मान बैठता था। प्रायः अलौकिकता पर निष्ठा चिन्तन की अपरिपक्वता और बुद्धि की विफलता की सूचक होती है। बहुत अर्से तक इस निष्ठा की रूढ़ि ने चिन्तन को ग्रसे रखा है। लेकिन अब इसका अन्त हुआ समझना चाहिए।

सामाजिक आलोचना का नीति-प्रधान रूप

जिस प्रकार अर्थ और इतिहास सामाजिक जीवन के आयाम हैं उसी प्रकार नीति भी उसका एक आयाम है। नीति और नैतिक के विषय में सदा से ही तीव्र मतभेद रहा है। आज भी इसकी परिभाषा के बारे में गम्भीर मत-भेद दिखायी देते हैं। आलोचक के लिए यह अनिवार्य है कि वह 'नैतिक' की इस सैद्धान्तिक चर्चा से पूरी तरह से परिचित हो और उसका अपना मत इस पृष्ठभूमि के ज्ञान के आधार पर स्थित हो। यही वह योग्यता और कार्य है जो आलोचक को काव्यशास्त्री से अलग करता है और उसे एक उच्चतर और गम्भीरतर स्तर पर कार्य करने के योग्य बनाता है।

मैं काव्यशास्त्र और काव्यशास्त्री की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं करता। उसका अपना महत्त्व है और वह कुछ हद तक वैज्ञानिक पद्धति पर कार्य करता हुआ साहित्य के नियमों का आविष्कार या उद्घाटन करता है। साहित्य के लिए उसका कार्य वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसा भाषा के लिए वैया-करण का है। वैयाकरण का प्रधान गुण भाषा-ज्ञान है। इसी प्रकार काव्य-शास्त्री की प्रधान योग्यता काव्य का ज्ञान है। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह काव्य की आधारभूत सत्ता जीवन और उसके विविध आयामों को समझे। प्रायः वह इसे नहीं समझता और न ही समझने का प्रयास ही करता है। उसका कार्य काव्य से आरम्भ होता है और काव्य पर ही समाप्त हो जाता है।

मगर आलोचक का कार्य तो यहाँ से शुरू ही होता है। आलोचक काव्य की उपेक्षा नहीं करता। साहित्य उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। मगर साहित्य उसकी दृष्टि का केन्द्र भी नहीं हुआ करता। उसका केन्द्र साहित्य की मूलवर्ती सत्ता—जीवन हुआ करता है। और वह जीवन को उसके सभी पक्षों में समझने का प्रयास करता है। नैतिकता उनमें से एक है।

नैतिकता के बारे में मतभेद होते हुए भी एक बात में सभी सहमत हैं। वह यह कि नीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है जिसमें यथार्थ व्यवहार का परीक्षण नहीं होता वरन् यह देखने की चेष्टा की जाती है कि आचरण का आदर्श क्या है।

कुछ विज्ञान नैतिकता को जीवन-व्यवस्था से—अर्थ-व्यवस्था आदि से नियन्त्रित मानते हैं। और इस प्रकार नैतिकता के मूलवर्ती तत्त्व या तत्त्वों के

स्तर पर उसे समझने का प्रयास करते हैं। सिद्धान्त रूप में उन्हें उपयोगितावादी कहा जाता है।

उपयोगिता के भी कई रूप हैं। वह व्यक्ति की उपयोगिता हो सकती है, वह राष्ट्र की उपयोगिता हो सकती है, वह मानव-मात्र की उपयोगिता हो सकती है। इस दृष्टि से व्यक्तिवादी, राष्ट्रवादी और मानवतावादी उपयोगिता की चर्चा दिखायी देती है। इस प्रकार अर्थमूलक नैतिकता में भी मानवतावादी आकांक्षा का आविष्कार हो रहा है। यह सन्तोष की बात प्रतीत होती है। मगर इसी खेमे से इस मानवतावादी आकांक्षा का उग्र एवं सक्रिय विरोध भी हो रहा है। इसलिए कहा नहीं जा सकता कि अर्थमूलक नैतिकता की मानवतावादी आकांक्षा का भविष्य क्या होगा। प्रायः यह देखा गया है कि आरम्भिक चरणों में उग्र एवं विनाशक शक्तियाँ ही अधिक सक्षम सिद्ध होती हैं।

जो नैतिकता को जीवन-व्यवस्था के बीच रखकर नहीं देखते वे सिद्धान्तवाद को प्रश्रय देते हैं और सिद्धान्तों की शाश्वत सत्यता को आधार बनाकर समस्त आचरण को उसी से नियन्त्रित रूप में ही देखना चाहते हैं। लेकिन आज के विकासवादी और विकासगामी युग में किसी भी सिद्धान्त की शाश्वत सत्यता संदिग्ध है और इसलिए युगीन सिद्धान्तों की सक्रियता पर निष्ठा बढ़ती जा रही है।

व्यक्तिवादी उपयोगितावादी धारा के समकक्ष सुखवादी धारा भी लक्षित होती है। उपयोगितावादी दृष्टि के अनुरूप ही इसका व्यक्तिवादी रूप भी है और समूहवादी रूप भी। लेकिन सिद्धान्त रूप से व्यक्तिवादी रूप ही सुखवादी का सही रूप है। कारण यह है कि जहाँ समूह के सुख की बात आयी वहीं सामाजिक व्यवस्था की बात आ जाएगी। समूह की सत्ता एक जटिल-संश्लिष्ट सत्ता है और इसलिए समूह के सुख की बात करते ही हमें इस जटिलता और संश्लेष को विचार-क्षेत्र के भीतर लाना होगा। और इस जटिल संश्लेष के घेरे में ही समूह के सुख की आकांक्षा का रूप और तृप्ति के साधनों की व्यवस्था की जानकारी हो सकती है। बिना इस आकांक्षा के रूप और साधनों की व्यवस्था को समझे हुए समूह के सुख की चर्चा निराधार चर्चा होगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नैतिकता के तीन प्रधान सिद्धान्त हमारे सामने हैं—(१) उपयोगितावादी, (२) सिद्धान्तवादी और (३) सुखवादी। विविध आलोचक इन तीन धाराओं में से किसी एक धारा को प्रत्यक्ष, सजग रूप से या प्रच्छन्न सहज रूप से स्वीकार करते हैं। लेकिन स्पष्ट अतः श्रेष्ठ रूप वही है जिसमें आलोचक इन सिद्धान्तों की गम्भीर समीक्षा के आधार पर अपने मत की संगति का निर्देश करे। प्रायः ऐसा नहीं होता। नीचे के विवेचन से यह बात स्पष्ट होगी।

उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों में उपयोगितावाद मूलतः वस्तुवादी धारा के अन्तर्गत आता है। क्योंकि इसका आधार स्थूल है जो व्यक्ति और समूह की उपयोगिता तथा सुख-सुविधा की योजना के रूप में प्रत्यक्ष देखा-दिखाया जा सकता है। अर्थमूलक समाजवाद इसी को स्वीकार करता है और वह युगानुरूप सिद्धान्तों की आविष्कृति पर आस्था होने के कारण शाश्वत तत्त्व की सत्ता को सिरे से ही अस्वीकार करता है। इसलिए आलोचना के नीति-प्रधान रूप के अन्तर्गत उपयोगितावादी दृष्टि को स्वीकार नहीं किया जाता। सिद्धान्त की दृष्टि से तो होना चाहिए लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि आलोचना में नीतिवाद का अर्थ सिद्धान्तवाद ही लिया जाता है जो शाश्वत-सनातन के आधार पर स्थित होता है। यही कारण है कि नीति की सुखवादी धारा भी आलोचना की नीतिवादी धारा के अन्तर्गत नहीं आती।

सामाजिक आलोचना में नीतिवादी रूप वह है जो शाश्वत स्वयंप्रकाश सिद्धान्तों को आधार बनाता है। यद्यपि स्वयंप्रकाश सिद्धान्तों के भी अनेक रूप दिखायी देते हैं, और आलोचक अपनी रुचि के अनुरूप किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार करता है, मगर वे सभी दृष्टियाँ सनातनता के आग्रह के कारण और युगानुरूप यथार्थ एवं आदर्श की सत्ता के निषेध के कारण मूल रूप में समान हैं। इसलिए जब सामाजिक आलोचना में विशिष्ट सिद्धान्तों और आदर्शों के एकनिष्ठ पालन पर दृढ़ता व्यक्त की जाती है तो उसको नीतिवादी आलोचना कहा जाता है। नीतिवादी आलोचना की बात आते ही बुद्ध, ईसा और गाँधी का नाम सामने आने लगता है। अहिंसा, करुणा और शान्ति के मूल्यों के शाश्वत महत्त्व की घोषणा जब भी की जाती है तभी नीतिवादी स्वर की पुकार समझनी चाहिए।

लेकिन इधर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। जो हमारी दृष्टि से आज के सांस्कृतिक संकट और आगामी सांस्कृतिक संगठन के लिए युगान्तकारी है। इसकी चर्चा एक निबन्ध में पहले भी की जा चुकी है।

कोई ज़माना था जब अहिंसा करुणा और शान्ति व्यक्तिवादी मूल्य घोषित किये जाते थे। आज भी ऐसा हो रहा है। मगर आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ने हमें एक नयी दृष्टि से सोचने के लिए विवश किया है। वह यह कि ये मूल्य अब मात्र व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक रूप धारण करने लगे हैं और यही कारण है कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की योजना पर इनका गहरा असर दिखायी देता है। सह-अस्तित्व की स्वीकृति में वस्तुतः इन्हीं मूल्यों की स्वीकृति है।

इस युगान्तकारी परिवर्तन का कारण क्या है?

इसका कारण है परमाणु-शक्ति के विनाशक रूप का भयानक विकास।

आज जब विश्व एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा है जहाँ से एक ओर सम्पूर्ण विनाश दिखायी दे रहा है, तो वह नये सिरे से सोचने पर मजबूर है। इसी भयानक शक्ति की आशंका से त्रस्त विश्व शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्वीकृति के लिए बाध्य हुआ है। यह आज के युग की मजबूरी है और जैसे-जैसे इस विनाशक शक्ति का विकास होता जाएगा यह मजबूरी बढ़ती जाएगी।

लेकिन इसके बावजूद भी आश्वस्त होने का कोई ठोस आधार दिखायी नहीं देता। कुछ अर्से पहले जो प्रकाश दिखायी दिया था वह चीन के द्वारा मिटाया जा रहा है। चीन की हिंसक कार्यवाहियाँ और पाखण्डपूर्ण अहंकार एक ऐसी उग्र शक्ति के रूप में उदित हुए हैं जो विश्व-मानवता के लिए एक भयानक खतरा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आज का विश्व इस खतरे से पूरी तरह परिचित नहीं है। यह आवश्यक है कि इस खतरे के निरोध के लिए सम्बद्ध और ठोस कार्यवाही की जाय। विवेक यही प्रयास और आशा करता है कि विश्व-मानव भय से आरोपित अहिंसा और शान्ति के मूल्यों को सहज और सजग रूप से अपनाने का प्रयास करेगा।

आज राष्ट्रीयता अहंकारयुक्त आक्रमण रूप में व्यक्त हो रही है। नवोदित देशों में खास तौर पर ऐसा हो रहा है। इसके लिए अपेक्षित ऐतिहासिक कारण हैं ही। मगर यह प्रवृत्ति एक विनाशक प्रवृत्ति है और विश्व के कई भागों में इसी रूप में व्यक्त हो रही है। चीन का हिंसावाद इस अहंकारयुक्त आक्रामक राष्ट्रीयता से पूरा-पूरा लाभ उठा रहा है। और अभी तक उसका ठोस निरोध नहीं होता दिखायी देता। अपेक्षित चिन्तन, दिशा और प्रयास का अभाव ही उसका कारण है।

ऐसी अवस्था में नैतिक चेतना भी उसी व्यापक संक्रान्ति की हलचल से संत्रस्त है जिसकी चर्चा हो चुकी है। इसलिए एक प्रवृत्ति यह भी उभरी है कि प्राचीन मूल्यों का विनाश तो होगा ही इसलिए उनमें से किसी एक को ग्रहण करने की आवश्यकता ही क्या है। जब यह निश्चय ही नहीं है कि कौन-सा सत्य मूल्य है तो फिर मूल्य की चर्चा ही क्यों की जाय। यह तो एक रुख है जो मूल्य की उपेक्षा वाला रुख है।

लेकिन कुछ नये लोगों को मूल्य की उपेक्षा वाली बात भी पसन्द नहीं आयी। उनका कहना यह है कि केवल उपेक्षा से ही काम नहीं चलेगा। पुराने मूल्यों का उग्र विरोध होना चाहिए। इसी में गौरव है और इसी में अस्तित्व की दीप्ति है। नतीजा यह हुआ कि एक विचारधारा यह भी पैदा हुई कि जो कुछ भी पुराना है उसे व्यर्थ, निस्सार, बेहूदा और मरा हुआ कहा जाय। और आज इसका एक फ़ैशन-सा ही चल निकला है।

यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक ही है कि नया क्या है? मगर इसका

कोई उत्तर देने की कोशिश नहीं की जाती । नये को व्यक्तिगत धरातल से बाँधकर छोड़ दिया जाता है और हरेक व्यक्ति को अपना 'नया' निर्माण करने की खुली छुट्टी दे दी जाती है। अस्तित्ववाद में ऐसा ही माना जाता है। पुराना सब मर गया है। कोई नियम, नैतिकता, परम्परा, रीति, योजना, सिद्धान्त सारवान नहीं है। सभी कुछ थोथा और नकली है। असली तो वही है जो व्यक्ति स्वयं समझता है और जो व्यक्ति स्वयं है। इसलिए व्यक्ति जो भी करता है वह उसके लिए मूल्य है। और उसके मूल्य होने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि उस पर सामाजिकता की छाप हो। सामाजिक स्वीकृति की मोहर का होना मूल्य के लिए अनिवार्य नहीं है। इतना ही नहीं वह असंगत और हानिकारक भी है। असंगत इसलिए कि व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता के विपरीत है और हानिकारक इसलिए कि वह व्यक्ति के विकास की बाधा है। इसलिए मूल्य पूरी तरह से व्यक्तिगत और व्यक्ति-सापेक्ष है।

हिन्दी में मूल्यों की जो अराजकता दिखायी देती है वह उपर्युक्त चिन्तन-धारा का ही एक अंग है। प्राचीन मृत है, भविष्य अनागत और अज्ञात है इसलिए आज के बारे में कुछ भी कहना संगत नहीं। पुराने का विरोध करो और नये का जाप जपो। मगर नये की परिभाषा की जब बात आती है तो 'नेति नेति' का उदाहरण दो। इस प्रकार की स्थिति वास्तव में उत्तरदायित्व से भागने की स्थिति है। व्यक्ति अपने-आपको उत्तरदायित्व के निर्वाह के योग्य नहीं पाता मगर नाम भी कमाना चाहता है। नतीजा यह होता है कि आलोचना के नाम पर प्रचारात्मक वक्तव्यों की भरमार दिखायी देती है। इनसे वातावरण जटिल और अस्पष्ट हो जाता है। इसीलिए आज के आलोचक का काम बड़ा कठिन हो गया है।

एकांगिता में नाम कमाना सहज होता है। यही कारण है कि जब कभी इतिहास में एकांगिता की विलक्षणता दिखायी देती है तो वह शुरू तो किसी एक नीति-निपुण व्यक्ति से होती है मगर फिर एक पिछलग्गुओं की लाइन खड़ी हो जाती है। हिन्दी में आज ऐसी स्थिति दिखायी देती है।

इससे एक बड़ी हानि यह होती है कि नवोदित महत्त्वाकांक्षी छात्र पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। जब यह दिखायी देता है कि एकांगिता का सहारा मिलना आसान है और उससे महत्त्वाकांक्षा भी सन्तुष्ट होती है तो फिर फिसलने में देर ही कितनी लगती है। मगर यह महत्त्वाकांक्षा आत्मघाती है।

एकांगिता हमेशा और हरेक में बुरी ही होती है, ऐसा नहीं है। सवाल तो व्यक्ति का है, व्यक्तित्व की शक्ति का है। अगर व्यक्ति में शक्ति है तो उस एकांगिता में भी वह कमाल दिखाता है। और प्रत्येक युग की एकांगी धाराओं में ऐसी प्रतिभाएँ दिखायी देती हैं। दरअसल जब तक शक्तिशाली

व्यक्तित्व किसी धारा को प्रभावित नहीं करता तब तक उस धारा का विकास ही नहीं हो सकता । मूल्यों के क्षेत्र की अराजकता का चित्रण यशपाल और अज्ञेय की रचनाओं में भी मिलता है लेकिन यह उस चित्रण से भिन्न है जो शक्ति-हीन वक्तव्यों में दिखायी देता है ।

मूल्यों के क्षेत्र में जो अराजकता है उस पर तीन प्रकार के व्यक्ति कार्य करते दिखायी देते हैं । एक तो वे हैं जो चिन्तन और अनुभव के आधार पर प्राचीन के निषेध को अनिवार्य समझते हैं । वे नवीन को परिभाषित नहीं करते और व्यक्ति-सापेक्ष मूल्यवाद पर आस्था रखते हैं । चाहे इनके मत से सभी सहमत हों या न हों, मगर उनकी कला और शक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो मार्क्सवाद पर आस्था रखते हैं और मूल्यों की वर्तमान अराजकता से मार्क्सवादी ढंग का फायदा उठाना चाहते हैं । इस प्रकार मार्क्सवाद अस्तित्ववाद के साथ मिलकर कार्य करता दिखायी देता है । आज हिन्दी में जो नयेपन का आन्दोलन-सा चल रहा है उसमें मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी दोनों ही शामिल दिखायी देते हैं । यह सहयोग चाहे कितना ही अजीब और असंगत क्यों न लगे आज की एक साहित्य-धारा के लिए सक्रिय तथ्य का रूप ले चुका है ।

यह सवाल हो सकता है कि ऐसे कौन-से तत्त्व हैं जिनके कारण मार्क्स-वाद और अस्तित्ववाद में यह सहयोग सम्भव हो सका है ?

इन दोनों चिन्तन-धाराओं में कुछ समानता भी है और कुछ विरोध भी । इसलिए जब सहयोग की बात आती है तो इन दोनों धाराओं के वे लोग जो सहयोग करना चाहते हैं वहीं तक की बात करते हैं जहाँ तक समानता है । विरोध वाली बात उठाते ही नहीं । इस प्रकार लेखकों के संगठन की, संयुक्त मोर्चे की एक सीमित सम्भावना-सी निकल आती है ।

जो लोग इन दोनों सिद्धान्तों के विरोध को समझते हैं और उनको आधार बनाते हैं वे सहयोग करने के लिए तैयार ही नहीं होते । वे सम्भवतः यह भी समझते हैं कि इस सहयोग का लाभ मार्क्सवाद को ही होगा, अस्तित्ववाद को नहीं ।

ये दोनों मत इस बात में सहमत हैं कि प्राचीन मर चुका है और आज का जीवन प्राचीन आदर्शों द्वारा नियन्त्रित नहीं होना चाहिए । इसलिए जहाँ प्राचीन के खण्डन की बात आती है ये दोनों प्रकार के चिन्तक सहयोग करते दिखायी देते हैं ।

विरोध है नवीन के स्वरूप के विषय में । अस्तित्ववाद के लिए नवीन पूरी तरह से व्यक्ति-सापेक्ष है और उसको किसी नियम या सिद्धान्त में नहीं

बाँधा जा सकता। व्यक्ति पूरी तरह से स्वतन्त्र है। मगर मार्क्सवाद का नवीन समाज-सापेक्ष है और जीवन निश्चित सिद्धान्तों के भीतर बँधा हुआ है। एक में समाज व्यक्ति-सापेक्ष है, द्वितीय में व्यक्ति समाज-सापेक्ष। यही कारण है कि अस्तित्ववादी तो नवीन की परिभाषा पूरे विश्वास के साथ करता है मगर जब मार्क्सवादी से नवीन की भावात्मक व्याख्या के लिए कहा जाता है तो वह अपना उत्तर छिपा जाता है। यह स्थिति शास्त्रीय विकास की दृष्टि से निश्छल नहीं कही जा सकती।

तीसरा व्यक्ति वह है जो इस मूल्यों की अराजकता के मर्म को ऐतिहासिक विकास की धारा में रखकर देखता है और भविष्य के मूल्यों का संकेत भी करता है। वह न तो मूल्यों की अराजकता का दार्शनीकरण करता है और न ही इससे लाभ उठाकर किसी एक सिद्धान्त के प्रच्छन्न प्रचार का प्रयास ही करता है। यह दृष्टि वस्तुपरक और समाजनिष्ठ होने के कारण मुक्त रूप से आस्थावान दृष्टि है।

सन्तुलन के साथ विकास करना बहुत कठिन कार्य है। सिर्फ़ कठिन ही नहीं समय-सापेक्ष भी है। यही कारण है कि सन्तुलन के रास्ते पर चलने वाले हमेशा बहुत कम हुआ करते हैं। महत्त्वाकांक्षा ही इसकी सबसे बड़ी बाधा है। मौलिकता और नवीनता का प्रमाण-पत्र पाने के लिए ही कुछ लोग विलक्षण एकांगी प्रवृत्तियों का सहारा लेते हैं। मगर जिनकी नज़र आज के साथ-साथ आज के पीछे और आगे दूर तक देख सकती है वे इस रास्ते पर नहीं चला करते और वे ही व्यानक मानवता के विकास के सफर की भावना के धरातल पर ही इस रास्ते का सही मूल्यांकन करने में सफल होते हैं।

२. जीवनचरितात्मक आलोचना

इन्सानी ज़िन्दगी की गति धरती की गति जैसी है। जिस प्रकार धरती अपनी धुरी पर घूमती हुई अन्तरिक्ष की यात्रा करती है उसी प्रकार इन्सान अपने स्वार्थ की धुरी पर घूमता हुआ भी सामाजिकता के परिवेश में अग्रसर होता है। मगर जहाँ तक इन्सानी ज़िन्दगी का सवाल है ये दोनों गतियाँ यन्त्रवत् नियत रूप से सम्बद्ध नहीं हैं। इन दोनों का सम्बन्ध सूक्ष्म एवं मानसी है और इसीलिए वह किसी भी मूर्त अवधारणा की लपेट में नहीं आता।

सजग साधना व्यक्ति की सभी उपलब्धियों के मूल में स्थित है। इसलिए मानव-जीवन के विकास का आधार यही सजग साधना है।

मगर जीवन की कई घटनाएँ ऐसी होती हैं जो उस पर गहरा असर डालती हैं। जब घटना उपस्थित हो जाती है तभी व्यक्ति की प्रतिक्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया बहुत-कुछ उस घटना के द्वारा नियन्त्रित होती है। इस प्रकार घटनाएँ और प्रतिक्रियाएँ आदमी के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती हैं

और इससे उसकी साधना पर भी गहरा असर पड़ता है। इसलिए व्यक्ति की साधना को समझने के लिए इन घटनाओं और उनकी प्रतिक्रियाओं के ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट ही है।

कला वस्तुतः व्यक्ति की जीवन-साधना की ही एक उपलब्धि है। इस उपलब्धि में आदमी का समूचा व्यक्तित्व योग देता है और इसलिए कला के स्वरूप और रहस्य को समझने के लिए व्यक्तित्व के बारे में, जीवन की घटनाओं के बारे में जितनी भी जानकारी प्राप्त हो सके, अच्छा है। साहित्य की जो आलोचना इस आधार पर की जाती है उसे जीवनचरितात्मक आलोचना कहते हैं।

फ्रांस के एक आलोचक सेण्ट ब्यव ने जीवनचरितात्मक आलोचना की विस्तृत व्याख्या की थी। यद्यपि वह पद्धति सर्वमान्य नहीं हुई, फिर भी उसकी उपयोगिता पर किसी को सन्देह नहीं है।

सेण्ट ब्यव के युग में कलासिकल आलोचना के नियम टूट रहे थे। साहित्यकार और आलोचक दोनों ही उन नियमों की सीमाओं से सजग हो रहे थे और नये मूल्यों की स्थापना और अन्वेषण का प्रयास हो रहा था। सेण्ट ब्यव ने कलासिकल नियमों के बाहरी नियन्त्रण की अनुपयोगिता स्वीकार की मगर यह कहा कि साहित्यकार आन्तरिक नियमों का पालन तो करता ही है। आन्तरिक नियमों से उनकी मुराद व्यक्तित्व से, इच्छाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों से है। फल को जानने के लिए पेड़ को जानना आवश्यक है। इसी प्रकार साहित्य को समझने के लिए साहित्यकार को, उसके जीवन को जानना आवश्यक है।

यह सवाल हो सकता है कि आज के साहित्यकारों का जीवन तो जाना जा सकता है मगर प्राचीन साहित्यकारों के जीवन का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। तो फिर उन प्राचीनों के साहित्य की व्याख्या कैसे की जा सकती है ?

इसके उत्तर में सेण्ट ब्यव ने प्राचीनों के साहित्य की व्याख्या की इस सीमा को स्वीकार किया है। उनका विचार है कि उनके जीवन के प्रामाणिक ज्ञान के अभाव के कारण ही उनके साहित्य के सभी पक्षों को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता।

सेण्ट ब्यव के युग में विज्ञान का बोलबाला था। इसलिए वह समझते थे कि विज्ञान की सहायता से व्यक्तियों के चरित्र का भी सही-सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और आगे चलकर चरित्रों के कुछ वर्ग बनाये जा सकेंगे। स्पष्टतः यह मान्यता सही नहीं सिद्ध हुई। और इसी से सेण्ट ब्यव की आलोचना-रीति की सीमा भी समझी जा सकती है।

यह कहा जाता है कि सेण्ट ब्यव ने कोई आलोचना-सिद्धान्त नहीं निर्मित किया। यह ठीक ही है अगर इसे ठीक तरह से समझा जाए तो।

सेण्ट ब्यव का केन्द्र साहित्य नहीं साहित्यकार है। प्रत्येक साहित्य का अध्ययन करने के लिए उसके साहित्यकार के जीवन का अध्ययन अनिवार्य है और साहित्यकार के जीवन के ज्ञान के प्रकाश में ही उसके साहित्य की व्याख्या होनी चाहिए। इस प्रकार साहित्य मात्र के अध्ययन-मूल्यांकन के लिए कोई एक कसौटी नहीं बनायी जा सकती, कोई एक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता।

आलोचक के लिए अनिवार्य है कि वह साहित्यकार के जीवन को अपने शोध का विषय बनाये। उसके जीवन में जन्म से लेकर जितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं सबका संकलन होना चाहिए। बाल्यावस्था का, माता-पिता तथा बहन-भाइयों का, शिक्षा एवं शिक्षकों का सभी का अध्ययन होना चाहिए। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवस्था वह है जब साहित्यकार अपनी मित्रमण्डली बनाता है। यही वह अवस्था है जब कि साहित्यकार के आदर्श मूर्त रूप धारण करते हैं और इसलिए इस अवस्था की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

आलोचक के लिए यह अनिवार्य है कि वह आलोच्य साहित्यकार के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सके। यह तभी सम्भव है जब कि आलोचक का कोई पूर्वाग्रह न हो, कोई सिद्धान्त या आदर्श न हो। उसका अपना निजी व्यक्तित्व ही नहीं होना चाहिए। तभी वह आलोच्य साहित्यकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है और उसकी दृष्टि से उसके साहित्य की व्याख्या कर सकता है।

यद्यपि सेण्ट ब्यव के सिद्धान्तों की आंशिक उपयोगिता तो सभी मानते हैं मगर उनके बहुत-से सिद्धान्त स्वीकार नहीं किये जाते। और आलोचक के गुणों के बारे में उन्होंने जो कहा है वह भी स्वीकार नहीं किया जाता।

सेण्ट ब्यव की आलोचना-रीति की कई सीमाएँ हैं।

जहाँ तक प्राचीनों के साहित्य की व्याख्या की सीमा का सवाल है उसे तो सेण्ट ब्यव स्वयं ही स्वीकार करते हैं। मगर उनका यह निष्कर्ष मान्य नहीं है कि जीवन-परिचय के ज्ञान के अभाव में प्राचीनों के साहित्य की व्याख्या में कोई बहुत बड़ी बाधा पड़ती है। वस्तुतः जो रचनाएँ प्राप्त होती हैं उन रचनाओं के आधार पर ही रचनाकारों के व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण किया जा सकता है और किया ही जाता है। यह ठीक है कि जीवन की घटनाओं के ज्ञान से व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है और साहित्य पर उनका प्रभाव भी देखा जा सकता है। यदि यह सही है तो यह भी सम्भव

होना चाहिए कि साहित्य के आधार पर साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण हो।

व्यक्तित्व और साहित्य का सम्बन्ध इकतरफा सम्बन्ध नहीं है। यह एक दोतरफा सम्बन्ध है। व्यक्तित्व साहित्य को प्रभावित करता है और इसीलिए साहित्य के आधार पर साहित्यकार के व्यक्तित्व की भावना की जा सकती है। व्यक्तित्व से साहित्य का अध्ययन और साहित्य से व्यक्तित्व का अध्ययन दोनों की मूल रीति समान है। दोनों में ही ज्ञात—पहली रीति में व्यक्तित्व और द्वितीय में साहित्य—से अज्ञात—पहली रीति में साहित्य और द्वितीय में व्यक्तित्व—की व्याख्या का प्रयास किया जाता है। इन दोनों में से कौन-सी रीति अधिक महत्त्वपूर्ण है इस विषय में कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता।

असलियत तो यह है कि ये दोनों रीतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों की ही सहायता लेना अनिवार्य है। व्यक्तित्व से साहित्य की ओर जाने की जो सीधी रीति है उसकी उपयोगिता भी है और साहित्य से व्यक्तित्व-निर्माण की जो परोक्ष पद्धति है वह भी महत्त्वपूर्ण है।

एक दृष्टि से परोक्ष पद्धति अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसका कारण यह है कि जीवन की घटनाएँ तो तथ्य-भर हैं। और जीवन एवं साधना को समझने के लिए केवल तथ्य रूप घटनाओं का जान लेना ही अपेक्षित नहीं है। असली बात है घटनाओं की प्रतिक्रिया। इसलिए देखना यह चाहिए कि व्यक्ति के मन में घटनाओं की प्रतिक्रिया क्या होती है। बुनियादी तत्त्व तो यह प्रतिक्रिया ही है क्योंकि यही साहित्य एवं कला के रूप में व्यंजित रहता है।

घटनाओं और साहित्य का सीधा यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों के बीच का तत्त्व है व्यक्तित्व जो दोनों का केन्द्र है। घटना व्यक्तित्व से टकराती है और प्रतिक्रिया को जन्म देती है। यह प्रतिक्रिया जीवन एवं साहित्य की साधना में रूप धारण करती है।

मूल प्रश्न है : क्या घटनाओं के जानने-भर से प्रतिक्रिया का ज्ञान हो जाता है?

स्पष्टतः ऐसा नहीं होता। कारण यह है कि घटना तो स्थूल तत्त्व है और उसे बाहर से देखा जा सकता है। लेकिन प्रतिक्रिया सूक्ष्म मानसी तत्त्व है। उसका ज्ञान बाहर से नहीं हो सकता। उसकी जानकारी तो तभी होगी जब घटना में घिरा व्यक्ति कुछ व्यक्त करता है। यह व्यक्ति कोई भी रूप क्यों न ले। लेकिन उस व्यक्ति के रूप से ही प्रतिक्रिया का ज्ञान होता है। यह कलाकार पर निर्भर करता है कि वह प्रतिक्रिया को किस रूप में व्यक्त

करता है। साहित्यकार उसे साहित्य के रूप में व्यक्त करता है। इस प्रकार साहित्य के द्वारा ही प्रतिक्रिया का ज्ञान हो सकता है।

इस प्रकार प्रतिक्रिया के दो संकेत हैं। एक तो घटना, द्वितीय साहित्य। घटना निश्चित रूप से प्रतिक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती। वह दिशा का बोध देती है। मगर कई दिशाएँ हो सकती हैं। विविध साहित्यकारों पर एक घटना का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ सकता है। और पड़ता भी है। घटना और प्रतिक्रिया के कोई गणिती फ़ार्मूले नहीं हैं। साहित्य के द्वारा ही प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति होती है।

जहाँ तक साहित्यकार के जीवन के ज्ञान का सवाल है, सच तो यह है कि साहित्य भी एक घटना है, एक तथ्य है और इसका महत्त्व सबसे अधिक है। क्योंकि साहित्य में ही साहित्यकार की प्रतिक्रिया की सच्ची अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार घटनाओं एवं प्रतिक्रियाओं के अध्ययन से व्यक्तित्व का स्वरूप स्पष्ट होता है।

सेण्ट व्यव ने आलोचक का जो आदर्श सामने रखा है वह भी मान्य नहीं है। सेण्ट व्यव आलोचक को निजत्वहीन व्यक्ति मानते हैं। उनका आलोचक आलोचक नहीं व्याख्याकार है। इसीलिए वह साहित्यकार का अनुगामी है और उसका स्थान गौण है। लेकिन आलोचक व्याख्याकार नहीं होता और न ही आलोचना व्याख्या होती है। आलोचना का रूप वास्तव में सांस्कृतिक आलोचना का रूप है और आलोचक एक प्रतिभाशाली सांस्कृतिज्ञ होता है। इसी रूप में वह अपना कार्य करता हुआ साहित्य और समाज के प्रति अपने दायित्व को निभा सकता है।

जीवनचरितात्मक पद्धति पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाए तो मालूम होगा कि इसका एक महत्त्वपूर्ण आयाम है सामाजिकता। सामाजिकता के अभाव में जीवन का—चाहे वह व्यक्ति का ही क्यों न हो—कोई रूप ही नहीं होता। सेण्ट व्यव जब साहित्यकार के सम्बन्धियों, मित्रों और वातावरण के प्रभाव की जानकारी की बात करते हैं तो वह वास्तव में साहित्यकार के जीवन के सामाजिक पक्ष को ही स्वीकार करते दिखायी देते हैं। व्यक्ति इकाई होते हुए भी समाज से अछूता नहीं रहता। चाहे समाज से वह कितना ही कटने का प्रयास करे, फिर भी किसी-न-किसी रूप में उसकी साधना में, यदि वह ईमानदारी की साधना है तो, समाज बोलता दिखायी देता है।

हो सकता है कि किसी ख़ास कारण से व्यक्ति समाज से कटना चाहे और कटे भी। लेकिन इस कटाव को निरपेक्ष कटाव नहीं कहा जा सकता। इसके मूल में भी एक सामाजिक दृष्टि काम करती दिखायी देती है। यह सही है कि वह दृष्टि निषेधात्मक है, दुखवादी है, क्षणवादी है, मगर वह यहीं

तक नहीं रुकनी चाहिए। वह यहीं रुक जाती है, यह बात दूसरी है। और इसी कारण उसका महत्त्व भी सीमित हो जाता है। मगर जो दूर तक देख सकते हैं वे यहीं तक नहीं रुकते। वे और आगे बढ़ते हैं और इस निषेध के भीतर से भी साधना का रास्ता निकलता दिखायी देता है। दुखवादी क्षणवादी बौद्ध-दर्शन भी तभी दर्शन कहलाया जब कि उसने एक साधना के रास्ते को जन्म दिया। मात्र दुखवाद एक आतमघाती प्रवृत्ति है जो विषम मानसिक स्थिति की ओर संकेत करती है।

आज जो हमें निषेधवादी निराशावादी दृष्टि दिखायी देती है इसके कारण भी समाज में दिखायी देते हैं। आज का भारतीय समाज उद्योगीकरण की दिशा की ओर बढ़ रहा है। आज वह उस अवस्था से गुज़र रहा है जिस अवस्था से पूर्व और पश्चिम के विकसित देश गुज़र चुके हैं। मगर हमारी चेतना उन देशों के पुराने युगों के समान—उन युगों के समान जब वे हमारी तरह विकासशील थे—नहीं है। कारण स्पष्ट है। हमारे सामने अपने अनुभव के साथ-साथ उन देशों के पुराने और आज के अनुभव भी हैं। आज के विकासशील देशों के लिए यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी स्थिति है। मगर यह जितनी उपयोगी हो सकती है, उतनी ही हानिकारक भी। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आज के अनुभव से न कटें। उसकी ओर देखें, उसे स्वीकारें और उसे समझें। साथ ही विकसित राष्ट्रों के पुराने-नये सभी अनुभवों को जानें। मगर आधार अपना अनुभव ही होना चाहिए, अपनी परम्परा ही होनी चाहिए। यदि ऐसा होगा तभी लाभ होगा। अगर हमने अपने अनुभव को छोड़ दिया, अगर हमने अपनी परम्परा से अपने को तोड़ लिया, और उन अनुभवों की विलक्षणता से प्रभावित होकर उनकी मौलिक नक़ल करने की कोशिश की तो नतीजा ख़तरनाक होगा। जो ऐसा कर रहे हैं वे अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते, वस्तुस्थिति को नहीं समझते और जनता को जान या अजान में गुमराह कर रहे हैं।

विदेशी अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। मगर वह लाभ के रूप में होना चाहिए, नक़ल के रूप में नहीं। जब से भारत ने विदेशी माल के आयात पर रोक लगायी है तब से स्मगलिंग शुरू हुई। सारा विदेशी माल मिलता है लेकिन महँगा मिलता है। मगर हमने विचारों की आमद पर तो रोक नहीं लगायी। फिर भी विचारों की स्मगलिंग का व्यापार तेज़ी से चल रहा है। और यह स्मगलिंग भी करने वालों को और जनता को महँगी पड़ेगी। यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए।

जब विदेशी विचारों का आयात होता है तब विदेशी शब्दों का भी आयात होता है। विदेशी शब्दों का आना कोई बुरी बात नहीं अगर वे सहज

भाव से आएँ। मगर जब विचारों की स्मगलिंग शुरू हुई तो उसके साथ ही शब्दों की स्मगलिंग भी आरम्भ हुई। सब तरह के स्मगलिंग के माल की तरह ये बोल भी अनमोल कहे जाने लगे और इस काम के लिए भी एजेन्टों की माँग बढ़ती हुई दिखायी देती है।

असलियत तो यह है कि जब चिन्तन की जगह नयी अंग्रेज़ी किताबों की पढ़ाई ने ले ली तो फिर हिन्दी के शब्द कहाँ से आएँगे। शब्द भाव या विचार का लिबास नहीं हैं। कला-पक्ष बहिरंगी नहीं हुआ करता। जब व्यक्ति सोचता है तो विचार और शब्द साथ-साथ ही आते हैं क्योंकि दोनों एक-जान हैं। मगर शर्त यह है कि वह सोचे और ख़ुद सोचे।

विदेशी विचारों और शब्दों का इस तरह नाजायज़ रूप से आना किसी भी जाति के लिए—चाहे वह कितनी ही पिछड़ी हुई क्यों न हो—कलंक की बात है। वर्तमान ही नहीं, इससे भविष्य भी कलंकित होता है। कलंकित ही नहीं होता, वरन् समरस विकास रुक जाता है। हमारी भाषा तभी समृद्ध हो सकती है जबकि हम ख़ुद अपनी भाषा में सोचेंगे। अगर ऐसा नहीं होगा तो न तो चिन्तन का विकास होगा और न ही भाषा का। जीवन और भाषा के विकास के मार्ग में आज यही सबसे बड़ा ख़तरा दिखायी देता है। इससे होशियार होने की ज़रूरत है और एकदम ज़रूरत है।

किसी भी देश की सच्ची साधना उसकी परम्परा और वातावरण से अछूती नहीं रहती। शर्त सिर्फ़ यह है कि साधना सच्ची हो और साधक ईमानदार हो। जहाँ कहीं भी विचार और शब्दों की स्मगलिंग नज़र आये यह समझना चाहिए कि साधना सच्ची नहीं है। जहाँ निज का अनुभव होता है, वहाँ निज की भाषा भी होती है। अपना अनुभव अपनी भाषा में ही बोलता है। जिस प्रकार बच्चा समाज में रहता हुआ समाज की भाषा को सहज भाव से सीखता है उसी प्रकार अनुभव जिस समाज में रहता है, उसी की भाषा बोलता है। जहाँ समाज की भाषा नहीं है वहाँ अनुभव भी नहीं है और जहाँ अनुभव नहीं है वहाँ ईमानदारी नहीं है।

व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव के बीच पलता है। व्यक्तित्व क्या है ? यह सामाजिकता का वह रूप है जो एक व्यक्ति में दिखायी देता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव का वह रूप एवं अंश है जो एक व्यक्ति में नज़र आता है। इसलिए जो भी सिद्धान्त साहित्यकार के जीवन या उसके व्यक्तित्व को केन्द्र बनाता है वह सामाजिकता के उस अंश को पकड़ने का प्रयास करता है जो उस साहित्यकार में दिखायी देता है।

व्यक्ति में सामाजिकता की अभिव्यक्ति यांत्रिक रूप में नहीं होती। किसी पर कोई सिद्धान्त आरोपित नहीं किया जा सकता। जो ऐसा मानते हैं वे न

सिर्फ़ सामाजिक विकास की गति को नहीं समझते वरन् सामाजिक विकास की धारा को अवरुद्ध करने का प्रयास करते हैं और शायद इसीलिए खुलकर अपनी बात नहीं कहते और अपने स्रोतों को छिपाये रहते हैं।

३. मनोवैज्ञानिक आलोचना

प्राचीन काल के काव्यशास्त्रियों ने काव्य को एक वस्तुगत सत्ता के रूप में देखा था और इसी रूप में उसके विश्लेषण का प्रयास किया था। मगर जैसे-जैसे चिन्तन का विकास हुआ दृष्टि व्यक्तिपरक होती गयी। इस व्यक्तिपरक दृष्टि के दो रूप दिखायी देते हैं। एक तो वह जिसमें व्यक्ति पाठक है और पाठक या सामाजिक की दृष्टि से साहित्य के मूल्यों के निर्धारण का प्रयास किया गया है। दूसरी दृष्टि वह है जिसमें व्यक्ति कवि है। उसमें कवि की मानसिक शक्तियों एवं रचना की मानसी प्रक्रिया के रहस्य को प्रकाशित करने की कोशिश होती है।

जैसे-जैसे मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का विकास हुआ अन्तिम दृष्टि एवं रीति को अधिक बल मिला। जीवनचरितात्मक दृष्टि में भी अध्ययन का आधार कवि का व्यक्तित्व था और मनोवैज्ञानिक दृष्टि में भी यही आधार स्वीकृत है। अन्तर केवल इतना है कि पहले प्रकार की आलोचना स्थूल तत्त्व—घटना—पर अधिक बल देती है और द्वितीय प्रकार की आलोचना सूक्ष्म तत्त्व—मानसिक व्यवस्था—को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। इस प्रकार जीवनचरितात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियाँ परस्पर पूरक हैं।

मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषक दृष्टियों में अन्तर है। प्रथम दृष्टि चेतना के सामान्य जाग्रत स्तर पर कार्य करती है और इसलिए उसमें एक सहजता पायी जाती है। मगर दूसरी दृष्टि उपचेतन और अचेतन को जीवन का मूल तत्त्व मानती है और इसलिए वह सूक्ष्म, जटिल और विवादास्पद भी है। मनोविश्लेषण के अनेक स्कूल हैं जिनमें तात्त्विक भेद और विरोध हैं। इसलिए मनोविश्लेषक आलोचना को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह आलोचना मनोविश्लेषण के किस वाद को सत्य मानती है। इसके लिए आलोचक को मनोविश्लेषणशास्त्र के विविध सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। मगर प्रायः ऐसा नहीं होता। कुछेक सुनी-सुनायी बातों को ही आधार मानकर कुछ लोग उड़ चलते हैं और तरह-तरह के फ़तवे देने लगते हैं।

सवाल यह है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप क्या है ?

इतना तो स्पष्ट है कि वह आलोचना जो मनोविज्ञान के सत्यों के आलोक में साहित्य और साहित्यकार को समझने की कोशिश करती है, मनोवैज्ञानिक आलोचना कही जाती है। मगर बुनियादी सवाल तो यह है कि वह किस रूप में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग करती है।

जैसे कि पहले कहा गया है जैसे-जैसे जीवन विकसित होता गया है, चेतना सूक्ष्म-मानसिक धरातल का वस्तुगत अध्ययन करने की ओर तेज़ी से प्रवृत्त होती गयी है। प्राचीन काल में भी सूक्ष्म चेतना का अध्ययन होता रहा। लेकिन उसकी प्रक्रिया लौकिक-प्रयोगात्मक न होकर लोकोत्तर तार्किक थी। इसीलिए उसका जो रूप बना वह दर्शन कहलाया और विज्ञान से भिन्न स्तर पर स्थित हुआ। कारण यह है कि जो कुछ भी कहा गया उसके लिए कोई प्रयोग या लौकिक प्रमाण उपस्थित नहीं किये जाते थे। कुछ मूल सिद्धान्तों को जिन्हें स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध माना जाता था, आधार बना लिया जाता था और उस पर एक भवन खड़ा कर दिया जाता था। इसीलिए यह भी माना गया कि शंकालु व्यक्ति को यह ज्ञान सन्तोष प्रदान नहीं करता। आस्था और श्रद्धा इसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य तत्त्व माने गये।

लेकिन जब भौतिक सृष्टि का वैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ हुआ तो यह भावना भी पैदा हुई कि मन का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय। इसलिए आरम्भ में मन के विज्ञान को मनोविज्ञान की संज्ञा दी गयी। मनोविज्ञान के आरम्भिक विकास की अवस्था में तो वैचारिक चिन्तन की ही प्रधानता रही। लेकिन धीरे-धीरे प्रयोगात्मक रीति का इस्तेमाल किया जाने लगा और इस प्रकार मनोविज्ञान में चेतना के विविध व्यापारों के वस्तुगत अध्ययन का प्रयास किया गया।

मनोविज्ञान का विकास पाश्चात्य देशों में ही हुआ और बहुत से व्यक्ति मनोविज्ञान के नवीनतम सिद्धान्तों से अवगत न होने पर भी मनोवैज्ञानिक आलोचना की बात करते हैं। इसीलिए इधर भारत में जो साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्षों का अध्ययन किया गया है उसमें प्रायः उद्धरण मनोविज्ञान की उन पुस्तकों से दिये जाते हैं जो पुरानी पड़ चुकी हैं। इस बात की ओर अब धीरे-धीरे विद्वानों का ध्यान जा रहा है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना का उपयोग दो रूपों में होता है। एक रूप तो वह है जिसमें रचना के आधार पर रचनाकार के व्यक्तित्व को समझने का प्रयास किया जाता है। दूसरा रूप वह है जिसमें रचनाकार पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करते हुए मनोवैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग करता है।

इन दोनों ही रूपों में जब चेतन आधार होता है तब तो दृष्टि मनोवैज्ञानिक कहलाती है और जब अचेतन के आधार के धरातल पर व्यक्तित्व को समझने का प्रयास किया जाता है तब दृष्टि मनोविश्लेषक कहलाती है। हिन्दी में मनोविश्लेषक दृष्टि का उपयोग सीमित रूप में ही हुआ है। मनोविश्लेषण के विविध वादों में से हिन्दी में फ्रायड का प्रभाव सबसे अधिक दिखायी देता है। फ्रायड के अतिरिक्त युंग और एडलर की चर्चा भी की जाती है।

फ्रायड

पश्चिम में मनोविश्लेषण के विकास का इतिहास बड़ा मनोरंजक रहा है। अठारहवीं शती के अन्त तथा उन्नीसवीं शती में मानसिक रोगों के उपचार के लिए हिप्नोटिज़्म का उपयोग किया जाता था। यह देखा गया था कि व्यक्ति जागृत अवस्था में जिन बातों को याद नहीं कर सकता उन्हें वह हिप्नोटाइज़ होने के बाद स्मरण कर लेता है। मगर जब जागृत अवस्था में आता है तो फिर उनको भूल जाता है।

हिस्टीरिया के कुछ रोगियों को जब हिप्नोटाइज़ किया गया तो उन्होंने अपने रोग के कारणों का परिचय दिया। ये कारण वे थे जिन्हें वे सामान्यतया भूल चुके थे। मगर हिप्नोटाइज़ होने के बाद उन्हें उन कारणों का स्मरण हो आया और अगर उसी अवस्था में उनसे यह कहा जाय कि वह प्राचीन कारण समाप्त हो गया है और अब वे उससे मुक्त हैं तो जागृत अवस्था आने पर उन्हें रोगों से मुक्ति मिल जाती थी। मगर यह देखा गया कि यह मुक्ति थोड़े अर्से के लिए ही होती थी और कुछ समय के बाद वह रोग किसी दूसरे रूप में सामने आता था।

फ्रायड ने जोसफ ब्रायर (१८४२-१९२५) के साथ मिलकर हिप्नोसिस के उपयोग से रोगियों को अच्छा करने का प्रयास किया। लेकिन इस रीति की दो सीमाएँ थीं। एक तो यह कि सभी व्यक्ति हिप्नोटाइज़ नहीं किये जा सकते थे और दूसरी यह है कि जब ये इस उपाय से एक रोगी स्त्री को स्वस्थ करने में सफल हो गये तो उसने ब्रायर से यह कहा कि वह उसमें अनुरक्त हो गयी है। इससे ब्रायर ने तो यह कार्य बन्द कर दिया मगर फ्रायड ने काम जारी रखा।

सबसे पहला काम तो फ्रायड ने यह किया कि उसने हिप्नोटिज़्म के स्थान पर दूसरी रीति का उपयोग आरम्भ किया। पहले तो उन्होंने रोगी को आराम से लिटाकर उसे प्रश्नों द्वारा उन विस्मृत कारणों को याद करने के लिए प्रेरित करना चाहा जिनसे उसके रोग का जन्म हुआ होगा। लेकिन यह उपाय भी कठिन और विशेष उपयोगी न सिद्ध हुआ। इसके बाद उन्होंने जो रीति अपनायी वह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उन्होंने रोगी को आराम से लिटाकर वे सभी विचार सुनाने के लिए कहा जो उसके मन में आते हैं। इस रीति की सफलता का आधार यह था कि रोगी को प्रत्येक विचार को चाहे वह कितना ही गोपनीय और लज्जास्पद क्यों न हो, निस्संकोच बताना चाहिए। इसी दौरान में उन्होंने स्वप्न के महत्त्व को जानकर उसका उपयोग करना शुरू किया और यह सिद्धान्त बनाया कि दमित इच्छाएँ प्रायः स्वप्न के रूप में प्रकट हुआ करती हैं मगर उनकी अभिव्यक्ति प्रायः प्रतीकों के द्वारा हुआ करती है।

उन्मुक्त विचार-साहचर्य एवं स्वप्न के विश्लेषण के द्वारा फ्रायड जिन

निष्कर्षों पर पहुँचे उन्होंने सारे सामाजिक चिन्तन में क्रान्ति उपस्थित कर दी। उन्होंने कहा कि मनुष्य की सभी साधनाओं का मूल कामवृत्ति है और यह वृत्ति शिशु में भी होती है। पुत्री का प्रेम पिता से अधिक होता है और पुत्र का माता से। इसका कारण कामवृत्ति ही है जो शिशु में होती है। शैशवावस्था की कामवृत्ति यौवन की कामवृत्ति के समान विशिष्ट नहीं होती, मगर उसमें भी आनन्द सिद्धान्त की सत्ता दिखायी देती है जिसके अनुसार व्यक्ति जीवन में आनन्द प्राप्त करने का प्रयास करता है। फ्रायड के मनो-विश्लेषण को समझने के लिए उनके सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर अलग से विचार करना उपयोगी होगा।

अचेतन : फ्रायड ने जो प्रयोग किये उनसे उन्हें इस बात पर विश्वास हो गया कि जीवन में अचेतन का महत्त्व चेतन की अपेक्षा कहीं अधिक है। वे सिद्धान्त और निश्चय जो चेतन की कृति समझे जाते हैं, वास्तव में अचेतन की किसी वृत्ति पर स्थित पाये जाते हैं। यदि व्यक्ति अपनी किसी इच्छा को कुछ मजबूरियों के कारण पूरा नहीं कर सकता तो उसके सामने दो ही रास्ते हैं। एक तो यह कि वह सजग रूप से उन कारणों के महत्त्व और शक्ति को समझकर उस इच्छा को मन से निकाल दे। दूसरा रास्ता यह है कि वह उस यथार्थ की चुनौती को स्वीकार किये बिना ही इच्छा को दबाने की कोशिश करे। ऐसी स्थिति में वह इच्छा बार-बार उठती है और बार-बार दबायी जाती है। नतीजा यह होता है कि वह इच्छा अचेतन में वास करने लगती है और अधिक शक्ति के साथ प्रच्छन्न रूप से जीवन को शासित करने लगती है। इस दमित इच्छा को ही कुण्ठा कहते हैं।

उदाहरण के लिए एक युवती पिता की बीमारी के कारण अपने प्रेमी से मिलने में असमर्थ हो गयी। और कुछ दिनों बाद उसे हिस्टीरिया हो गया। इसका कारण यह ज्ञात हुआ कि यह रोग वास्तव में उस युवती की पिता की सेवा से मुक्ति की इच्छा के कारण ही हुआ था।

अहम् और लिबिडो : फ्रायड ने जीवन की दो विरोधी प्रवृत्तियाँ मानी हैं जिनमें निरन्तर संघर्ष चला करता है। वह प्रवृत्ति जिसका सम्बन्ध आतम-रक्षा से है अहम् कहलाती है और वह जिसका सम्बन्ध कामवासना से है लिबिडो कहलाती है। अहम् यथार्थ-सिद्धान्त से शासित होता है और सामाजिक रीति-रिवाज के बन्धन के भीतर कार्यशील होता है मगर लिबिडो का सम्बन्ध आनन्द सिद्धान्त से है जो यथार्थ का तिरस्कार कर आनन्द-प्राप्ति का कामी है। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति का अहम् प्रबुद्ध रहता है किन्तु दिवास्वप्न या स्वप्न में लिबिडो का शासन रहता है। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और लिबिडो की प्रवृत्ति को अहम् निरन्तर दमित

करने का प्रयास करता है। कारण यह है कि लिबिडो कोई नैतिक बन्धन स्वीकार नहीं करता मगर अहम् सामाजिक नैतिकता के नियन्त्रण में रहता है। इसलिए लिबिडो-जनित जो इच्छाएँ सामाजिक नैतिकता के विपरीत हैं उन्हें अहम् दबाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार मानव-चेतना में निरोध और दमन का यह व्यापार निरन्तर चलता रहता है। लिबिडो-जनित कई इच्छाएँ इस दमन-व्यापार की शक्ति से अचेतन में कुण्ठा का रूप धारण कर लेती हैं।

फ्रायड ने अपने परवर्ती सिद्धान्त में अहम् और लिबिडो के विरोध के स्थान पर जीवन-वृत्ति (इरोस) और मृत्यु-वृत्ति (थैनेटौस) का विरोध स्वीकार किया। मृत्यु निश्चित है इसलिए व्यक्ति में मृत्यु की वृत्ति का होना स्वाभाविक है। मगर जिस प्रकार जीवन-वृत्ति प्रायः व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बद्ध होती है उसी प्रकार मृत्यु-वृत्ति अन्य व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध हो जाया करती है। हत्यारों और लूटमार करने वाले व्यक्तियों में यह वृत्ति अधिक सशक्त होती है। इनमें यह वृत्ति आत्ममुखी न होकर अन्यमुखी हो जाती है। जो व्यक्ति अपने प्रेमी को पीड़ा पहुँचाकर प्रसन्न होता है उसमें यही वृत्ति अपने मूल आत्ममुखी रूप में ही प्रधान होती है। फ्रायड के पहले सिद्धान्त के अनुसार लिबिडो का अत्यधिक दमन मानसिक विक्षेप का कारण माना जाता था और परवर्ती सिद्धान्त के अनुसार बहिर्मुखी मृत्यु-वृत्ति या आक्रामक वृत्ति के निरोध से इस विकृति का जन्म होता है।

परवर्ती सिद्धान्त में फ्रायड ने व्यक्ति-चैतन्य के तीन अंग माने हैं—इड, अहम् और सुपर ईगो। इड अचेतन अंश है जिसमें प्राकृतिक वृत्तियाँ और इच्छाएँ निवास करती हैं। इसमें वृत्तियों का रूप निश्चित एवं निर्दिष्ट नहीं होता। अहम् के द्वारा ही इनकी अभिव्यक्ति होती है। लेकिन अहम् व्यक्ति का चेतन अंश है, जो यथार्थ से परिचित है। इसलिए अहम् इड-जनित इच्छाओं और वृत्तियों को यथार्थ के अनुरूप ही अभिव्यक्त होने देता है। अनुचित इच्छाओं को दबाने का काम भी उसी का है। लेकिन जब कुण्ठाएँ भी इड में शामिल हो जाती हैं तो व्यक्ति में असन्तुलन आने की सम्भावना हो जाती है। इसलिए अहम् की शक्ति और विवेक ही मन के सन्तुलन को बनाये रख सकता है।

सुपर ईगो वास्तव में ईगो का वह रूप है जिसे अन्तरात्मा कहा जा सकता है। बचपन से ही माता-पिता बच्चे को नैतिक सिद्धान्तों की और अच्छे-बुरे की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ईगो और सुपर ईगो दोनों ही चेतन हैं।

ईडिपस ग्रन्थि : ईडिपस प्राचीन यूनान की कथा का एक नायक था। वह एक राजा का पुत्र था। लेकिन जब उसका जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की कि वह अपने पिता की हत्या कर अपनी माता से विवाह करेगा। इसलिए उसके पिता ने उसे मारने का प्रयास किया। लेकिन वह किसी प्रकार

बच गया और पड़ोसी राज्य के राजा ने उसे अपना पुत्र बना लिया । एक बार एक ज्योतिषी ने उसे यह बताया कि वह अपने पिता को मारकर अपनी माता से विवाह कर लेगा । यह जानकर वह अपने घर से दूर भ्रमण आदि में समय व्यतीत करने लगा । तभी वह अपने असली पिता को मारकर अपनी माता से विवाह कर लेता है । कई वर्षों बाद जब रहस्य खुलता है तो ईडिपस अपनी आँखें फोड़ लेता है और अत्यन्त दयनीय अवस्था में जीवन बिताता है ।

इस पुरा-कथा के आधार पर ही फ्रायड ने ईडिपस ग्रन्थि का नामकरण किया । लड़का अपनी माता से प्रेम करता है और पिता को अपना रक़ीब समझता है । मगर साथ ही वह पिता से भी प्रेम करता है, उसे अपना आदर्श बनाता है । उसके मन में एक तीव्र संघर्ष चलता रहता है और यही कारण है कि व्यक्ति उस संघर्ष को भूलने के लिए बचपन की सब बातें भूल जाता है । लड़की की भी ऐसी ही दशा होती है । वह अपने पिता की ओर अधिक आकृष्ट होती है और उसकी मानसिक दशा अधिक ग्रन्थिल होती है ।

आत्मरति (नार्सिसिज़्म) : नार्सिसस एक प्राचीन यूनानी कथा का सुन्दर नायक था जो एक सुन्दरी के आकर्षण से निर्लिप्त रहा । एक बार जब उसने एक तालाब में अपनी परछाईं देखी तो वह अपनी परछाईं में ही अनुरक्त हो गया। तब उसने पानी की ओर झुके हुए एक फूल का रूप धारण कर लिया। इसी कथा के आधार पर ही फ्रायड ने उस व्यक्ति को नार्सिसिस्ट कहा है जो अपने से ही प्रेम करता है और अपने रूप की प्रशंसा से ही कामुक आनन्द की प्राप्ति करता है। फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि आरम्भ में शिशु में केवल आत्मरति ही होती है क्योंकि उसें बाह्य संसार का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं होता । जैसे-जैसे उसे बाहरी दुनिया का ज्ञान होने लगता है उसकी रति-भावना बाहरी वस्तुओं एवं व्यक्तियों में अनुरक्त होने लगती है। आत्मरति की अधिकता से मानसिक सन्तुलन और विक्षेप का उदय हो जाता है ।

ऐल्फ्रेड एडलर :

व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का स्कूल : एडलर पहले तो फ्रायड के साथ ही काम करता रहा। लेकिन बाद में उसका फ्रायड से मतभेद हुआ और उसने व्यक्तिवादी मनोविज्ञान के स्कूल की स्थापना की ।

व्यक्तिवादी मनोविज्ञान में एडलर ने व्यक्ति के आरम्भिक वातावरण और उससे उत्पन्न व्यक्तिगत भेदों को विशेष महत्त्व दिया है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में सत्ता अथवा प्रभुत्व की स्वाभाविक और तीव्र इच्छा होती है। शिशु परिवार में प्रभुत्व जमाना चाहता है और किसी अन्य के आदेश का पालन नहीं करना चाहता । यह माता तथा परिवार के अन्य सदस्यों को देखना चाहिए कि शिशु एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाता है। न तो उसकी

सभी इच्छाओं का पालन होना चाहिए और न ही उसको बिलकुल दबाकर रखना चाहिए।

फ्रायड के समान एडलर ने भी विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष के महत्त्व को स्वीकार किया है। लेकिन एडलर के अनुसार ये विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं प्रभुत्व-कामना और सहयोग तथा प्रेम। व्यक्ति में इन दोनों प्रवृत्तियों का संघर्ष होता रहता है और जब इनका सन्तुलन खण्डित होता है तभी मनोविक्षेप की दशा पैदा हो जाती है।

बालक आरम्भ में ही अपने वातावरण के प्रभाव से जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपना लेता है—एक जीवन-रीति (स्टाइल ऑफ़ लाइफ़) का निर्माण कर लेता है और जीवन-भर उसी रीति के दायरे में बँधा रहता है।

एडलर ने काम-वासना का महत्त्व माना है मगर वह उतना बुनियादी नहीं है जितना कि फ्रायड मानता है। एडलर के मन में बुनियादी तत्त्व तो जीवन-रीति है और जीवन-रीति के अनुरूप ही व्यक्ति के जीवन में काम का महत्त्व होता है। कायर व्यक्ति में नपुंसकता उत्पन्न हो सकती है और अहम्-वादी व्यक्ति काम-वासना को भी सत्ता या अधिकार के लिए प्रयुक्त करता है। इसलिए विक्षिप्त व्यक्ति कुण्ठाओं का शिकार नहीं है वरन् एक विकृत जीवन-रीति का शिकार है और इसलिए मनोविश्लेषक को यह प्रयास करना चाहिए कि वह व्यक्ति अपनी जीवन-रीति में अपेक्षित सुधार कर ले।

मनोविश्लेषक अपने कार्य में स्वप्न से सहायता लेता है। मगर स्वप्न केवल कुण्ठाओं की ही अभिव्यक्ति नहीं है। वह असल में व्यक्ति की जीवन-रीति का व्यंजक है। स्वप्न का सम्बन्ध सिर्फ़ बीती हुई घटनाओं और अनुभवों से ही नहीं है। वह उन कामों की भी सूचना देता है जो कि व्यक्ति भविष्य में करने वाला है।

एडलर ने रोगियों से सीधी बातचीत के द्वारा उन्हें उनकी जीवन-रीति की बुराइयाँ बताने की कोशिश की। इसलिए उन्होंने फ्रायड के तरीके के स्थान पर सीधी बातचीत के तरीके को अपनाया।

कार्ल गुस्टाव युंग

विश्लेषात्मक मनोविज्ञान का स्कूल : युंग ने लिबिडो का प्रयोग फ्रायड से अधिक व्यापक अर्थ में किया है। उसने इसके अन्तर्गत यौन-भावना और सत्ता की इच्छा दोनों को स्वीकार कर लिया। लिबिडो व्यक्ति की समग्र शक्ति का पर्याय है और व्यक्ति के सभी कार्यों में इसी की अभिव्यक्ति होती है।

युंग ने भी इस बात का अनुभव किया कि विरोधी प्रवृत्तियों की सत्ता एक ऐसी सच्चाई है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। न केवल असन्तुलित व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए बल्कि व्यक्तित्व के समन्वित विकास

के लिए विरोधी प्रवृत्तियों का होना ज़रूरी है। लेकिन युंग ने केवल दो विरोधी प्रवृत्तियों को ही नहीं माना वरन् कई विरोधी भावनाओं की सत्ता स्वीकार की। इनमें से प्रमुख हैं अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता। अन्तर्मुखी व्यक्ति वह है जो भावों और विचारों की अन्दरूनी दुनिया में खोया रहता है और बहिर्मुखी व्यक्ति वह है जिसके कार्य का केन्द्र बाहरी दुनिया है। अन्तर्मुखी व्यक्ति में लिबिडो की प्रवृत्ति अन्तर्गामी है और बहिर्मुखी व्यक्ति में बहिर्गामी।

उपर्युक्त भेद तो व्यक्ति की रुचि की दिशा[1] के अनुसार है, लेकिन बौद्धिक क्रिया के प्रकार[2] में भी अन्तर होता है। युंग ने प्रमुख रूप से चार प्रकार की बौद्धिक क्रिया मानी है—चिन्तन, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, अन्तर्ज्ञान और आवेग।[3] इनमें से चिन्तन और आवेग विरोधी कार्य हैं और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा अन्तर्ज्ञान विरोधी कर्म हैं। इन चार प्रकार के मानसिक कार्यों तथा रुचि की दो दिशाओं के मेल से व्यक्तियों के आठ प्रमुख प्रकार हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त चेतन और अचेतन का विरोध भी बुनियादी विरोध है। युंग ने फ्रायड की अपेक्षा अचेतन का अधिक व्यापक उपयोग किया है। युंग के अनुसार अचेतन के कई स्तर हैं जिनकी गहराई में अन्तर है। सबसे कम गहरा स्तर व्यक्तिगत अचेतन[4] का है जिसमें तीन तत्त्व मिले हुए हैं: (१) दमित इच्छाएँ, (२) विस्मृत बातें, (३) अचेतन रूप से प्राप्त ज्ञान। व्यक्तिगत अचेतन से गहरा है संचित अचेतन[5]। यह मानवता की सामान्य आधारभूमि है जो आदिम युगों से आज तक चली आ रही है और इसी से व्यक्तिगत चेतन का उदय होता है। यह अव्यक्त रूप से मस्तिष्क में जन्म से ही प्राप्त होता है। यही वह मूल कारण है जिसके प्रभाव से व्यक्ति मनुष्यों की तरह सोचने और चलने के लिए बाध्य होता है।

संचित अचेतन में वृत्तियाँ और प्रारूप[6] विद्यमान होते हैं। वृत्तियाँ कार्य करने की आदिम रीतियाँ हैं और प्रारूप चिन्तन की आदिम पद्धतियाँ हैं। ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि चिन्तन और कर्म साथ रहते हैं। प्रारूप सामान्य जागृत अवस्था में तो छिपे रहते हैं लेकिन स्वप्नों में, बच्चों के दिवास्वप्नों में, विक्षिप्तों की भावनाओं में तथा परियों आदि के किस्सों में व्यक्त होते रहते हैं।

---

[1] डायरेक्शन

[2] काइण्ड

[3] थिंकिंग, सेंस परसेप्शन, इन्ट्यूशन, फीलिंग

[4] पर्सनल अनकॉन्शस

[5] कलेक्टिव अनकॉन्शस

[6] इन्स्टिंट ट्स और आर्चिटाईप्स

युंग के अनुसार अचेतन और चेतन परस्पर पूरक हैं। व्यक्ति चेतन रूप से जो नहीं होता वही वह अचेतन रूप से होता है और जो वह चेतन रूप से होता है, वही वह अचेतन रूप से नहीं होता। जो व्यक्ति चेतन रूप से अन्तर्मुखी है, वह अचेतन रूप से बहिर्मुखी होता है।

मनोविश्लेषक के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के अचेतन को समझने की कोशिश करे और उपयोगी तथा रचनात्मक अचेतन वृत्तियों को उभारे। इसको समझने के लिए वह अपने रोगियों को उन्मुक्त रूप से कलात्मक रचना में प्रेरित करता था और उनकी रचनाओं से उनकी निहित वृत्तियों एवं ग्रन्थियों को समझने की कोशिश करता था।

उपर्युक्त विवेचन में प्रमुख मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अचेतन के स्वरूप, कार्य एवं प्रभाव के विषय में बुनियादी मतभेद है और इसलिए आलोचक के लिए यह अनिवार्य है कि किसी भी एक मनोविश्लेषण सिद्धान्त को अपनाने से पहले वह इन सभी सिद्धान्तों को पूरी तरह समझ ले। स्पष्ट है कि इस कार्य के लिए तो एक लम्बा अर्सा चाहिए। लेकिन इतना धीरज किसे है। होता यह है कि थोड़ा-बहुत ज्ञान पा लेने पर ही मनोविश्लेषण सिद्धान्त के आधार पर व्याख्याएँ की जाने लगती हैं। यह रीति वांछनीय नहीं है।

साहित्य में मनोविश्लेषण रीति का उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो साहित्य के द्वारा साहित्यकार के व्यक्तित्व का, जीवन-रीति आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और द्वितीय पात्रों के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा सकता है। हमने मनु के मनोविश्लेषण का प्रयास किया है। इस दिशा में अभी और प्रयासों की अपेक्षा है।

एक बात स्पष्ट है। मनोविश्लेषणशास्त्र अभी विज्ञान जैसी सत्यता को प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए एक ही तथ्य की व्याख्या में अन्तर और यहाँ तक विरोध भी हो सकता है। मनोविश्लेषक व्याख्या करने में विशेष रूप से सावधान रहने की ज़रूरत है।

४. रूपात्मक आलोचना

साहित्य की सत्ता में तीन सत्ताएँ संपृक्त होती हैं। एक पाठक की, दूसरी साहित्य की और तीसरी साहित्यकार की। आलोचना इन तीनों में से किसी एक को या सभी को अपना केन्द्र बनाती है। सन्तुलित और पूर्ण आलोचना तो वही है जो इन तीनों को साथ लेकर चले। मगर साहित्य के इतिहास में ऐसी धाराएँ भी दिखायी देती हैं जिनमें किसी भी एक सत्ता पर ही प्रधान बल दिया गया है। अपनी एकांगिता में भी ये चिन्तन-धाराएँ उपयोगी हैं। हाँ, इतना ज़रूर है कि उनकी उपयोगिता एकांगिता में सीमित है।

प्राचीन काल में काव्यशास्त्रियों ने साहित्य पर प्रधान रूप से दो रूपों में विचार किया था। एक तो साहित्य के रूप पर और दूसरे पाठक की दृष्टि से। साहित्यकार की दृष्टि से साहित्य-चर्चा बाद की बात है। यही कारण है कि भरत और अरस्तू में या तो साहित्य के सिद्धान्तों की प्रधान रूप से चर्चा है और या फिर पाठक की साहित्य-जनित प्रतिक्रिया की। इन दोनों में से क्षेत्र की व्यापकता के कारण पहला प्रयास ही अधिक व्यापक रूप से हुआ है।

इस प्रकार आलोचना की तीन प्रक्रियाएँ हैं। वह प्रक्रिया जो साहित्य के रूप को अपना केन्द्र बनाती है रूपात्मक प्रक्रिया है, वह जो पाठक को अपना आधार बनाती है आस्वादात्मक कही जा सकती है और वह जो साहित्यकार को अपना लक्ष्य बनाती है सर्जनात्मक प्रक्रिया कही जा सकती है। सफल और समन्वित आलोचना वही होगी जिसमें इन तीनों प्रक्रियाओं—रूपात्मक, आस्वादात्मक और सर्जनात्मक प्रक्रियाओं—का प्रयोग किया गया हो। लेकिन कभी-कभी युग-चेतना अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी एक प्रक्रिया पर अधिक बल देती है।

कई बार ऐसा होता है कि किसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा रूपात्मक आधार पर होती है मगर परवर्ती दृष्टि के अनुसार वही सिद्धान्त आस्वादात्मक या सर्जनात्मक आधार पर पेश कर दिया जाता है। आधार के इस परिवर्तन को न समझने के कारण परवर्ती आलोचना भ्रमित होकर ऐसी समस्याओं और प्रश्नों को पेश कर देती है जिनकी सत्ता वास्तविक नहीं होती। मगर मूल विषमता को न समझने के कारण उन प्रश्नों और उनके समाधानों में एक द्वन्द्व चल निकलता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भारतीय काव्य-शास्त्र से दो उदाहरण लिये जा सकते हैं। एक रस का और दूसरा गुण का।

इन उदाहरणों पर विचार करने से पहले एक बात स्पष्ट करना ज़रूरी है। बहुत से पुराणपन्थी यह मनवाने की क़ोशिश करते नज़र आते हैं कि हर नयी बात किसी पुराने ग्रन्थ से ही निकली है और वे इसको सिद्ध करने के लिए बेसिर-पैर के सम्बन्ध जोड़ लिया करते हैं। इनके विपरीत कुछ ऐसे नौसिखिए भी होते हैं जो अपने युग की हर बात को नया बताते हैं और पुराने से उसका रिश्ता क़ायम करने से बहुत घबराते हैं। ये दोनों ही दृष्टियाँ कच्चे दिमाग़ और अव्यवस्थित चिन्तन की उपज हैं और इनसे सावधान रहने की ज़रूरत है।

रस और गुण दोनों का जन्म आलोचना की रूपात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत हुआ था। भरत ने रस को नाटकगत माना है और नाटक के रूप का एक अनिवार्य तत्त्व माना है। उनकी दृष्टि में रस एक निर्मिति है, एक सृष्टि है जो नाटक में निष्पन्न होती है। रस पाठक के हृदय की प्रतिक्रिया नहीं है। रस तो नाटकगत वह निर्मिति है जिसका आस्वाद किया जाता है। वह आस्वाद्य

तत्त्व है जो रंगमंच पर स्थायी भाव के सत्व आदि से उपेत होने पर उदित होता है। भरत ने सामाजिक आस्वाद के स्वरूप का भी संकेत किया है लेकिन वह संकेत-भर ही है। सामाजिक रस का आस्वादन करते हैं और हर्षादि की प्राप्ति करते हैं। रस रूपगत तत्त्व है और उसका आस्वाद हर्षादिमय है। इस प्रकार आरम्भ में रस का सम्बन्ध साहित्य से था, वह काव्य के रूप का एक तत्त्व था।

लेकिन परवर्ती व्याख्याकारों ने जब सामाजिक को प्रधान केन्द्र बनाकर रस की व्याख्या की तो उसे आस्वाद से अभिन्न माना। भट्टनायक तक तो रस की निष्पत्ति की स्वतन्त्र सत्ता मान्य रही लेकिन अभिनव ने उसे भोग या चर्वणा से अभिन्न मान लिया और इस प्रकार वह तत्त्व जो रूपात्मक आलोचना का प्रधान उपकरण था आस्वादात्मक आलोचना का तत्त्व बन गया।

अभिनव के बाद के सभी प्राचीन आलोचकों ने रस के इसी आस्वाद रूप को ही स्वीकार किया और सबसे पहले 'रस-सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' में रस के वस्तुगत स्वरूप की विस्तृत व्याख्या का प्रयास किया गया। मैं समझता हूँ कि रस का यह वस्तुगत रूप व्यक्तिगत रूप या आस्वाद से अधिक महत्त्वपूर्ण है और अगर आज रस की व्यापक स्वीकृति सम्भव है तो इसी वस्तुगत रूप में ही। कारण यह है कि काव्यशास्त्र को शास्त्र होने के नाते वैज्ञानिक रीति पर काम करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो वस्तुगत तत्त्वों के आधार पर ही सिद्धान्तों का निर्माण करना चाहिए। वह तथाकथित सिद्धान्त जो व्यक्तिपरक या आस्वाद की भूमि पर आधारित है, कोई सिद्धान्त ही नहीं है। इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

सवाल यह है कि रस के आस्वाद को सिद्धान्त मानने की आवश्यकता ही क्या है? आत्मपरक सिद्धान्त को साहित्य की कसौटी मानने में संगति ही कहाँ है? क्या आस्वाद का कोई वस्तुगत रूप नहीं है? अथवा क्या काव्य में ऐसे तत्त्व विद्यमान नहीं हैं जो उस अनुभूति को जगाते हैं जिसे रस कहते हैं?

जो आस्वाद रूप रस को सिद्धान्त रूप में स्वीकारे करते है वे भी यह मानते हैं कि इस आस्वाद का एक वस्तुगत पक्ष है जिसका निर्देश विभावादि के विवेचन द्वारा किया जाता है। तो इसका मतलब यह हुआ कि विभावादि का संश्लेष आस्वाद का कारण है और आस्वाद उसका कार्य है। जो लोग रस की लोकोत्तरता की सिद्धि के लिए उसे कारण-कार्य के सम्बन्ध से अतीत मानते हैं उनके पास कोई ठोस तर्क नहीं है। यह तो दरअसल अतिशयोक्ति-पूर्ण वाग्जाल मात्र है। यह स्पष्ट है कि विभावादि का संश्लिष्ट रूप ही उस अनुभूति का कारण है जो सामाजिक के हृदय में उदित होती है और जिसे कुछ काव्यशास्त्रियों ने रस कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ

भी आस्वाद होगा वहाँ विभावादि का संश्लेष होगा। बिना विभावादि के आस्वाद की सत्ता ही नहीं होगी। अतः हमारे सामने दो तत्त्व हैं। एक विभावादि का संश्लेष जो कवि की निर्मिति है और जो काव्य के रूप का एक तत्त्व है और दूसरा वह अनुभूति जो उस निर्मिति की सामाजिकगत प्रतिक्रिया है। जब ये दोनों तत्त्व अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं तो फिर शास्त्रीय पद्धति का पालन करते हुए रूपगत तत्त्व को ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार क्यों न किया जाय ? जब रूपगत तत्त्व की सत्ता निर्विवाद रूप से सिद्ध है तब उसके आस्वाद को काव्य की कसौटी मानना कैसे संगत ठहराया जा सकता है ? और जब रूपगत रस को मानने से न तो कोई असंगति ही पैदा होती है और न ही कोई कठिनाई ही तो फिर उसे कसौटी मानने में क्या एतराज़ हो सकता है ?

कुछ ऐसी ही कहानी गुण की भी रही। वामन ने स्पष्ट रूप से गुणों को रूपगत माना है, उनका सम्बन्ध भाषा से शब्द-नाद और अर्थ से माना है और यह कहा है कि सामाजिक गुणों का आस्वाद करता है। गुण आस्वाद का अंग या धर्म नहीं है बल्कि स्वयं एक ऐसा तत्त्व है जिसका आस्वाद सामाजिक द्वारा किया जाता है।

लेकिन जब रस की सामाजिकगत रूप की धूम मची तो काव्य के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध करने का प्रयास किया जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि रस को धर्मी और गुणों को उसका धर्म मानकर ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीन गुणों की स्वीकृति हुई।

वही असंगति यहाँ भी हुई जो रस के प्रसंग में हुई थी। जब एक वस्तुगत तत्त्व विद्यमान है जिसे सब देख और समझ सकते हैं तो फिर उसे हटाकर केवल एक विशुद्ध आत्मपरक तत्त्व को स्वीकार करने की क्या मुसीबत है। जो बात सीधी और आसान है उसे बेकार में ही गूढ़ या मुश्किल बनाने से क्या फ़ायदा ? वैज्ञानिक रीति तो यह होती कि काव्य-तत्त्वों के दोनों ही पक्षों को—रूपगत तथा सामाजिकगत तत्त्वों को स्पष्ट-समन्वित रूप से स्वीकार किया जाता।

चिन्तन अपने प्राचीन रूप में वस्तुवादी ही हुआ करता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्तिवादी आत्मपरक दृष्टि की प्रधानता होती है जो पहली पद्धति की प्रतिक्रिया मानी जा सकती है। फिर इन दोनों स्थितियों का सामंजस्य होना चाहिए जिसमें दोनों तत्त्वों की सही सन्तुलित रूप में स्वीकृति हो। लेकिन कभी-कभी ऐसा नहीं होता और पुराना विरोध नये रूपों और नये स्तरों पर चलता रहता है।

चिन्तन में जब सक्रिय साधना का समावेश होता है तो रहस्यवादी प्रवृत्ति का जन्म होता है। कारण यह है कि शुद्ध चिन्तन साधना का प्रेरक

नहीं हुआ करता। कर्म के लिए केवल विचार नहीं विचार पर आस्था चाहिए, सिद्धान्त से राग चाहिए। विचार जब राग से पुष्ट होता है तभी साधना का उदय होता है। मगर विचार अनेक हैं, सिद्धान्तों की विविधता दिखायी देती है। इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि उन सिद्धान्तों में से किसी एक पर ईमान लाया जाय। ईमान लाने वाली बात, श्रद्धावान बनने वाली बात हरेक दार्शनिक-धार्मिक साधना में अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। यही कारण है कि प्रत्येक उस दर्शन का एक आयाम रहस्यवाद[1] होता है जिसमें साधना अभिन्न रूप से स्वीकृत होती है। दर्शन का वह आयाम जो विवेक के द्वारा पूरी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता और जिस पर ईमान लाना पड़ता है रहस्यवादी माना जाता है। इस प्रकार दर्शन में रहस्यवाद का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ विचार आगे बढ़ने से इन्कार कर दे। रहस्यवाद विवेक-शून्य तो नहीं होता मगर वह तर्क-पुष्ट भी नहीं होता। उसका आधार अन्तर्ज्ञान और शब्द-प्रमाण ही हैं।

भारतीय दार्शनिक चेतना के प्रेरक रूप का एक रहस्यवादी पक्ष भी रहा है। यह रहस्यवादी अंश वही है जिसका आधार तर्क न होकर अन्तर्ज्ञान था, शब्द प्रमाण था। अन्य साधनों के समान शैव-साधना का भी रहस्यात्मक पक्ष रहा है। अभिनव शैव होने के कारण उस पक्ष से परिचित थे।

जब अभिनव ने शैव दर्शन की अद्वैतवादी (काश्मीरी) धारा के आधार पर रस की व्याख्या की तो यह स्वाभाविक ही था कि उनका रस-विवेचन उनके सिद्धान्त के दोनों पक्षों द्वारा—तर्क-पक्ष एवं रहस्यात्मक-पक्ष द्वारा—प्रभावित हो। परम तत्त्व का स्वरूप, आतमा का रूप, परम लक्ष्य का स्वरूप एवं अनुभव आदि ऐसे मूल तत्त्व हैं जिनकी व्याख्या शुद्ध तर्क के आधार पर नहीं रहस्यात्मक निष्ठा के आधार पर की जाती है। इसलिए अभिनव ने जब रस को आनन्दमयी अनुभूति और चर्वणा आदि के रूप में प्रतिष्ठित किया तो वास्तव में यह उनका रहस्यवाद ही था जो काव्यशास्त्र में व्यक्त हुआ था।

यह स्पष्ट है कि अभिनव का रस एक रहस्यात्मक अवधारणा है। जब काव्यशास्त्र में रहस्यवाद का समावेश हुआ तो काव्यास्वाद के उस आनन्दवादी रूप का उदय हुआ जिसे रस कहते हैं और जो चर्वणा या भोग से अभिन्न है।

जब तक काव्यशास्त्र में दार्शनिक रहस्यवाद का प्रभाव बना रहा तब तक रस के उसी अनुभूतिमय आनन्द रूप को स्वीकार किया जाता रहा। यह अनुभूति निश्चित रूप से एक विशिष्ट रहस्यात्मक अनुभूति है।

---

१ यहाँ रहस्यवाद का प्रयोग साहित्यिक रहस्यवाद के लिए नहीं वरन् एक दार्शनिक अवधारणा के रूप में किया गया है।

इस अनुभूति को सिवाय रहस्यवाद के और कोई आधार स्वीकार्य नहीं है। मनोविज्ञान आदि नवीन विषयों के आधार पर जिस अनुभूति की व्याख्या की जाती है वह वास्तव में रहस्यात्मक रसानुभूति नहीं है। आज मनोविज्ञान में आत्मा तो क्या मन तक की सत्ता अमान्य सिद्ध हो चुकी है। इसलिए आनन्दमय या मनोमय कोश पर आधारित रस-चर्वणा के लिए या उसमें कोई स्थान नहीं है।

प्राचीन मनोविज्ञान में भी दर्शन के समान ही रहस्यात्मक तत्त्व विद्यमान थे। इसलिए जिनकी अभी तक उसी प्रयोग-शून्य मनोविज्ञान पर आस्था है वे चाहें तो कुछ हद तक रसानुभूति की 'मनोवैज्ञानिक' व्याख्या कर सकते हैं। लेकिन आज वह व्याख्या मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं मानी जाएगी—उसे रहस्यात्मक व्याख्या का ही एक झीना रूप समझा जाएगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र की परवर्ती रसानुभूति रहस्यवादी तत्त्व—आत्मा या ब्रह्म पर आधारित है। अगर यह रहस्यात्मक आधार हटा दिया जाय तो फिर वह अनुभूति टिक ही नहीं सकती जिसे अभिनव आदि ने रस कहा है। अगर आधार बदल देंगे तो निश्चित रूप से अनुभूति भी बदल जाएगी।

और इस मनोविज्ञानसम्मत अनुभूति को भी काव्य का मूल्य घोषित करना असंगत ही होगा क्योंकि जैसा कि पहले कहा गया है, जहाँ वस्तुवादी तत्त्व विद्यमान हैं, और जहाँ वस्तुवादी मूल्यों की स्वीकृति हो सकती है वहाँ आत्मपरक मूल्यों को मानना संगत नहीं है।

जहाँ तक गुणों का सवाल है उसमें भी एक बुनियादी असंगति है जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया।

आत्मवादी काव्यशास्त्री माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण मानते हैं और तीनों का सम्बन्ध रस से मानते हैं। माधुर्य में चित्त की द्रुति होती है और ओज में दीप्ति होती है। मगर प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ चित्त में अर्थ सहज ही व्याप्त हो जाता है। पहले दो गुणों में तो भावों की विशेषता की चर्चा है और प्रसाद गुण में अर्थ की सरलता का। इस प्रकार यहाँ गुणों का वर्गीकरण दो तत्त्वों के आधार पर किया गया है जो कि तर्कशास्त्र की दृष्टि से असंगत है। भावजनित चंचलता की विशेषता एक बात है और अर्थ की सरलता दूसरी। यदि मधुर रचना सरल हो तो उसमें माधुर्य के साथ प्रसाद गुण भी होगा और यदि ओजपूर्ण रचना सरल हो तो उसमें ओज के अतिरिक्त प्रसाद गुण भी होगा। ऐसी स्थिति में प्रसाद को अलग गुण मानने की ज़रूरत ही क्या है? काव्य सबकी समझ में आ जाय यह तो काव्य की पहली अनिवार्य शर्त है। फिर इसे गुण के रूप में मानकर माधुर्य तथा ओज के साथ सजाने की क्या ज़रूरत है?

काव्य में केवल दो गुणों की ही चर्चा करना संगत है—एक माधुर्य-गुण और दूसरा ओज-गुण। प्रसाद-गुण की अवधारणा निरर्थक, भ्रमपूर्ण और त्याज्य है।

आधुनिक युग में रूपात्मक आलोचना की एक धारा दिखायी देती है। जो लोग काव्य को जीवन और लोक से असम्बद्ध मानते हैं वे काव्य के रूप पर, उसके शिल्प आदि पर विशेष बल देते हैं। रूप के अन्तर्गत भाषा, लय, यति, छन्द आदि तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है। कथ्य पर नहीं, कथन पर बल दिया जाता है। कथ्य के महत्त्व को काव्य की कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रकार यह कलावादी सिद्धान्त की ही धारा है।

लेकिन हिन्दी में तथाकथित 'नयी आलोचना' ने पुराने काव्य-मूल्यों और जीवन-मूल्यों का प्रबल खण्डन किया गया है। जो कुछ भी पुराना है वह बुरा है, मरा हुआ है। और जो नया है वही अच्छा है, वही मूल्य भी है। जब यह सवाल किया जाता है कि 'नया' क्या है ? तो उत्तर मिलता है—'जो पुराना नहीं है, वह नया है'। इससे बात स्पष्ट नहीं होती। यह नेति-नेति की प्रक्रिया का ग़लत इस्तेमाल है। आवश्यकता इस बात की है कि 'नये' की सही व्याख्या की जाय।

हरेक युग अपनी व्यवस्था और आवश्यकता के अनुसार नये मूल्यों का उन्मेष करता है। इसलिए 'नया' कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं होता। हर युग का अपना 'नया' होता है, हर कलाकार का, यदि वह कलाकार है तो, अपना 'नया' होता है। मगर इस नये के पीछे व्यक्ति की और समाज की एक दीर्घ परम्परा होती है और उस परम्परा से कटकर कोई 'नया' स्थायी नहीं हुआ करता।

नयी आलोचना या रूपात्मक आलोचना के लिए मूल प्रश्न है रूप और सामग्री के सम्बन्ध का। हिन्दी की तथाकथित 'नयी आलोचना' में यह सवाल पूरी गम्भीरता से उठाया ही नहीं गया।

इस सवाल पर विचार करने के लिए बहुत गहराई में उतरने की आवश्यकता है। दर्शन में इस प्रश्न पर आरम्भ से ही विवाद होता रहा है। उस सारे विवाद को समझे बिना इस सवाल का कोई उत्तर ढूँढ पाना सम्भव नहीं है। ज़ाहिर है यह एक बहुत मुश्किल काम है। मगर मुश्किल काम भी तो करने ही चाहिए।

काव्य के दो पक्ष हैं—एक सामग्री, दूसरा रूप। जो रूप का महत्त्व अधिक मानते हैं उन्हें पहले यह स्पष्ट करना चाहिए कि रूप का अर्थ क्या है ? और उसे स्पष्ट करने के लिए सामग्री और रूप के सम्बन्ध के सूक्ष्म एवं जटिल प्रश्न पर विचार करना होगा।

जहाँ तक रचना का सवाल है, रूप सामग्री की योजना का फल है। काव्य की सामग्री द्विविध है—भाषा और जीवन। वास्तव में ये दोनों तत्त्व सम्बद्ध हैं मगर सुविधा के लिए दोनों पर अलग-अलग विचार किया जा सकता है। अतः कोई भी रचना भाषा और जीवन की, कथन और कथ्य की समन्वित योजना है। इससे स्पष्ट है कि काव्य के रूप के अन्तर्गत केवल भाषा ही नहीं जीवन या कथ्य भी निश्चित रूप से आता है। रूप के किसी भी विवेचन में सामग्री की उपेक्षा नहीं हो सकती।

एक उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है। सुविधा को ध्यान में रखते हुए वास्तुकला की एक मिसाल ली जा सकती है।

ताजमहल का अपना एक रूप है, एक योजना है। और पत्थर और विशेषतः संगमरमर उसकी सामग्री है। ताजमहल का रूप उस सामग्री की ही समन्वित योजना है। अगर उससे भिन्न सामग्री का उपयोग किया गया होता तो क्या उसका महत्त्व वही रहता जो आज है? यदि वह लाल पत्थर या काले पत्थर का बना होता तो क्या उसका रूप वैसा ही आकर्षक होता जैसा आज है? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। सामग्री बदलने से उसके रूप का आकर्षण ही बदल जाता।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि रूप की सामग्री के अभाव में कोई सत्ता ही नहीं है। रूप एक कल्पना है, एक नक्शा है। और वह कल्पना या नक्शा बिना सामग्री के भी बनाया जा सकता है। मगर ऐसा उन्हीं कलाओं में सम्भव है जिनकी सामग्री स्थूल है। वास्तुकला के उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

मगर क्या बिना रेखाओं के चित्र की कल्पना हो सकती है? क्या बिना स्वरों के राग की कल्पना हो सकती है? क्या बिना शब्द के काव्य की कल्पना हो सकती है?

और जब हम काव्य के लिए शब्द को अनिवार्य मानते हैं तो भाव, विचार या संवेदन तो अपने-आप ही अनिवार्य बन जाते हैं क्योंकि शब्द केवल वर्णों का समूह ही नहीं होता, वरन् अर्थ से संपृक्त होता है। यह अर्थ शब्द के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ होता है। यही कारण है कि काव्य-रूप की सामग्री केवल शब्द ही नहीं अर्थ भी है। दोनों का समन्वित रूप ही साहित्य है। इस दृष्टि से भामह की परिभाषा पहली होती हुई भी अन्तिम है क्योंकि वही काव्य की अकेली ऐसी परिभाषा है जो सही कही जा सकती है।

जब शब्दार्थ काव्य की सामग्री हैं और बिना इनके काव्य के रूप की कल्पना सम्भव नहीं है तो फिर काव्य के रूप के महत्त्व में इन दोनों का स्थान निश्चित रूप से स्पष्ट है।

रूपवान सामग्री ही रचना है। काव्य में अकेले रूप की तो सत्ता ही नहीं है। मगर केवल सामग्री भी रचना नहीं है। इसलिए जब सामग्री को विशिष्ट रूप प्रदान किया जाता है तभी रचना का जन्म होता है। रूप के विवेचन में सामग्री तो अन्तरंग ही है। यहाँ हमारा अभिप्राय भाषा से भी है।

भाषा बाह्य पक्ष या बहिरंग तत्त्व नहीं है। जो ऐसा समझते हैं वे काव्य को ठीक तरह समझ ही नहीं सकते। भाषा भी उतनी ही अन्तरंग है जितना कि विषय या कथ्य। भाषा का एक-एक अलंकार शब्द, शब्द की ध्वनि, वर्णों का क्रम सभी काव्य के समान रूप से अन्तरंग तत्त्व हैं। उनका उस काव्य रूप के साथ उतना ही अनिवार्य तथा अभिन्न सम्बन्ध है जितना कि किसी भी अन्य तत्त्व का हो सकता है।

रचना में सामग्री और रूप दोनों अखण्ड रूप से सम्बद्ध होते हैं। व्याव-हारिक उपयोगिता के लिए वैचारिक धरातल पर ही उनका विवेचन अलग-अलग किया जाता है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये दोनों तत्त्व अलग-अलग हैं।

कलाकार की शक्ति ही सामग्री को रूप प्रदान करती है। उन कलाओं में जहाँ सामग्री स्थूल है—जैसे वास्तुकला या मूर्तिकला—रूप-विधान सामग्री से अलग भी किया जा सकता है और सामग्री को रूप प्रदान करने में कई सहायकों को नियुक्त किया जा सकता है। मगर अन्य कलाओं में ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ तो रूप सामग्री से अभिन्न रूप में सम्बद्ध है। ये सूक्ष्म कलाएँ कही जा सकती हैं।

कवि अपनी शक्ति द्वारा ही सामग्री को विशिष्ट रूप प्रदान करता है। यह स्पष्ट है कि कवि के मन में एक-सी सामग्री ही अनेक रूपों में उदित होती है मगर वह उन विविध रूपों में से किसी एक को ही स्वीकार करता है और जब तक रचना पूरी नहीं हो जाती तब तक सामग्री रूप के साँचे में ढलती रहती है। वह रीति जिसके द्वारा सामग्री रूप ग्रहण करती है शिल्प-विधि कही जाती है। शिल्प-विधि का आधार रचनाकार की शक्ति हुआ करती है। निर्मित रचना के वस्तुगत अध्ययन की विशेषताओं को शिल्प कह दिया जाता है। शिल्प-विधि के अन्तर्गत रचना की निर्मिति से पूर्व तक का सम्पूर्ण व्यापार आ जाता है। और इस व्यापार से उत्पन्न गुण-दोषों का विवेचन शिल्प के अध्ययन का विषय है।

रूपात्मक आलोचना कोई बिलकुल नयी आलोचना-धारा नहीं है। जहाँ-जहाँ रूप शास्त्र का केन्द्र रहा है वहीं रूपात्मक आलोचना के तत्त्व लक्षित होते हैं। इधर पाश्चात्य और भारतीय नयी आलोचना या रूपात्मक आलोचना ने कला के रूप के महत्त्व पर ध्यान केन्द्रित किया है। अतः इसकी उपयोगिता

निर्विवाद है। मगर हिन्दी में रूपात्मक आलोचना या नयी आलोचना को जैसा ठोस और गम्भीर रूप प्राप्त होना चाहिए था, नहीं हुआ। इसके लिए विशेष गम्भीरता, व्यापक पांडित्य और सबसे बढ़कर मौलिक चिन्तन की अपेक्षा है।

(च) प्रभाववादी आलोचना

साहित्य के आस्वादात्मक अध्ययन की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है। एक रूप विश्लेषण-प्रधान है, दूसरा भावाभिव्यक्ति-प्रधान। विश्लेषण-प्रधान आस्वादात्मक आलोचना में आलोचक आस्वाद की प्रक्रिया, उसके स्वरूप एवं उपयोगिता आदि पर विचार करता है। यह काव्यशास्त्र के क्षेत्र की बात है। रस, सौन्दर्य आदि का सैद्धान्तिक विवेचन इस रूप के अन्तर्गत आता है। इसका स्पष्टीकरण काव्यशास्त्र के स्वरूप के विवेचन के अन्तर्गत किया गया है।

आस्वादात्मक आलोचना का दूसरा रूप प्रभाववादी आलोचना कहलाता है। सच तो यह है कि प्रभाववादी रूप के लिए आलोचना शब्द का प्रयोग भी व्यापक अर्थ में होता है। इस व्यापक अर्थ में तो यह शब्द व्याख्या, काव्यशास्त्र, सांस्कृतिक आलोचना और प्रभाववादी आलोचना सभी को समेट लेता है। मगर सीमित रूप में आलोचना शब्द का प्रयोग रचनात्मक आलोचना और सांस्कृतिक आलोचना के लिए ही होना चाहिए।

प्रभाववादी आलोचना में लेखक का ध्यान कृति पर नहीं, कृति के प्रभाव पर रहता है। वह पाठक के रूप में रचना को पढ़ता है या देखता है और उसके मन में जो अनुभूति होती है उसी की अभिव्यक्ति करता है। वह रचना के गुण-दोषों का विवेचन नहीं करता। केवल उसके प्रभाव की अभिव्यक्ति करता है और इस रूप में करता है कि जो अनुभूति उसके मन में पैदा हुई है वही अनुभूति उसकी आलोचना के पाठक के मन में भी हो। इस प्रकार प्रभाववादी आलोचना में प्रभाव के संप्रेषण के लिए उसको व्यंजित किया जाता है।

इस कार्य में सबसे पहली बात तो यह है कि प्रभाववादी आलोचना मूल रूप में एक व्यक्तिवादी आलोचना है क्योंकि उसमें एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया का भाव-विभोर प्रकाशन रहता है। रचना का प्रभाव किसी व्यक्ति पर क्या पड़ेगा यह केवल रचना पर ही निर्भर नहीं करता वरन् पाठक के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है, पाठक और रचनाकार के सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। अगर रचना का विषय आलोचक के अनुकूल है, यदि रचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर आलोचक की आस्था है तो वह उसकी मुग्ध प्रशंसा करेगा ही। यदि ऐसा नहीं है तो स्थिति भिन्न ही होगी।

प्रभाववादी आलोचना प्रायः प्रशंसात्मक होती है। प्रायः यह होता है कि जब आलोचक पर रचना का अनुकूल गम्भीर प्रभाव पड़ता है तभी वह उसको व्यंजित करने का प्रयास करता है। यदि किसी रचना का प्रभाव ही नहीं

होता, या गम्भीर और अनुकूल प्रभाव नहीं होता, तो फिर वहाँ प्रभाववादी आलोचना का सवाल ही नहीं होता।

आलोचना के इस रूप में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से रचना के गुण-दोषों का विवेचन नहीं होता, फिर भी प्रकारान्तर से रचना के स्वरूप के बारे में एक सामान्य जानकारी तो हो ही जाती है। क्योंकि आलोचक प्रभाव को व्यंजित करते समय उन तत्त्वों का संकेत या संक्षिप्त वर्णन तो करता ही है जिन्होंने इसे गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। इसलिए इन संकेतों के आधार पर रचना के गुणों का ज्ञान हो जाता है।

इसी रीति से रचना की सीमाओं की जानकारी हो जाती है। प्रभाववादी आलोचक भी कहीं-कहीं उन प्रसंगों का या उक्तियों का उल्लेख करता है जिनसे प्रभाव की गम्भीरता में कमी आ जाती है। कहीं-कहीं वह रचनात्मक सुझावों का संकेत भी करता है जिनका प्रयोग करने से रचना की प्रभाव-शक्ति को तीव्र बनाया जा सकता था। लेकिन ऐसा प्रायः विरल ही होता है। प्रधान रूप प्रशंसात्मक ही रहता है।

गुणों और सीमाओं की जानकारी के लिए रचना के साथ-साथ आलोचक के व्यक्तित्व का ज्ञान भी अनिवार्य है। क्योंकि उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही वह प्रभाव ग्रहण करता है। प्रायः आलोचक और रचनाकार की प्रवृत्ति एवं रुचि एक-सी होती है। तभी आलोचक रचनाकार के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है और रचना की भावधारा या चिन्तनधारा में बहने लगता है।

आलोचक की प्रतिक्रिया में भावुकता की प्रधानता होती है। सच तो यह है कि प्रभाववादी आलोचक बनने के लिए व्यक्ति को भावुक होना ही चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि प्रायः भाव-प्रधान रचनाओं की ही प्रभाववादी आलोचना दिखायी देती है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे रचनाएँ जिनमें बौद्धिकता का तत्त्व भी प्रखर रूप से व्यक्त हुआ है, प्रभाववादी आलोचना का विषय नहीं बन सकतीं। लेकिन ऐसी रचनाओं में भी प्रभाववादी आलोचक उन्हीं अंशों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है जो भावपूर्ण हैं। शुष्क-नीरस विवेचन मात्र से ही वह प्रतिक्रिया नहीं हो सकती जो प्रभाववादी आलोचना को प्रेरित करे।

प्रभाववादी आलोचना एक दृष्टि से रचना के समकक्ष है। रचनाकार प्रकृति से प्रभावित होता है और प्रकृति के प्रभावित करने वाले रूप को तथा उसके प्रभाव को इस रूप में व्यक्त करता है कि सामाजिक भी रचनाकार के भाव की अनुभूति को ग्रहण कर सके। यदि रचना अनुभूति के संप्रेषण में समर्थ होती है तभी वह सफल रचना मानी जाती है। यही रीति प्रभाववादी आलोचना

की भी होती है। प्रभाववादी आलोचक भी प्रभाव के संप्रेषण का प्रयास करता है। इस प्रकार यह आलोचना भी रचना का रूप ग्रहण कर लेती है।

लेकिन एक दृष्टि से रचना और प्रभाववादी आलोचना में अन्तर भी है। रचनाकार के सामने अनन्त जीवन है, अनन्त विचार, अनुभव और घटनाएँ हैं। वह उनमें से कुछ विशिष्ट अनुभवों आदि का चयन करता है और उन्हें रचना में मूर्तिमान करता है। चयन का कार्य कला का एक अनिवार्य महत्त्व-पूर्ण कार्य है। रचना की सफलता उस चयन के विवेक पर ही निर्भर करती है। कलाकार में एक स्वाभाविक शक्ति होती है जिसके द्वारा वह उन्हीं घटनाओं आदि का चयन करता है जो प्रभावशाली बनायी जा सकती हैं। इसके बाद उसका शिल्प कार्यशील होता है और उन घटनाओं आदि को वह प्रभावशाली रूप प्रदान करता है जो काम्य है। इस प्रकार रचनाकार का कार्यक्षेत्र समस्त जीवन है। मगर प्रभाववादी आलोचक की दृष्टि का केन्द्र तो रचना ही होती है। वह जीवन से नहीं रचना से प्रेरणा लेता है। उसके सामने एक अस्पष्ट, जटिल, उलझी हुई यथार्थ सृष्टि नहीं होती। इसलिए उस पर चयन का दायित्व नहीं होता। यह कार्य तो रचनाकार इसके लिए पहले से ही कर देता है। उसके सामने तो एक विशिष्ट कलाकृति होती है और यही उसके कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करती है। उसे जीवन से रस नहीं ग्रहण करना पड़ता। कलाकार की कला उस तक रस प्रेषित करती है। इस दृष्टि से उसका कार्य क्रियात्मक कम और प्रतिक्रियात्मक अधिक होता है। उसे अगर चयन करना भी पड़ता है तो रचना के भीतर से ही। और यह कार्य कलाकार की शक्ति तथा अपनी रुचि के सहयोग से सहज स्वाभाविक रूप से ही हो जाता है।

यह तो हुआ प्रभाववादी आलोचना का एक पक्ष जो प्रतिक्रियात्मक अधिक है। दूसरा पक्ष क्रियात्मक है और इस दृष्टि से प्रभाववादी आलोचक कलाकार का-सा कार्य करता है।

अनुभूति के ग्रहण करने में तो प्रभाववादी आलोचक रचनाकार से भिन्न स्थिति में है। मगर जहाँ तक उसकी अभिव्यक्ति का सवाल है दोनों की साधना समान है। कोई चाहे तो उसे एक स्तर की साधना भी कह सकता है। मगर जिस अन्तर का संकेत किया गया है वह महत्त्वपूर्ण है।

प्रभाववादी आलोचक अधूरा कलाकार है। कलाकार जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर उसे रूप प्रदान करता है और इसमें कथ्य के चयन का काम कौशल की अपेक्षा करता है। प्रभाववादी आलोचक को यह काम नहीं करना होता। वह कलाकृति से बने-सँवरे रूपों और प्रभावों को प्राप्त करता है। लेकिन अपने-अपने प्रभावों की अभिव्यक्ति में, उनके संप्रेषण में दोनों का कार्य समान

है। दोनों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनकी अनुभूति सामाजिक तक संप्रेषित होती है या नहीं।

ऐसा तो अकसर होता है कि व्याख्या या आलोचना करते-करते व्याख्याकार या लेखक कहीं-कहीं रचना की भावधारा में बह जाता है और उसी भावानुभूति को व्यक्त करने लगता है। सभी प्रकार की आलोचनाओं में ऐसे स्थल मिल जाते हैं। ये सभी स्थल प्रभाववादी आलोचना के अन्तर्गत ही माने जाएँगे।

यह सवाल किया जा सकता है कि जब सामाजिक मूल रचना से ही प्रभाव ग्रहण कर सकता है तो फिर प्रभाववादी आलोचना की उपयोगिता क्या है? उसकी स्थिति की संगति किस बात में है?

यह तो सही है कि सामाजिक मूल रचना से ही प्रभाव ग्रहण करता है। और अधिकांश सामाजिक इसी रीति को अपनाना चाहेंगे। मगर प्रभाववादी आलोचना की उपयोगिता पर विचार करते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात याद रखनी चाहिए। भारतवर्ष में वैसे ही शिक्षितों की संख्या बहुत कम है। और शिक्षितों में से भी बहुत से अर्ध-शिक्षित होते हैं। इसका उत्तरदायित्व उन व्यक्तियों पर नहीं होता। यह तो शिक्षा-पद्धति और इस पद्धति के प्रशासकों की मेहरबानी है जो शिक्षा का मतलब समझे बिना ऊटपटांग शिक्षा की योजनाएँ बनाया करते हैं। आज़ादी के अठारहवें वर्ष में भी वही पुरानी गुलामी की शिक्षा दी जा रही है और ऐसा सोचने की कोई वजह नज़र नहीं आती कि भविष्य में हमारी शिक्षा-पद्धति में कोई सुधार होगा। इस सबका नतीजा यह हुआ कि हमारे यहाँ साहित्य के पाठकों की परम्परा बनी ही नहीं। साहित्य का अध्ययन या तो विद्यार्थी करते हैं और या फिर कुछ शौक़ीन लोग। इसलिए जहाँ तक समाज का सवाल है वह तो साहित्य को सही रूप में और सही उद्देश्य से पढ़ता ही नहीं है। अगर साहित्य के अध्ययन की यह अवस्था है तो आलोचना चाहे वह प्रभाववादी ही हो—पढ़ने की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती। ऐसी परिस्थितियों में प्रभाववादी आलोचना की कोई ख़ास उपयोगिता भी नहीं है। यही कारण है कि हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हुआ।

मगर उन देशों में जहाँ समाज में साहित्य के अध्ययन की व्यापक रुचि है, वहाँ प्रभाववादी आलोचना के लिए भी अवकाश है और उसकी उपयोगिता भी है। यह तो सही है कि वहाँ का व्यक्ति भी सीधे मूल रचना को ही पढ़ना चाहेगा मगर उसके साथ-साथ रचना के महत्त्व के अनुरूप उस पर की गयी आलोचना भी पढ़ना चाहेगा और इस स्थिति में आलोचना के सभी रूप व्यापक तौर पर उपयोगी हो उठते हैं।

एक बात और। प्रभाववादी आलोचक और सामान्य पाठक में साहित्य के पठन की योग्यता का निश्चित अन्तर होता है। इसलिए प्रभाववादी आलोचक जिस रूप में रचना से प्रभावित होता है, उस रूप में सामान्य पाठक के प्रभावित होने की सम्भावना कम है। कारण यह है कि आलोचक रचना की बारीकियों को समझता है, वह भाषा के अन्दाज़ को जानता है और इसलिए वह रचना के मर्म तक पहुँचने में समर्थ होता है। सामान्य पाठक को प्रभाववादी आलोचना से यही लाभ हो सकता है कि वह उन बारीकियों का आस्वाद भी कर सके जो अलग से उसकी पकड़ में नहीं आतीं।

यह कहा जा सकता है कि सफल रचना तो अनुभूति को संप्रेषित करती ही है। इसलिए पाठक चाहे सामान्य हो चाहे विशिष्ट, रचना की अनुभूति को ग्रहण तो करेगा ही। फिर प्रभाववादी आलोचना की क्या विशेषता रही ?

यह तो ठीक है कि सफल रचना सामान्य पाठक को भी प्रभावित करती है। लेकिन रचना की शक्ति के साथ-साथ पाठक की भावना भी अपेक्षित होती है। काव्य के आस्वाद की सामर्थ्य सभी में समान रूप से नहीं होती। जिनमें यह शक्ति जितनी अधिक विकसित होती है वे उतनी ही सहजता और गम्भीरता के साथ रचना से प्रभाव ग्रहण करते हैं। और यदि वे इस प्रभाव को सफल अभिव्यक्ति देने में समर्थ होते हैं तो उनके लेखों से सामाजिक को लाभ होता है।

प्रभाववादी आलोचना का मूल्यांकन करते हुए बुनियादी सवाल यह पैदा होता है कि साहित्य में प्रभाव का महत्त्व क्या है ?

जैसे कि पहले कहा जा चुका है यहाँ प्रभाव प्रधान रूप से भावात्मक ही होता है। यद्यपि वह विचार एवं आदर्श से भी निसृत होता है; मगर उसका स्वरूप भावात्मक ही होता है। इससे यह साबित होता है कि जो विचारक साहित्य में भाव को महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं उनके लिए प्रभाववादी आलोचना का मूल्य अधिक होगा और जो लेखक भाव को महत्त्व नहीं देते वे प्रभाववादी आलोचना का विरोध ही करेंगे।

प्रभाव का उल्लेख करते ही सामाजिक की सत्ता की स्वीकृति हो जाती है। यह तो स्पष्ट है कि सामाजिक रचना से प्रभावित होता है। मगर इस प्रभाव के महत्त्व को लेकर विवाद है। कुछ विचारक इस प्रभाव को ही रचना का मान मानते हैं और कुछ व्यक्ति रचना के मूल्यांकन में प्रभाव का उल्लेख करना अनावश्यक समझते हैं। इनकी दृष्टि में रचना का मूल्य उसके रूपगत वैशिष्ट्य या उसके शिल्प पर निर्भर करता है, उसके प्रभाव पर नहीं। इस स्थिति की परिणति उस असंगति में होती है जहाँ प्रभाव और अर्थ की अन्विति का भी तिरस्कार किया जाने लगता है और इस स्थिति को कला की

उच्चता का लक्षण माना जाता है। अगर किसी रचना में अर्थ की अन्विति न हो, प्रभाव जटिल हो, आशय अस्पष्ट एवं संदिग्ध हो और विचारों में उलझाव हो, तो इन कारणों से उस रचना की कोई हानि नहीं होती। दरअसल यह मत, अगर उसे मत कहा जाय तो अपनी विलक्षणता में भ्रमित है।

लेकिन प्रभाव को रस-चर्वणा तक सीमित भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि पहली बात तो यह है कि रस-चर्वणा स्वयं एक रहस्यात्मक अवधारणा है जिसकी स्वीकृति आज के चिन्तक के लिए सम्भव ही नहीं है। सच तो यह है कि सामाजिक प्रणय आदि के प्रसंगों से ही प्रभावित नहीं होता वरन् सिद्धान्तों और आदर्शों की निष्ठा से भी प्रभावित होता है। यह दूसरे प्रकार का प्रभाव आज के युग के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना पहले प्रकार का प्रभाव। एक दृष्टि से उसका प्रभाव पहले प्रकार के प्रभाव से अधिक है। आज मानव जिस सांस्कृतिक विकास की ओर अग्रसर हो रहा है, और जिस संकट से गुज़र रहा है, उसमें द्वितीय प्रकार का प्रभाव ही अधिक मूल्यवान है।

प्रभाव के भाव और विचार दोनों का ही संश्लेष होता है। इस बात पर विस्तार से विचार करने की ज़रूरत है।

व्यापक अर्थ में प्रभाव से हमारा अभिप्राय सामाजिक की समग्र प्रतिक्रिया से है जिसमें भाव—स्थायी अथवा क्षणिक—और विचार सभी सम्मिलित हैं। रचना में जब किसी भाव-विशेष की अभिव्यक्ति होती है तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सामाजिक में अनुकूल या प्रतिकूल भाव उदित होता है। इसी प्रकार रचना में व्यक्त विचार की प्रतिक्रिया भी होती है। यह प्रतिक्रिया विविध रूप धारण करती है। कभी-कभी तो वह विचार व्यक्ति में अनुकूल-प्रतिकूल विचारों की पूरी शृंखला का प्रतिवर्तन करता है और सामाजिक अपनी योग्यता के अनुसार विविध विचारों में से किसी एक को स्वीकार्य मानता है। इस प्रकार वह रचना के कुछ विचारों को स्वीकार करता है और कुछ को अस्वीकार करता है। इन दोनों प्रकार के विचारों के प्रति उसमें कोई-न-कोई भाव या प्रवृत्ति होती है। स्वीकृत विचार पर आस्था होती है, राग होता है और अस्वीकृत विचार से विराग होता है, उसमें अनासक्ति होती है। इस प्रकार यद्यपि विचार का अपना एक विशुद्ध रूप भी होता है जिसमें वह केवल विचार है। वह विचार तथ्य है। मगर जब विचार व्यक्ति के—साहित्यकार या पाठक के—सम्पर्क में आता है तो उसमें एक अन्य तत्त्व भी मिल जाता है। यह तत्त्व है व्यक्ति की आस्था या अनास्था, आसक्ति या अनासक्ति। जीवन में या साहित्य में जो विचार दिखायी देता है वह इन दोनों में से किसी एक वृत्ति से युक्त होता है।

यह कहा जा सकता है कि विचार के प्रति एक तीसरी प्रवृत्ति भी हो

सकती है जिसे तटस्थता कहा जाता है। मगर यह वृत्ति विचार को विशुद्ध विचार रूप में ही देखती है और इस रूप में विचार जीवन या साहित्य का विषय नहीं हो सकता। किसी विषय या समस्या के प्रति तो तटस्थ रहकर विचार किया जा सकता है। जहाँ दो पक्ष हों वहाँ एक तीसरा पक्ष तटस्थता का भी हो सकता है। इसके दो मतलब हैं। एक तो यह कि तटस्थ व्यक्ति उन दोनों पक्षों की उपेक्षा करता हुआ अपने-आप में मगन रहे। यह निष्क्रिय तटस्थता है। तटस्थता का दूसरा रूप वह है जहाँ व्यक्ति दोनों पक्षों को निष्पक्ष रूप से समझता है और फिर संघर्ष को दूर करने के लिए कोई एक रास्ता निश्चित करता है। यह सक्रिय तटस्थता है।

अगर ध्यान से देखा जाय तो सक्रिय तटस्थता में भी व्यक्ति में पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से दोनों पक्षों की ओर कोई-न-कोई प्रवृत्ति होती है। यहाँ तटस्थता के तीन चरण हैं—पहला, प्रथम पक्ष के साथ तादात्म्य करके उसे समझना; दूसरा, द्वितीय पक्ष के साथ तादात्म्य करके उसे समझना; और तीसरा, दोनों को उस प्रकार समझकर फिर कोई रुख अपनाना। इससे यह स्पष्ट है कि सक्रिय तटस्थता भी अन्त में किसी-न-किसी प्रवृत्ति को अपनाती है। यदि साहित्य में कभी विचार या विवेचन की तटस्थता की बात की जाती है तो उसका यही अभिप्राय होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य के प्रभाव के अन्तर्गत भाव और विचार का संश्लेष रहता है। होता यह है कि प्रसंगानुसार कहीं भाव की प्रबलता होती है और कहीं विचार की। सामाजिक की प्रतिक्रिया में भी यही दोनों रूप दिखायी देते हैं।

प्रभाववादी आलोचना में भाव या विचार दोनों के प्रति उदित मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन होता है। लेकिन विचार की भी आस्थापूर्ण प्रतिक्रिया का चित्रण लेने के कारण वह भी अनुभूतिपूर्ण हो जाता है।

(छ) सांस्कृतिक आलोचना

सांस्कृतिक आलोचना समीक्षा का वह श्रेष्ठ रूप है जो जीवन के मूल तत्त्व संस्कृति पर केन्द्रित है। यह साहित्य के दायरे के भीतर बँधी नहीं रहती। जो साहित्य का भी सूक्ष्मतर आधारभूत तत्त्व है वही उसका भी आधार है। यही कारण है कि हमारे विचार में यही आलोचना का सबसे उत्कृष्ट रूप है और इसके लिए वैसी ही प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है जो श्रेष्ठ कला का प्रवर्तन करती है।

सांस्कृतिक आलोचना नाम से यह सन्देह हो सकता है कि यह केवल संस्कृति की आलोचना है और इसलिए कला की आलोचना नहीं हो सकती और इसीलिए उसे आलोचना के भीतर स्थान ही नहीं दिया जा सकता।

मगर यह सन्देह निराधार है और स्वयं भ्रम पर आधारित है। यहाँ मूल बात तो है संस्कृति का रूप। संस्कृति के सही रूप को समझने के बाद सांस्कृतिक आलोचना का स्वरूप और महत्त्व स्पष्ट हो जाएगा।

संस्कृति और सभ्यता की व्याख्या बड़े विवाद का विषय रहा है और इस सम्बन्ध में तरह-तरह के मत दिखायी देते हैं। इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि संस्कृति के सही रूप को समझा जाय।

संस्कृति मानव-जीवन का व्यापक धर्म है जो समाज में परम्परा-रूप में और व्यक्ति में अर्जित-रूप में रहता है। व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और युगीन व्यवस्था से करता है। किसी भी समाज की विशेषताओं की समष्टि को संस्कृति कहते हैं, उसकी सम्पूर्ण साधना, सारी उपलब्धियाँ और सभी सीमाएँ संस्कृति के भीतर समाहित होती हैं। इसलिए संस्कृति के शुभ और अशुभ दोनों ही पक्ष होते हैं।

आदिम-युग में जब मानव रूप का उदय हुआ ही होगा तब भी एक स्थान पर रहने वाले इस प्राणी-समूह की कुछ विशेषताएँ रही होंगी। ये विशेषताएँ क्या थीं यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। मगर जैसे-जैसे मानव-जाति का विकास हुआ, उसमें सजगता की वृद्धि हुई, सोचने-विचारने और बोलने की आदिम शक्ति विकसित हुई वैसे ही उसकी संस्कृति का रूप भी बदलता रहा। कहने का मतलब यह है कि किसी भी युग की मानव-जाति की अपनी एक संस्कृति—जीवनगत विशेषताओं की समष्टि रही होगी। इस समष्टि में गुण और दोष दोनों ही शामिल हैं।

यह तो हुआ युगीन संस्कृति का रूप। लेकिन मानव-संस्कृति का एक रूप यह भी है जो युगों के बन्धन से परे है। यह वह जीवन-धारा है जो आदिम-युग से विकसित होती आ रही है। प्रमाण और ज्ञान की सीमा के कारण हम उसके आरम्भिक रूप का सही-सही निश्चय नहीं कर सके हैं, लेकिन अनुमान और तर्क के आधार पर इस विषय में बहुत-कुछ कहा गया है। लेकिन निश्चित वैज्ञानिक रूप से संस्कृति का व्यापक अध्ययन वहीं से शुरू होता है जहाँ से साहित्य मिलना आरम्भ होता है।

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। और वास्तव में इस साहित्य का रूप भी व्यापक और मिला-जुला है। प्राचीन साहित्य प्रधान रूप से धर्मात्मक और रहस्यात्मक है। उसमें अनेक विषय—दर्शन, नैतिकता, सामाजिकता, काव्य आदि—का समावेश है। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जो काव्य-गुणों से युक्त हैं। इस बात को लेकर कोई भी भेद नहीं है।

वैदिक साहित्य की रचना विविध ऋषियों द्वारा अलग-अलग समय में एवं

स्थान पर हुई है। वे ऋषि जिन्होंने ऊषा-सूक्त जैसी रचनाएँ लिखी हैं आरम्भिक कवि माने जा सकते हैं। उन कवि-ऋषियों के काव्य भी तत्कालीन सांस्कृतिक साधना के अभिन्न अंग रहे और जीवन के समस्त रूप को प्रकाशित करने वाले ग्रन्थों में उनका समावेश भी किया गया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में काव्य सांस्कृतिक साधना के अंग रूप में स्वीकार किया जाता था। उसे समस्त जीवन की साधना की उपलब्धियों में से एक उपलब्धि माना जाता था। यह कहा जा सकता है कि उस काल में विवेचन शक्ति का वह विश्लेषण-प्रधान रूप उदित नहीं हुआ था जो इन सभी साधनाओं को—दर्शन, धर्म, नीति, काव्य के रूप में मूर्तिमान साधनाओं को अलग-अलग देख-दिखा सके। लेकिन अगर मान लिया जाय कि उस युग में विश्लेषण की ऐसी शक्ति होती और ऊषा-सूक्त जैसी रचनाओं को अलग काव्य-रूप में सम्पादित किया जाता तो क्या इस 'काव्य-रूप' से तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का ज्ञान नहीं होता? तब क्या इस 'काव्य-रूप' को सांस्कृतिक साधना का विशिष्ट रूप मानने में कोई आपत्ति पैदा हो जाती?

स्पष्ट है कि ऐसा नहीं होता। उस स्थिति में भी उन रचनाओं को तत्कालीन सांस्कृतिक साधना का ही एक रूप माना जाता।

सांस्कृतिक साधना को कितने ही विशिष्ट रूपों में क्यों न बाँटा जाय, चाहे प्रत्येक रूप का कितना ही विशिष्ट अध्ययन क्यों न किया जाय, यह मूल सत्य नहीं भुलाया जा सकता कि वे सभी उपलब्धियाँ विकासशील सांस्कृतिक साधना के ही विशिष्ट रूप हैं। संस्कृति के मूल धरातल पर सभी एक साथ ठहरे हुए हैं और सभी मिलकर प्रयासशील भी हैं।

यह एक बुनियादी सत्य है कि काव्य या कला सांस्कृतिक साधना का एक विशिष्ट रूप है। जन्म की दृष्टि से वह 'सांस्कृतिक साधना' पर स्थित है और सत्ता के लिए उस 'विशिष्ट रूप' पर। इन दोनों पक्षों में से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि ये दो पक्ष हैं ही नहीं। मूल रूप से परस्पर संपृक्त हैं। लेकिन विश्लेषक दृष्टि इनको अलग-अलग देखती है। ऐसा केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए वैचारिक धरातल पर ही किया जाता है। इससे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है।

मानव की साधना और उपलब्धि को हम दो दृष्टियों से देखा करते हैं। एक दृष्टि व्यक्तिवादी दृष्टि है, दूसरी समाजवादी। व्यक्तिवादी दृष्टि से अध्ययन करते हुए हम किसी व्यक्ति-विशेष की साधना और उसकी उपलब्धि पर विचार करते हैं। समाजवादी दृष्टि से विचार करते हुए हम पूरे समाज की साधना और उपलब्धि की व्याख्या-विवेचन करते हैं। दोनों दृष्टियाँ न तो

विरोधी हैं और न ही मूल रूप से भिन्न। एक स्तर ऐसा भी है जहाँ दोनों एक तथा समरस हो जाती हैं। यह स्तर सांस्कृतिक परम्परा का स्तर है।

संस्कृति युग-जीवन का व्यापक धर्म है। इसके कई पक्ष एवं अंग हैं। आज विशेषीकरण का युग है। प्रत्येक ज्ञान एवं उसकी प्रत्येक शाखा-प्रशाखा का विशेष अध्ययन हो रहा है। इससे ज्ञान की उन्नति में सहायता मिली है। विशेषज्ञों ने अपने-अपने क्षेत्र में नये आविष्कार किये हैं। प्रत्येक आविष्कार व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष की कृति होते हुए भी सामाजिक पक्ष रखता है। वह मानव मात्र के ज्ञान का विकास करता है, मानव मात्र के लिए उपयोगी या हानिकारक हो सकता है और इस प्रकार मानव-समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार वह आविष्कार व्यक्ति की सम्पत्ति होते हुए भी समाज की सम्पत्ति है। मूलवर्ती जीवन के व्यापक धरातल पर स्थित होकर स्थिति को समझने का प्रयास करने पर ही सच्चाई ज़ाहिर होती है।

विशेषीकरण की प्रवृत्ति से बहुत लाभ हुआ है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन इससे एक हानि भी हुई है। हमारे विकासशील समाज के लिए आरम्भ से ही उस हानि को जान लेना उपयोगी होगा। तभी उसके निराकरण की सम्भावना हो सकेगी।

हानि यह है कि व्यक्ति जीवन को काट-काटकर देखने का आदी होने लगता है। और ज्ञान की शाखाओं-प्रशाखों में इतना अधिक कार्य होता है कि एक व्यक्ति उनका आभास या अहसास भी नहीं कर सकता। मगर व्यापक एवं कुशाग्र दृष्टि के लिए इस खण्डता में भी अखण्डता का आभास पा लेना सम्भव है। यदि ऐसा न किया जाएगा तो जीवन को खण्ड-खण्ड कर देखने की प्रवृत्ति बढ़ती जाएगी और बजाय इसके कि समाज पूर्ण मानव को जन्म दे सके, एकांगी और असन्तुलित मन की रचना होने लगेगी।

यह खुशक़िस्मती की बात है कि सारे व्यक्तियों में इतनी योग्यता नहीं होती कि वे विशेषज्ञ बन सकें। इसका नतीजा यह होता है कि समाज में व्यक्तियों के दो वर्ग बन जाते हैं। एक सामान्य व्यक्ति का और दूसरा विशेषज्ञों का। सामान्य जनता की संख्या विशेषज्ञों की संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। और इस वर्ग के जीवन के सन्तुलित विकास के लिए विशेषज्ञों को सचेत रहने की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, यह भी ज़रूरी है कि जनता को भी निरन्तर सन्तुलन पर स्थित रहने के लिए संकेत देते रहने चाहिए।

जनता विशिष्ट शाखाओं की उपलब्धियों का उपयोग तो करती है मगर उनके महत्त्व को जीवन के व्यापक आंगन में रखकर नहीं परख सकती। यहीं हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो साधना की विशिष्ट धाराओं के मूल में स्थित सांस्कृतिक साधना की सत्ता को पूरी तरह समझते हों।

क्योंकि यही वे व्यक्ति हैं जो जनता में सन्तुलन स्थापित करने के लिए ज़िम्मेवार ठहराये जा सकते हैं। इन्हीं व्यक्तियों में साहित्यकारों, कलाकारों और सांस्कृतिक आलोचकों को स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि सभी के अपने-अपने क्षेत्र होते हैं, मगर सभी अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट रीतियों के द्वारा एक ही कार्य की सिद्धि का प्रयास करते हैं।

जीवन की अखण्डता वैचारिक धरातल पर भी सिद्ध की जा सकती है। भौतिक व्यवस्था द्वारा भी इसी अखण्डता की सिद्धि होती है। यह भौतिक व्यवस्था का ही फल है कि आज जीवन एवं साधना की अखण्डता का ज्ञान विशिष्ट न होकर एक लौकिक अनुभव बन गया है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवन और साधना की उसी अखण्डता में जीता और मरता है। चाहे व्यक्ति सजग रूप से जानता हो, या नहीं, व्यक्ति रहता तो इसी अखण्ड व्यवस्था में ही है। व्यक्ति के लिए यही यथार्थ है।

यथार्थ तो विशेषज्ञ का भी यही है। मगर जिस तरह सामान्य व्यक्ति अपनी अज्ञता के कारण इस यथार्थ को नहीं समझ पाता, उसी प्रकार विशेषज्ञ अपनी विशेषता के कारण उसे पकड़ पाने में असमर्थ रहता है। यह असमर्थता केवल ज्ञान-विज्ञान की धाराओं के विशेषज्ञ में ही नहीं दिखायी देती वरन् कलाकारों में भी दिखायी देती है।

इस असमर्थता का मूल होता है सीमित दृष्टि जो कि जीवन एवं साधना को उसकी व्यापकता और अखण्डता में नहीं देख सकती। सांस्कृतिक आलोचना का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह जीवन एवं साधना की व्यापक अखण्डता को समझ सके। इस दृष्टि से उसका महत्त्व ज्ञान, विज्ञान और कला के सभी साधकों से अधिक होता है।

दर्शन, धर्म, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, कला आदि सभी का सम्बन्ध जीवन से अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। कारण यह है कि सभी का जन्म जीवन से होता है, जीवन की साधना से होता है। इसी साधना को सांस्कृतिक साधना कहा गया है। क्योंकि व्यक्ति की यह साधना जीवन एवं संस्कृति के धरातल पर आधारित होती है, उसी धरातल पर कार्यशील होती है और उसी में विलीन हो जाती है।

यह सही है कि सांस्कृतिक साधना के उपर्युक्त सभी रूपों का साधक व्यक्ति विशेष और कभी-कभी विशेष हुआ करता है। जो लोग इस बात को बुनियादी सत्य मानते हैं वे भ्रम का प्रचार करते हैं। क्योंकि वे सच्चाई को पूरी तरह नहीं समझ सकते। सच्चाई का एक और गहरा स्तर भी है। यह स्तर समस्त जीवन एवं साधना का स्तर है। इसको समझना चाहिए। इसी को आधार बनाना चाहिए। तभी सन्तुलित चिन्तन का उदय हो सकता है।

जो आज व्यक्तिगत साधना के महत्त्व की बात कहते सुने जाते हैं, वे यदि जानदार हैं तो बिना जाने और बिना माने समस्त साधना को प्रभावित करते हैं। उनके लाख कहने पर भी इतिहास और समाज उन्हें व्यक्ति ही नहीं मानता, उन्हें समाज के अंग के रूप में देखता है और सांस्कृतिक धारा के भीतर रखकर ही उसे समझता है। व्यक्ति-साधना की सभी नदियाँ आखिर में सांस्कृतिक साधना के समुद्र में ही गिरती हैं। जो नदियाँ बीच में ही सूख जाएँ उनकी शक्ति और गहराई संदिग्ध है। लेकिन व्यक्ति-साधना बीच में नहीं सूखती। क्योंकि उसका जन्म भी संस्कृति के उसी समुद्र के भीतर से ही होता है।

सांस्कृतिक धारा के भीतर ही समष्टिवादी और व्यष्टिवादी चिन्तन की उपधाराएँ चलती हैं। इसलिए समष्टिवादी धारा तो व्यापक सांस्कृतिक धारा से सजग रूप से सम्बद्ध है लेकिन व्यष्टिवादी धारा भी सहज स्वाभाविक रूप से उससे संपृक्त होती है। इसे संस्कृति के जल की एक लहर समझना चाहिए जो उसी का एक रूप होते हुए भी उससे अलग दिखायी देती है। लेकिन यह अलगाव बुनियादी नहीं होता।

व्यक्ति क्या है? और व्यक्तिगत साधना क्या है?

व्यक्ति न तो आसमान से आता है, न पाताल से निकलता है। वह एक समाज के भीतर जन्म लेता है, उसी में विकसित होता है। इसलिए आरम्भ से ही वह सामाजिक परिवेश को सहज और फिर सजग रूप से आत्मसात करने लगता है। उसकी सांस्कृतिक परम्परा माता-पिता, स्कूल आदि की शिक्षा के द्वारा उसे प्राप्त होने लगती है। युगीन सांस्कृतिक जीवन से संघर्ष होने पर सजग व्यक्ति में विचार की चिनगारियाँ फूट निकलती हैं। युगीन सांस्कृतिक वातावरण उन विचारों का प्रेरक होता है। सांस्कृतिक परम्परा उसके व्यक्तित्व में पहले से ही घर किये रहती है। इस प्रकार व्यक्ति का आधार भी संस्कृति है और प्रेरक भी।

हरेक व्यक्ति की शक्ति की अपनी सीमा होती है। उसी के अनुरूप वह कार्य करती है। कुछ व्यक्ति परम्परागत संस्कृति की किसी एक धारा से अधिक प्रभावित होते हैं क्योंकि सम्भवतः उसी का विशिष्ट अध्ययन करते हैं। कुछ व्यक्ति युगीन सांस्कृतिक वातावरण में से एक सीमित पक्ष को ही अंगीकार करते हैं क्योंकि उनकी शक्ति और अनुभव उससे अधिक को वहन करने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार काव्य आदि कलाओं के क्षेत्र में व्यक्तिगत भेद दिखायी देने लगते हैं।

व्यक्ति पुरानी या युगीन परम्परा से कटा हुआ नहीं होता। यह सम्भव ही नहीं है। मानव का सामाजिक संगठन उसकी इजाजत ही नहीं देता। मगर

फिर भी ऐसे चिन्तक होते हैं जो परम्परा संकट का व्यक्तिवादी दर्शन को रूप देते हैं।

इसका कारण यह होता है कि वह व्यक्ति परम्परा और वातावरण से उन्हीं तत्त्वों को वहन करने की शक्ति और रुचि रखता है जो उसे व्यापक जीवन-साधना के धरातल तक नहीं पहुँचने देते। व्यक्तिवादी धारा का पोषक अकेला व्यक्ति होता है, मगर समाज में ऐसे 'अकेले व्यक्ति' बहुत-से होते हैं और 'अकेले व्यक्तियों' का भी एक समाज बन जाता है। यह समाज व्यक्ति-वादी धारा के प्रचार और पोष के स्तर पर मिलकर संगठित रूप से कार्य करता है। यही कारण है कि पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की घोषणा करने वाले भी गुट बनाये फिरते हैं। और यह स्थिति साहित्य-साधना में भी ज्यों-की-त्यों प्रतिबिम्बित होती है।

समाज में एक ही विचार का शासन न तो स्वीकार्य है, न काम्य। विचार-भेद ज़रूरी है। इसके बिना न तो जीवन की प्रगति होती है, न साहित्य की। इसलिए सांस्कृतिक साधना के विकास की कहानी असल में विचार-भेद की ही कहानी है।

लेकिन विचार-भेद एक तथ्य है, आदर्श नहीं। आदर्श तो एक ही हो सकता है। यही कारण है कि इस अनेक-रूप तथ्य में से साधक एक विचार को ग्रहण करता है और उसके अनुरूप ही साधना का विकास करता है।

लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिए। विचार की उपयोगिता जीवन के लिए है। जीवन की सत्ता को विचार के खूँटे से नहीं बाँधा जा सकता। असल बात तो है जीवन की प्रगति। इस प्रगति में सामाजिक सुख ही एक प्रधान लक्ष्य रहता है। यह एक ऐसी बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। और इस उद्देश्य को पाने के लिए वैचारिक धरातल के साथ-साथ ज़रूरत होती है, ईमानदार मेहनत की। बिना इस ईमानदारी के और मेहनत के अच्छे-से-अच्छा विचार भी बेकार साबित होता है।

विचार और यथार्थ के सम्बन्ध की समस्या एक बुनियादी समस्या है। कुछ लोग विचार से यथार्थ को नियन्त्रित मानते हैं और कुछ लोग विचार को यथार्थ से शासित मानते हैं।

मगर एक तीसरा तत्त्व भी है। यह तत्त्व है भाषा। इसकी ओर चिन्तकों का ध्यान नहीं गया। विचार के उदय में भाषा का कितना गहरा हाथ है यह एक सूक्ष्म मगर रोचक अध्ययन का विषय है।

भाषा में ऐसी शक्ति होती है कि वह कुछ ऐसी परिकल्पनाएँ पेश कर देती है जो यथार्थ नहीं होतीं। मगर उनकी यथार्थता की बात पर विचार किये बिना ही उन परिकल्पनाओं की बैसाखी पर चिन्तन आगे खिसकने

की कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि हवाई समस्याएँ पैदा होने लगती हैं।

भाषा का विश्लेषात्मक अध्ययन करने पर मालूम होता है कि अर्थ की दृष्टि से शब्द दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनका अर्थ ऐन्द्रीय होता है, दूसरे वे जिनका अर्थ अतीन्द्रिय होता है। प्रथम प्रकार के शब्दों को यथार्थ कहा जा सकता है और द्वितीय प्रकार के शब्दों को वैचारिक। यथार्थ शब्द वे हैं जिनका अर्थ इन्द्रिय-गम्य है और जहाँ अर्थ ऐन्द्रीय नहीं होता। अतीन्द्रिय अर्थ का उदय यथार्थ सृष्टि से नहीं तर्क से होता है। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' एक यथार्थ शब्द है और 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यता' एक वैचारिक शब्द है। 'मनुष्यता' का आधार 'मनुष्य' है मगर इन दो शब्दों के बीच केवल एक प्रत्यय का अन्तर नहीं है। दूसरा शब्द तो चिन्तन की अमूर्त गति का संकेत देता है और जब तक चिन्तन की यह शक्ति उदित नहीं हुई होगी, तब तक इस प्रकार वैचारिक शब्दों का उदय नहीं हुआ होगा।

यह तो वैचारिक शब्दों के बनने की एक प्रक्रिया है। एक दूसरी रीति भी है जो 'आकाश-कुसुम' जैसे प्रयोगों में दिखायी देती है। यहाँ आकाश भी यथार्थ है और कुसुम भी। मगर दोनों का संयोग एक मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है और इसलिए इस प्रयोग से जो अर्थ निकलता है वह अयथार्थ है।

प्रत्येक विकसित भाषा में दोनों प्रकार के शब्द होते हैं। मगर परेशानी वहाँ पैदा होती है जहाँ वैचारिक शब्दों को यथार्थवत् ग्रहण किया जाने लगता है अथवा जहाँ वाक्य या शब्द-योजना के आधार पर अर्थ की प्रतीति का प्रयास किया जाता है। निगमनात्मक तर्कशास्त्र में और शास्त्रार्थों में इस प्रकार के कई उदाहरण मिल जाते हैं। काण्ट ने जिन विरोधी तर्कों का उल्लेख किया है उससे वैचारिक शब्दों की सही सत्ता का ज्ञान होता है और इसके साथ ही वैचारिक शब्दों के प्रमाण में या आधार पर गतिशील तर्क-शक्ति की असमर्थता की भी सिद्धि होती है।

वैचारिक शब्दों के आधार पर कुछ दर्शनों की स्थापना का प्रयास किया गया है। मगर ये दर्शन यथार्थ से दुगने दूर होने के कारण बिलकुल दुर्बल और अयथार्थ हैं। पहली बात तो यह है कि वैचारिक शब्द स्वयं यथार्थ शब्दों के आधार पर बनी हुई अमूर्तताएँ हैं और इसलिए यथार्थ से दूर हैं। और वे दर्शन जो इन अमूर्त और वैचारिक शब्दों पर आधारित हैं यथार्थ से और भी दूर हो सकते हैं।

जब दर्शन की सूक्ष्मताओं का उन्मेष हुआ तब वैचारिक शब्दों के प्रयोग की बाढ़-सी आने लगी। भारतीय दर्शन के नव्य न्याय आदि की शब्दावली देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पश्चिम में दार्शनिक

तर्कशास्त्र में इसी वैचारिक रीति पर विचार करने का उपक्रम किया गया है। इन धाराओं के विद्वानों का विचार था कि वैचारिक शब्दों के प्रयोग से चिन्तन में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता आती है।

हम वैचारिक शब्दों के प्रयोग का विरोध नहीं करते। जब भी व्यक्ति चिन्तन की गहराइयों में उतरता है तो उसे इन वैचारिक शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। मगर उनका प्रयोग सावधानी एवं सन्तुलन के साथ ही होना चाहिए। प्रायः यह सावधानी और सन्तुलन अपेक्षित होता है।

साहित्यकार केवल एक रचनाकार ही नहीं होता वरन् एक चिन्तक भी होता है। बिना स्पष्ट गम्भीर चिन्तन के उसकी रचना का मूल्य कम हो जाता है। जिस साहित्यकार का चिन्तन जितना अधिक स्पष्ट और गम्भीर होगा वह उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए साहित्यकार के लिए यथार्थ और वैचारिक शब्दों का अन्तर स्पष्ट रूप से समझना अनिवार्य है। कारण यह है कि कोई विरला ही साहित्यकार होता है जो स्वयं चिन्तक भी होता है। प्रायः साहित्यकार चिन्तन की दृष्टि से परजीवी होते हैं। और यही कारण है कि इधर चिन्तन के क्षेत्र में जो विशुद्ध वैचारिक धरातल पर सिद्धान्त उठ खड़े हुए हैं उन्हें कुछ लेखकों ने सहज भाव से अपना लिया है। आवश्यकता इस बात की है कि उन सिद्धान्तों के विचार-पक्ष को पूरी तरह समझा जाय। सांस्कृतिक आलोचक की प्रधान विशेषता यही है कि वह चिन्तन के सभी रूपों एवं धाराओं को पूरी गहराई से समझने की योग्यता रखता है।

जीवन-साधना ही अनेक रूपों में व्यक्त होती है—यथार्थ रूपों में भी और वैचारिक रूपों में भी। सभी उपलब्धियों और रचनाओं का आधार यह सांस्कृतिक साधना ही है। सांस्कृतिक आलोचक का कार्य यह है कि वह सांस्कृतिक साधना के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही साहित्य आदि सभी उपलब्धियों का अध्ययन-मूल्यांकन करता है। वह कलाशास्त्री ही नहीं होता, जीवन-शास्त्री होता है और सही अर्थों में जीवनशास्त्री होता है। उसकी मेधा एवं प्रतिभा व्यापक अनेक-रूप विकासशील मानव-चेतना के यथार्थ रूप को सहज ही आविष्कृत कर लेती है और इसी व्यापक एवं ठोस स्तर पर वह साहित्य आदि सभी साधनाओं को रखकर देखता है।

आलोचना के तीन तत्त्व हैं। पहला व्यक्तित्व, द्वितीय विषय, तृतीय शैली। इन तीनों में से भी मूल तत्त्व है व्यक्तित्व। विषय वस्तुगत तत्त्व है। एक ही विषय पर एकाधिक व्यक्ति काम करते हैं मगर सबके काम का स्तर अलग-अलग होता है। इसका कारण व्यक्तित्व है जो विषय को अपनी योग्यता के अनुरूप ग्रहण करता है और अपनी प्रतिभा के अनुरूप शैली में व्यक्त करता है। आलोचना की श्रेष्ठता का आधार व्यक्तित्व की कुशाग्रता ही है। और

यह निर्विवाद है कि सांस्कृतिक आलोचक का व्यक्तित्व सबसे अधिक गम्भीर और कुशाग्र होता है।

आलोचक के व्यक्तित्व का आलोचना में वही महत्त्व है जो साहित्यकार के व्यक्तित्व का साहित्य के लिए है। जीवनचरितात्मक आलोचना में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि साहित्यकार का जीवन और उसका वातावरण उसके व्यक्तित्व को निर्मित करता हुआ उसकी रचनाओं को पूरी तरह प्रभावित करता है। आलोचक के व्यक्तित्व को भी इसी प्रकार समझने की आवश्यकता है।

व्यक्तित्व को समझने के लिए जिस प्रकार घटनाएँ उपयोगी हैं उसी प्रकार रचनाएँ भी। रचनाओं के द्वारा भी रचनाकार का व्यक्तित्व समझा जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तित्व और रचनाओं का सम्बन्ध दोतरफ़ा सम्बन्ध है।

विषय वस्तुगत तत्त्व है। लेकिन जब आलोचना के प्रसंग में उसकी चर्चा होती है तो वह पूर्ण रूप से वस्तुगत नहीं रह जाता। क्योंकि आलोचना में जब विषय आता है तो वह पूर्ण रूप से वस्तुगत नहीं रह जाता। आलोचक अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही विषय की गहराई तक पहुँच जाता है। व्यक्तित्व की शक्ति और पांडित्य विषय को जिस रूप में व्यक्त करते हैं, वही श्रेष्ठ आलोचना का विषय होता है। इस प्रकार आलोचक विषय की नहीं, विषय-बोध की अभिव्यक्ति करता है।

विषय-बोध के बारे में सावधान रहने की ज़रूरत है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि लेखक अपने व्यक्तित्व को विषय पर आरोपित कर दे और विषय को माध्यम बनाकर अपनी सैद्धान्तिक आस्थाओं का प्रचार करने लगे। जड़ सिद्धान्ताग्रही लेखक ऐसा ही करते हैं। इससे काव्य और आलोचना के क्षेत्र में अस्पष्टता और उलझन पैदा होती है।

दरअसल यह निष्पक्षता की समस्या है। इसका विवेचन पहले भी हो चुका है। विवेच्य काव्य के द्वारा कवि के व्यक्तित्व का आविष्कार करना, उसके साथ तादात्म्य करना और फिर उसकी दृष्टि से विषय की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करना विशिष्ट योग्यता की अपेक्षा करता है। इसमें दो बातें हैं। पहली बात यह है कि विषय को पूरी तरह समझना यानी उस अर्थ में समझना जिस अर्थ में रचनाकार ने उसका प्रयोग किया है। यह विषय का यथार्थ-बोध है। दूसरी बात है सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन। यही उसका सही मूल्यांकन है। विषय का यथार्थ-बोध और उसका सही मूल्यांकन यही आलोचक-कर्म है। कवि-कर्म के समान ही यह विशिष्ट शक्ति की अपेक्षा करता है।

जिस प्रकार कवि सर्वज्ञ नहीं होता उसी प्रकार आलोचक भी सर्वज्ञ नहीं होता। कवि जीवन-क्षेत्र के किसी एक पहलू या विशिष्ट पहलुओं को अपना

लक्ष्य बनाता है। हो सकता है कि आलोचक भी रचना या रचना-धारा के सभी पक्षों को ग्रहण न कर पाये या सभी पक्षों को जीवन के सभी पक्षों से समन्वित करके न देख सके। प्रायः ऐसा होता है। व्याख्याकार या आलोचक के व्यक्तित्व के प्रसार का क्षेत्र जितना सीमित होगा, उसके कार्य का मूल्य भी उसी के अनुरूप सीमित होगा।

आलोचना अपने उत्कृष्ट रूप में आलोचक के व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त जीवन एवं काव्य की समन्विति है। इस समन्विति की सीमाएँ जितनी व्यापक होंगी, इसका स्तर जितना सूक्ष्म होगा, इसकी स्थिति जितनी सन्तुलित होगी, उतनी ही वह प्रभावी बन सकेगी। और यह निर्भर करता है आलोचक के व्यक्तित्व पर।

विषय की महानता से आलोचना भी महान बन जाय ऐसा नहीं हुआ करता। विषय की महानता को सहज-स्पष्ट संवेदन नहीं है। इसकी तो अनुभूति करनी होती है। इस अनुभूति के लिए उसका आविष्कार करना पड़ता है और इस आविष्कार के लिए अपेक्षित क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार आलोचना का महत्त्व आलोचक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर करता है।

शैली क्या है ? व्यक्तित्व का शैली से क्या सम्बन्ध है ?

भाषा एक सामाजिक वस्तु है जो परम्परा से चली आती है और विकासशील होती है। अपने-आप में वह वस्तुगत होती है, जड़ होती है। कोश, व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान आदि में उसका यही रूप प्रधान रहता है। मगर साहित्य और आलोचना में ऐसा नहीं है।

शैली वास्तव में जड़-भाषा का वह जीवन्त रूप है जो रचनाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता है। रचनाकार से यहाँ तात्पर्य कवि और आलोचक दोनों से है। आलोचक का व्यक्तित्व अपनी आकांक्षा एवं योग्यता के अनुरूप ही शब्दों की स्वीकृति करता है। वाक्य-योजना को प्रस्तुत करता है। और यही कारण है कि शैली व्यक्तित्व को समोये रहती है।

शैली केवल शब्दों, वाक्यों आदि का समूह नहीं है। वह अर्थयुक्त भाषा है। इसलिए शैली में अर्थ का समावेश अपने-आप हो जाता है। वह विषय से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। सच तो यह है कि आलोचक विषय और भाषा को साथ-साथ ग्रहण करता है। विषय से विच्छिन्न होकर भाषा रह नहीं सकती। भाषा से विमुक्त विचार की सत्ता नहीं। इसलिए इस मूल एकता को विस्मृत नहीं होने देना चाहिए। प्रायः होता यह है कि लेखक इस मूल एकता और उसके तात्पर्य को समझे बिना ही लिखने बैठ जाते हैं और तरह-तरह के वक्तव्य देने लगते हैं। और जो लोग मूल बात को नहीं समझते वे भी उसी राह पर चल देते हैं। इससे बेकार की उलझनें पैदा होती हैं।

काव्य और आलोचना ही एक ऐसा विषय हैं जो शब्द और अर्थ की मूल एकता की सजग स्वीकृति पर आधारित हैं। यह स्वीकृति सैद्धान्तिक धरातल पर आविष्कृत निष्क्रिय स्वीकृति नहीं है। यह स्वीकृति रचना के मूल में क्रियाशील रहती है। यह क्रियाशीलता आलोचना और काव्य की साधना का सहज-अनिवार्य अंग है और शिल्प की समन्विति में इसकी अभिव्यक्ति होती है।

शैली का अर्थयुक्त भाषा वाला रूप सहज भी है और सजग भी। यह सहजता यथार्थ का धर्म है और सजगता शिल्प का। एक तत्त्व का आधार मनोवैज्ञानिक सत्य है जो संस्कृति का अंग है और द्वितीय तत्त्व साधना का व्याप्त धर्म है जो शिल्प का मूल है। यह सजगता आलोचना और काव्य दोनों के शिल्प के रूप में व्यक्त होती है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक सहज सत्य है। और इस सहज सत्य के आधार पर सजग साधना कार्य करती है। सजगता के स्वरूप एवं दिशा के अनुरूप शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सहजता में परिवर्तन आता रहता है। अगर सजगता सिर्फ़ शब्द को ही प्रधान रूप से पकड़ने की कोशिश करती है तो उसका प्रभाव अनिवार्य रूप से शिल्प पर पड़ता है और एकांगिता की सीमा अपने सभी दोषों के साथ उसे आक्रान्त कर लेती है। सामान्य कोटि के कथ्य के लिए असामान्य शब्द-योजना एक ऐसी कृत्रिमता है जो इसी भ्रान्त सजगता का परिणाम है। इसलिए यदि कहीं शब्द-जाल में बात उलझी हुई प्रतीत होती हो तो उसे साधना, अगर उसे साधन कहा जाय तो, के इसी दोष का व्यंजक मानना चाहिए।

सजगता को यदि सही दिशा और सही आधार न मिले तो वह अपना कार्य तो करती है, मगर उसकी स्थिति उस उत्साह-जैसी है जो चोरों और डाकुओं में दिखायी देता है। यह सजगता सहज सम्बन्धों को भी असहज बना-कर पेश कर दिया करती है। यह बात अपने-आप में तो बुरी है ही, मगर इससे अन्य अनेक दोष भी पैदा होते हैं। और इससे जो सबसे बड़ा भ्रम हो सकता है और होता है वह यह है कि व्यक्ति मूल सम्बन्धों की सहजता को समझने में भी असमर्थ हो जाता है।

शब्द-प्रिय सजगता के कारण ही यह प्रवृत्ति पैदा हुई कि शब्द और अर्थ को अलग-अलग करके देखा जाय और फिर शब्द-प्रधान और अर्थ-प्रधान रचनाओं की चर्चा की जाय। शास्त्र के विषय में तो यह बात सही है, मगर काव्य के भीतर इस प्रकार का भेद नहीं चल सकता। क्योंकि यहाँ तो साधना का एक ख़ास स्वरूप है जो शब्द और अर्थ के सहज-अभिन्न सम्बन्ध को मूल सत्य मानकर चलता है। वे रचनाएँ जिनमें शब्द की प्रधानता थी वास्तव में दूषित साधना का फल थीं। उस मूल बात को न समझने के कारण काव्य-

शास्त्र की दृष्टि बाहर के आवरणों में अटककर रह गयी। भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अन्तर तथा अलंकार्य और अंकार की पृथकता की स्वीकृति के रूप में जो भ्रामक सिद्धान्त रखे गये उनका कारण वास्तव में यही नासमझी थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोचना का जो तत्त्व-गत विवेचन किया गया है वह व्यावहारिक ही है, यथार्थ नहीं। आलोचना और रचना दोनों ही सृष्टि के रूप में अखण्ड हैं और इस अखण्डता का आधार है आलोचक या रचनाकार का व्यक्तित्व और साधना। इसके अतिरिक्त अन्य तत्त्व अपने-आप में भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इसलिए तत्त्व-गत विवेचन करते हुए भी इस मूलभूत एकता और अखण्डता को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

शैली, भाव और विचार की दृष्टि से भी आलोचना का तात्त्विक वर्गीकरण किया जा सकता है। इसकी चर्चा पहले की गयी है। भाव और विचार ये दोनों तत्त्व व्यक्तित्व और विषय से सम्बद्ध हैं। व्यक्तित्व भी भाव और विचार से विशिष्ट होता है और विषय भी। आलोचना में उन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया दिखायी देती है। विषय तथा व्यक्तित्व दोनों में ही भाव और विचार को बिलकुल अलग-अलग करना सम्भव नहीं है। हाँ, आलोचना के अन्तर्गत आये हुए इन तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है।

मूल बात तो यह है कि आलोचना का स्वरूप आलोचक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। जिस प्रकार कवि या अन्य कलाकारों के व्यक्तित्व में व्यक्तिगत एक सामाजिक अंश का संयोग होता है, वैसे ही आलोचक के व्यक्तित्व में भी ये दोनों अंश ही संपृक्त रूप से रहते हैं। व्याख्याकार एवं काव्यशास्त्री का सांस्कृतिक पक्ष प्रायः दुर्बल एवं सीमित हुआ करता है। मगर सांस्कृतिक आलोचक का सामाजिक पक्ष कलाकार के समान ही प्रबुद्ध होता है।

हिन्दी में बहुत समय तक काव्यशास्त्र का राज्य रहा है। मगर आधुनिक युग में वह काव्यशास्त्र अपर्याप्त प्राप्त हुआ। इसलिए काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की नयी व्याख्याओं का प्रयास किया गया है। इसका सबसे अधिक गम्भीर और प्रभावशाली रूप आचार्य शुक्ल में दिखायी देता है। न सिर्फ़ भारतीय काव्य-शास्त्र का, वरन् पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी उपयोग किया गया। यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी और आज की हिन्दी आलोचना में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों की चर्चा होती है।

बौद्ध-धर्म की क्रान्ति के बाद जो भारतीय चिन्तन एवं साधना की प्रगति हुई उसमें सर्वथा नवीन एवं मौलिक बात कहने के लिए भी परम्परा के क्रम को तोड़ना आवश्यक नहीं समझा गया। नयी-से-नयी बात कही जाती रही मगर आधार पुराने ही रहे। स्रोत, श्रुति एवं स्मृति आदि का साहित्य रहा। यह एक स्वस्थ परम्परा थी। इसका सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि विश्व की

प्राचीनतम संस्कृतियों में होते हुए भी भारतीय संस्कृति की धारा वैदिक युग से आज तक अटूट रही है। यह जीवन, शक्ति एवं गम्भीर चिन्तन का प्रमाण है।

भारतीय जीवन एवं साधना के क्षेत्र में कभी क्रान्ति नहीं हुई। एक बौद्ध-धर्म का उदय ही अपवाद है। मगर सारे भारत पर छा जाने के बाद भी जिस पूर्णता से उसका लोप हुआ वह भारतीय साधना-पद्धति की शक्ति का बहुत बड़ा प्रमाण है। उसके बाद से आज तक जितना भी परिवर्तन हुआ वह सहज क्रमिक विकास के रूप में ही हुआ। आधुनिक युग में इस सत्य को केवल एक व्यक्ति ने समझा। और वह व्यक्ति थे जवाहरलाल नेहरू। भारतीय साधना का विकास मानव मात्र की प्रगति के लिए जो सत्य सन्देश लिये हुए था उसको नेहरूजी ने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और निष्पक्षता की नीति के रूप में विश्व को दिया। खूनी पाशविक शक्तियाँ इसका विरोध कर रही हैं। इससे इन सिद्धान्तों की शक्ति के विषय में कुछ सन्देह का होना स्वाभाविक है। मगर इस सन्देह को दूर होने में अधिक समय नहीं लगेगा।

इधर कुछ ऐसी आवाज़ें सुनायी देने लगी हैं जो परम्परा के महत्त्व से बिलकुल इन्कारी हैं। उनकी अपनी सीमाएँ हैं। इनमें से दो प्रमुख हैं। एक तो यह कि उनका भारतीय परम्परा का, संस्कृति एवं साधना का ज्ञान सीमित एवं भ्रमपूर्ण है और दूसरा यह कि कुछ लोग इसी कारण से पाश्चात्य नये विचारों के बहाव को सहन करने में असमर्थ होकर उनमें बहने लगे। जो ख़ुद पढ़ते हैं और सोचते भी हैं वे ही आज की इस भीषण संक्रान्ति की बाढ़ में अपने क़दमों पर खड़े होकर चल सकते हैं। इसके लिये सही सांस्कृतिक चेतना अनिवार्य तत्त्व है। और इसीलिए आज का युग जीवन एवं साधना के सभी रूपों के क्षेत्र में सांस्कृतिक आलोचना का युग है।

काव्य एवं अन्य कलाएँ वास्तव में सांस्कृतिक साधना के विशिष्ट रूप हैं। उनके विशिष्ट रूपों की सत्ता बहुत ही स्पष्ट एवं निर्विवाद है। उनका महत्त्व है और उनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। आवश्यकता तो इस बात की है कि उन रूपों की सभी बारीकियों एवं गुणों का उद्घाटन किया जाय। रूपगत सभी तत्त्वों की सही मीमांसा की जाय। शब्द, लय, गति, यति, छन्द, अलंकार, शिल्प आदि सभी का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए जिससे कला के रूप के वैशिष्ट्य की परिभाषा की जा सके। मगर इस प्रयास में यह नहीं भूलना चाहिए कि यह विशिष्ट रूप सांस्कृतिक साधना का ही एक प्रतीक है—विषय की दृष्टि से भी और भाषा की दृष्टि से भी। क्योंकि विषय और भाषा दोनों की अभिन्नता के बुनियादी और वास्तविक क्षेत्र में भी काव्य-साधना संचरण करती है।

उपसंहार

यद्यपि में हिन्दी आलोचना का काफ़ी विकास हुआ है, फिर भी आलोचना के स्वरूप आदि के विवेचन की उपेक्षा ही होती रही है। यह सवाल तो बहुतों ने उठाया है कि 'कविता क्या है' ? मगर यह प्रश्न किसी ने नहीं उठाया कि 'आलोचना क्या है' ?

आलोचना एक व्यापक विधा है जिसके अन्तर्गत सामान्य एवं साधारण और विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण दोनों प्रकार के रूप दिखायी देते हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इसके तीन रूप हैं—व्याख्या, काव्यशास्त्र और आलोचना। इन तीनों में व्याख्या का स्तर सबसे नीचा है और आलोचना का सबसे ऊँचा। काव्यशास्त्र मध्यवर्ती है।

आलोचना के भी दो रूप हैं—एक, रचनात्मक आलोचना, दूसरा, सांस्कृतिक आलोचना। इन दोनों में सांस्कृतिक आलोचना ही श्रेष्ठ है। इसका महत्त्व काव्य के समान ही है।

आलोचना के कई प्रकार माने जाते हैं। प्रत्येक प्रकार की आलोचना की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं। मगर अभी तक आलोचना के प्रकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त आलोचना के प्रत्येक रूप की विस्तृत समीक्षा का उपक्रम भी नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रयास में यह कार्य करने की कोशिश की गयी है।

आलोचना के लिए भी उसी प्रकार शक्ति, कौशल और अभ्यास की अपेक्षा है जैसी काव्य के लिए। कुशाग्रता एवं शक्ति के अभाव में आलोचना श्रेष्ठ रूप प्राप्त ही नहीं कर सकती। इसलिए आलोचना के लिए इन तत्त्वों का होना अनिवार्य है।

आलोचना के लक्ष्यों के बारे में भी पहली बार ही समग्र दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया गया है। व्याख्या, सिद्धान्त, निर्माण, रचना-प्रक्रिया एवं शिल्प के उद्घाटन के अतिरिक्त आलोचना का प्रयोजन अपने श्रेष्ठ रूप में सांस्कृतिक ही है।

आलोचना के तत्त्वों पर भी इससे पहले वैज्ञानिक रूप से विचार नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रयास में व्यक्तित्व, विषय और शैली आलोचना के ये तीन तत्त्व माने गये हैं।

आलोचना के प्रत्येक स्वरूप का विवेचन करते हुए सम्बद्ध मूलभूत प्रश्नों के स्पष्टीकरण का भी प्रयास किया गया है ।

आलोचना के सभी प्रकारों पर विचार करने के उपरान्त यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि जीवन एवं साधना के सभी स्तरों पर सांस्कृतिक आलोचना की अनिवार्य स्वीकृति एक ऐसा सत्य है जिसकी उपेक्षा से विकास की समरसता खण्डित होगी ।

तारकनाथ बाली का जन्म १७ नवम्बर, १६२३ को रावलपिण्डी में हुआ। मातृभाषा पंजाबी है। पाकिस्तान बनने पर आगरा में आकर बसे। आगरा कालिज से बी०एससी० पास करने के बाद साहित्य में विशेष रुचि उत्पन्न हुई। सन् ५४ में हिंदी में एम०ए० किया और सन् ५६ में दर्शन में। दोनों में प्रथम श्रेणी प्राप्त की तथा विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहे। सन् ५५ में आगरा कालिज के हिंदी विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए। सन् ५७ में एम०ए० (प्रथम वर्ष) संस्कृत में पास किया। फिर उसी वर्ष दिसम्बर में किरोड़ी मल कालिज, दिल्ली में नियुक्ति हुई। सन् ६२ में दिल्ली विश्वविद्यालय से पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त की। शोध का विषय था 'रस-सिद्धांत की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या।'

आलोचना साधना का प्रधान विषय रहा है। 'युग द्रष्टा कबीर', 'महादेवी वर्मा', 'सांस्कृतिक परम्परा तथा साहित्य', तथा 'रस सिद्धांत की दार्शनिक तथा नैतिक व्याख्या' अब तक के प्रमुख प्रकाशित आलोचना-ग्रंथ हैं। 'रस-सिद्धांत की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' से रस-विवेचन को एक नई दिशा मिली है।